पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला · १२ ·

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

लेखक
डॉ० कमलेशकुमार जैन
जैनदर्शन व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



सव्वं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी–२२१००५

प्रकाशन वर्ष
सन् १९८४
वीर निर्वाण संवत् २५१०

संस्करण प्रथम

प्राप्ति-स्थान
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, बी० एच० यू०
वाराणसी–२२१००५, फोन ६६७६२

मूल्य
रुपये पचास

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी

प्रकाशकीय

डॉ० कमलेशकुमार जैन के शोधनिबन्ध "जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान" को पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। डॉ० जैन संस्थान के शोधछात्र रहे हैं, उन्हें रतनचन्द मेमोरियल स्कालरशिप प्रदान की गयी थी। संस्थान में रह कर ही उन्होंने इस शोध-निबन्ध का प्रणयन किया, जिस पर उन्हें सन् १९७८ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी।

जैन आचार्यों ने न केवल धार्मिक और उपदेशात्मक साहित्य का सृजन किया अपितु उन्होंने साहित्य की उन विविध विधाओं और ज्ञान की उन विविध शाखाओं पर भी अपनी कलम चलायी, जिनका सीधे रूप से धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। अलंकारशास्त्र जैसे गम्भीर विषय पर भी आगमकाल से लेकर परवर्ती युग तक जैनाचार्यों द्वारा काफी कुछ लिखा गया है। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में डॉ० कमलेशकुमार जैन ने जैन साहित्य का मन्थन करके यह बताने का प्रयास किया है कि अलंकारशास्त्र के प्रणयन में जैनाचार्यों का क्या योगदान रहा है। ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी बन पड़ा है, यह निर्णय तो हम विद्वान पाठकों के लिए सुरक्षित रखते हैं, किन्तु इसके प्रणयन एवं प्रकाशन-कार्यों में डॉ० कमलेशकुमार जैन ने जो परिश्रम किया, उसके लिए हम उनके आभारी हैं तथा उनकी कृति की प्रकाशन-वेला में हम उन्हें बधाई देते हैं। हम संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन, शोध सहायक डॉ० रविशंकर मिश्र और डॉ० अरुण प्रताप सिंह के भी आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया। साथ ही हम वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के भी आभारी हैं, जिन्होंने इस मुद्रणकार्य को सम्पन्न किया है।

भूपेन्द्र नाथ जैन

मन्त्री

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, संचालक समिति

भूमिका

भारत की प्राचीनतम ज्ञानधारा संस्कृताश्रित रही है। वैदिक, पौराणिक तथा लौकिक स्रोतों से प्रवाहित होने वाली यह धारा सभी विषयों एवं भावों के प्रतिपादन से नितान्त पुष्ट है। इस धारा से थोड़ा हटकर और प्राय इसके समान्तराल दो धारायें और उपलब्ध होती हैं, जिनमें एक जिन धर्मानुसारिणी और दूसरी बुद्धधर्मानुसारिणी है। यद्यपि प्रधानत जैनधारा का वाहन प्राकृत और बौद्धधारा का पालि रहा है, फिर भी दोनो धाराओ को सस्कृत के व्यापकतर प्रभाव को मानना ही पड़ा और फलत दोनो धाराओ के विद्वानो के द्वारा सस्कृत में एक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ।

सप्रदाय विशेष की मान्यताओ से नियन्त्रित होने पर भी जैन तथा बौद्ध विद्वानो ने लौकिक विषयों पर अपने विचारों के प्रतिपादन में असख्य सस्कृत-ग्रन्थो की रचना की। धर्म-दर्शन तथा आचार-नियम के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य, कोष आदि सामान्य विषयो पर अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके रचयिता जैन या बौद्ध थे। इन ग्रन्थों में विचार की सूक्ष्मता के साथ-साथ स्थान-स्थान पर मौलिक दृष्टिभेद भी दृष्टिगोचर होता है, जिसका सम्यक् अनुशीलन ज्ञानमार्ग में परम उपादेय है। वस्तुत इनके अनुशीलन और तात्त्विक विवेचन के द्वारा ही प्राचीन भारतीय मनीषा की सार्वभौम और सर्वविषय-ग्राहिणी व्यापकता तथा गम्भीरता स्पष्ट होती है।

सृजनात्मक प्रतिभा के साथ ही समीक्षात्मक प्रतिभा के क्षेत्र में भारत वर्ष विश्व में अद्वितीय स्थान रखता है। पाश्चात्य विद्वान् बारबार ग्रीक-मनीषा की दुहाई देते हैं और उनका चिरकालिक आग्रह यही रहा है कि ग्रीक-प्रतिभा को सर्वोत्तम सिद्ध करें, लेकिन वस्तु स्थिति के विचार से उनका यह आग्रह दुराग्रह ही सिद्ध होता है। सर्जन और मनन—दोनो क्षेत्रो में ग्रीक-मनीषा की असाधारण देन की मुक्तकण्ठ प्रशसा करते हुए भी हम निर्बाध कह सकते हैं कि मौलिकता और निरन्तर गतिशीलता की दृष्टि से भारतीय मनीषा अवश्य ही श्रेष्ठतर रही है। दर्शन, विज्ञान और साहित्य—इन तीन मौलिक विचार भूमियो में भारत ने जो बीज बोये हैं, वे अद्यावधि फलप्रसू हैं—कभी भी राजनैतिक उत्थान पतन, बाह्य-आक्रमण और विपरीतधर्मी जीवनविधि के प्रहार और प्रभाव के कारण शुष्क और व्यर्थ नहीं हुए हैं। मनन-बीजो की यह विलक्षण विशेषता केवल भारत में ही देखी जा सकती है, जहाँ उसकी आधारशिला सस्कृतवाङ्मय अपनी बहुमुखी विचित्रता लिए आज भी ज्ञान का प्रमुख मूलस्रोत बना हुआ है।

धर्म-दर्शन और विज्ञान से दूर, मानव जीवन को भावनात्मक स्वरूप में देखने वाला साहित्य एक अलग महत्त्व रखता है। हमारे कवि एवं नाट्यकार

वास्तविकता की पृष्ठभूमि पर जीवन का भावनात्मक मूल्याङ्कन प्रस्तुत करते आये हैं। स्वभावत उसमें धर्म, दर्शन, विज्ञान—सभी का समावेश हुआ है। अत साहित्य ही जीवन को अपनी पूर्णता में प्रस्तुत करने के श्रेय का अधिकारी है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर अन्तहीन कवियों की परम्परा भारत के जीवनबोध को उजागर करती आ रही है। वस्तुत आधुनिक भारतीय भाषा का साहित्य भी जीवनबोध की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

सर्जनात्मक इस समृद्धि के समान्तराल साहित्य विवेचन की प्रक्रियाभी सुप्राचीन काल में ही प्रारम्भ हुई। साहित्य के तात्त्विक स्वरूप और उत्कर्षाधायक गुणों का गहराई से निरूपण और विवेचन भारतीय साहित्यशास्त्र का अपना वैशिष्ट्य है। काव्य की आत्मा और उसके शरीरभूत शब्द और अर्थ के समग्र प्रपञ्च को विचारसूक्ष्मता के जिस धरातल पर आचार्यों ने प्रतिष्ठापित किया, वह अपने आप में एक महनीय उपलब्धि है, जो उनकी प्रतिभा के प्रति नतमस्तक होने को बाध्य करती है।

साहित्य का आधार मानवजीवन है, अत उसमें सम्प्रदाय भेद नही हो सकता। यही कारण है कि वैदिक, जैन और बौद्ध—तीनों भिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के आचार्यों के साहित्य-विचार मे सैद्धान्तिक एकरूपता अनायास दृष्टिगत होती है। अलग-अलग मकानो के छत पर खडे मनुष्य जिस प्रकार क्षितिज से उदित होने वाले नवीन सूर्य को देखते हैं, उसी प्रकार इन आचार्यों ने साहित्य को देखा है। इस दर्शन में दृष्टिबिन्दु तो अनेक हैं, पर दर्शनीय एक ही है। बहुमुखी विचारों से परीक्षित संस्कृत के साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्त इसीलिए अद्वितीय हैं, अनुपम हैं।

डॉ० कमलेशकुमार जैन मेरे विद्यार्थी हैं। "जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान" शीर्षक ग्रन्थ में डॉ० जैन द्वारा किया गया साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जैन मनीषियों के विचारो का पूर्णाङ्ग आकलन उनके प्रशंसनीय सारस्वत श्रम और निष्ठा का सुफल है और इस दिशा में प्रारम्भिक ग्रन्थ होने के गौरव का अधिकारी है। डॉ० जैन की तत्त्वानुसन्धित्सा उत्तमकोटि की है और उसी का सार्थक प्रयोग करते हुए उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण विषय का गम्भीर विवेचन किया है। उपस्थापन, विवेचन और प्रतिपादन—तीनो दृष्टियो से प्रस्तुत ग्रन्थ सहृदय विद्वानो को अवश्य सन्तुष्ट करेगा, इसी विश्वास से डॉ० जैन को इस कृति के लिए धन्यवाद देता हुआ इस ग्रन्थ की ओर विद्वानों के दृष्टिपात की कामना करता हूँ।

—विश्वनाथ भट्टाचार्य
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

रामनवमी वि० सं० २०४१

प्राक्कथन

सस्कृत साहित्य में लाक्षणिक साहित्य का विशेष महत्त्व है, क्योकि उसके अध्ययन के बिना लक्ष्य-ग्रन्थो का ज्ञान अपूरा रहता है। अत लक्ष्य-ग्रन्थो से पूव लक्षण-ग्रन्थो का अध्ययन करना आवश्यक है। अलकारशास्त्र लाक्षणिक साहित्य का एक प्रमुख अग है। अद्यावधि जिन अलकारशास्त्रो का शोध-दृष्टि से अध्ययन किया गया है, उनमें जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रो की गणना नगण्य रही है, अत उनकी शोध-खोज आवश्यक है, क्योकि जैनाचार्यों द्वारा रचित अलकार विषयक कुछ ग्रन्थरत्न ऐसे हैं, जिनमें उन्होने अपनी कुछ विशिष्ट मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "जैनाचार्यों का अलकारशास्त्र में योगदान" इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है। इससे सुधी-जनो को जैन-आलकारिको की अलकारशास्त्र विषयक मान्यताओ पर विचार करने का अवसर मिलेगा।

जैनाचार्यों ने जहाँ अलकारशास्त्र विषयक मौलिक ग्रन्थो की रचना की है, वही दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि प्रसिद्ध आलंकारिको के ग्रन्थो पर टीकाएँ भी लिखी हैं तथा भरत, भामह, अभिनवगुप्त आदि महारथियो के मतो का यथेष्ट उल्लेख करते हुए खण्डन-मण्डन भी किया है, जो उनके गहन अध्ययन और पाण्डित्य का परिचायक है। आचाय हेमचन्द्र का काव्यानुशासन तो विभिन्न अलकारशास्त्रियों के विचारों का आकर-ग्रन्थ ही है। इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदपण नाट्य-तत्त्वो का प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को आठ अध्यायो में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय 'जैन आलकारिक और अलकारशास्त्र' में जैन-आलकारिको का ऐतिहासिक क्रम से परिचय है, जिसमें उनके माता पिता, गुरु, कुल गोत्र और समय आदि पर सक्षेप मे प्रकाश डाला गया है। साथ ही उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थो का उल्लेख करते हुए उनके अलकारशास्त्र विषयक ग्रन्थो की विशेषताएँ तथा उनका सामान्य परिचय दिया गया है। इसमे वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, रामचन्द्र गुणचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी, अजितसेन, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि के नाम विशेष रूप से ज्ञातव्य है। इसके अतिरिक्त उन अलकार-ग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है, जो अब तक अनुपलब्ध है अथवा यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थ-भडारो मे बिखरे पडे है। टीका-ग्रन्थो का बाहुल्य है, अत उनका भी सामान्य परिचय दे दिया गया है।

द्वितीय अध्याय 'कवि और काव्य' में सर्वप्रथम कवि के स्वरूप पर विचार किया गया है, फिर कवि के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुये विभिन्न आधारों पर काव्य के भेद किये गये हैं। काव्य-भेदों के अन्तर्गत महाकाव्य के स्वरूप के विवेचन के साथ-साथ उसके वर्णनीय विषयों का विस्तृत रूप से उल्लेख है। इसी प्रसंग में काव्य के अन्य भेद—आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध (मुक्तक) पर विशेष रूप से विचार किया है। अन्त में ध्वनि के आधार पर मान्य काव्य-भेदों पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय 'रस-विचार' में जैनाचार्यों की रस विषयक मान्यताओं पर विचार किया गया है। इसमें सर्वप्रथम रस का महत्त्व और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस विषयक इस मान्यता की कि 'रस सुख-दुःखात्मक है' की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इसी क्रम में रसो के सभी भेदो पर पृथक्-पृथक् विचार किया है तथा अनुयोगद्वारसूत्रकार द्वारा भयानक रस के स्थान पर मान्य व्रीडनक-रस का विवेचन किया है। तत्पश्चात रसों के वर्ण और देवता, रसो का परस्पर सम्बन्ध, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव और स्थायिभावों आदि पर विचार किया है।

चतुर्थ अध्याय 'दोष-गुण विवेचन' में सर्वप्रथम दोष का स्वरूप और अनुयोग-द्वारसूत्रकार द्वारा उल्लिखित बत्तीस दोषो को सलक्षण प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, उभयदोष, अर्थदोष और रसदोषो पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। इसी क्रम में दोष-परिहार का भी उल्लेख है। पुनः काव्य में उपादेय गुण सम्बन्धी सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए गुण का महत्त्व, गुण का सामान्य स्वरूप और भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा मान्य गुण-भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय 'अलंकार-विवेचन' में सर्वप्रथम अलंकार के सामान्य स्वरूप और उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् शब्द और अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर अलंकार के शब्दालंकार आदि भेदों पर विचार किया है। इसी क्रम में जैनाचार्यों द्वारा मान्य अलंकारों की आचार्य मम्मटादि के साथ तुलना की गई है। अन्त में प्रकृति के आधार पर मान्य अर्थालंकारो के वर्गीकरण का विवेचन है।

षष्ठ अध्याय 'ध्वनि-विचार' में ध्वनि का स्रोत, ध्वनि का स्वरूप तथा वाच्यार्थ से पृथक् प्रतीयमान व्यंग्यार्थ का विविध उदाहरणो द्वारा उल्लेख किया है। तत्पश्चात् ध्वनि-भेदो पर प्रकाश डाला है। आचार्य मम्मटादि के अनुसार

पृथक्-पृथक् ध्वनि-भेदों के स्पष्टीकरण हेतु अन्त में ध्वनि-तालिकाओं का भी समावेश किया गया है।

सप्तम अध्याय 'नाट्य का समावेश' में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार किया गया है। इसमें जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों में पाये जाने वाले नाट्य-तत्त्व ही प्रमुख हैं। नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशास्त्रीय प्रमुख ग्रन्थों का परिचय, नायक स्वरूप और उसके भेद, नायक के सात्त्विक-गुण, प्रतिनायक-स्वरूप, नायिका-स्वरूप, नायिका-भेद, नायिका के सत्त्वज अलकार, प्रतिनायिका तथा उपनायको के अन्तर्गत विदूषक, पीठमर्द, विट, नागरिक और नर्मसचिव का स्वरूप तथा काम की दस अवस्थाएँ इसके विवेच्य विषय हैं। अन्त में रीति का महत्त्व, उसका स्वरूप और भेद तथा नाट्यवृत्तियाँ, शय्या और पाक पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय शोध-प्रबन्ध का 'उपसहार' है, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा अलंकारशास्त्र के विकास और प्रतिष्ठा में किये गये योगदान की चर्चा की गई है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि जैन आलकारिको ने अलकारशास्त्र विषयक प्राचीन मान्यताओ का ही प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया है, किन्तु उनके द्वारा कुछ ऐसे मौलिक चिन्तन-सूत्र भी प्रस्तुत किये गये है, जिनका अपलाप नही किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ के पृष्ठ ५७ पर रूपचन्द्रकृत 'रूपकमजरी' तथा तीन 'रूपकमाला' नाम के ग्रन्थो का उल्लेख अलकारशास्त्र के अप्रकाशित ग्रन्थों की शृङ्खला में किया गया है, किन्तु स्व० श्री अगरचन्द नाहटा के एक लेख[1] से यह स्पष्ट होता है कि गोपाल के पुत्र रूपचन्द्र ने 'रूपमजरी नाममाला' नामक ग्रन्थ की रचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'रूपकमजरी' यह नाम किसी ने गलती से लिख दिया है, जिससे इसके अलकारशास्त्रीय ग्रन्थ होने का सन्देह हो गया। वस्तुत यह कोशग्रन्थ है, अलकारग्रन्थ नही।

इसी प्रकार उपाध्याय पुण्यनन्दनकृत 'रूपकमाला' भी अलकारशास्त्रीय ग्रन्थ नही है। यह 'रूपकमाला' राजस्थानी भाषा में निबद्ध मात्र ३२ पद्यो की एक लघुकृति है, जिसमे शीलधर्म का विवेचन किया गया है तथा इसके लेखक पुण्यनन्दन न होकर पुण्यनदि हैं।[2] पार्श्वचन्द्रसूरिकृत द्वितीय 'रूपकमाला' नामक

१ "क्या रूपकमाला नामक रचनाएँ अलकारशास्त्र सम्बन्धी हैं ?"—श्री अगरचन्द नाहटा, श्रमण (मासिक), प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी-५, जनवरी १९७८, पृष्ठ १२-१७।

२ वही, पृष्ठ १३

कृति भी राजस्थानी भाषा में निबद्ध ३० पद्यों की रचना है। यह भी अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है।[1] तृतीय 'रूपकमाला' नामक कृति के सन्दर्भ में भी स्व० नाहटा ने अलंकारशास्त्रीय कृति न होने की सम्भावना व्यक्त की है।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा सन् १९७७ में पी-एच० डी० की उपाधि हेतु स्वीकृत शोधप्रबन्ध का अविकल मुद्रित रूप है। इसके प्रस्तुतीकरण में मुझे जिन गुरुजनों अथवा विद्वानों का सहयोग मिला है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। सर्वप्रथम मैं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के तत्कालीन अध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० मोहनलाल मेहता (प्रोफेसर, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना) एवं श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य (प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०) का हृदय से आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन एवं विद्वत्तापूर्ण दृष्टि से यह शोध-प्रबन्ध अनुप्राणित हुआ है। ग्रन्थ प्रकाशन के इस अवसर पर श्रद्धेय प्रो० भट्टाचार्य ने भूमिका लिखकर भी हमें कृतार्थ किया है। आदरणीय भाई सा० डॉ० कोमल-चन्द्र जैन (प्राध्यापक, पालि एवं बौद्ध-अध्ययन विभाग, का० हि० वि० वि०) का भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने हेतु प्रोत्साहित किया है।

मैं संस्कृत विभाग के उन समस्त गुरुजनों का भी ऋणी हूँ, जिनसे यथा-समय शोध विषयक कठिनाइयों के समाधान में सहयोग मिला है। उनमें गुरुवर प्रो० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, डॉ० रामायणप्रसाद द्विवेदी, डॉ० जयशंकरलाल त्रिपाठी एवं डॉ० कमलाप्रसाद सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रद्धेय डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी (प्रोफेसर, साहित्य विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, का० हि० वि० वि०) और पं० मनुदेव भट्टाचार्य (व्याकरण प्राध्यापक, सम्पूर्णानन्द सं० वि० वि०) ने भी मुझे शोध कार्य में सहायता प्रदान की है, अतएव उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

इस प्रसंग में प्रातःस्मरणीय १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनका शुभाशीर्वाद इस कार्य को पूर्ण करने में सतत प्रेरणा-स्रोत रहा है। साथ ही सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री (अधि-ष्ठाता, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी), सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री (निदेशक, श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी), न्यायमनीषी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री (कटनी), प्रो० दलसुखभाई मालवणिया

---

१ वही, पृष्ठ १४

२ वही, पृष्ठ १४

(अहमदाबाद), प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला (काशी विद्यापीठ), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व जैनदर्शन विभागाध्यक्ष प० अमृतलाल शास्त्री (जैनदर्शन-प्राध्यापक, जैन विश्व भारती, लाडनूं), प० उदयचन्द्र जैन पूर्वरीडर एवं दर्शन विभागाध्यक्ष, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, का० हि० वि० वि०), डॉ० राजाराम जैन (रीडर एव अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग, एच० डी० जैन कालेज, आरा) एव स्व० अगरचन्द नाहटा (बीकानेर) प्रभृति विद्वानों का भी हृदय से आभारी हूँ, जिनके स्नेह एवं शुभाशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका। इस कार्य को पूर्ण करने में जिन मित्रो का सहयोग मिला है, उनमें डॉ० जयकुमार जैन (संस्कृत-प्रवक्ता, एस० डी० पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मुजफ्फरनगर) डॉ० कु० मञ्जुला मेहता (पूना) एव श्री अनुभवदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा शोधवृत्ति, आधुनिक सुविधा सम्पन्न छात्रावास एवं पुस्तकालय सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, इसके लिये विद्याश्रम के सचालकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। केन्द्रीय एव विभागीय पुस्तकालय का० हि० वि० वि०, श्री गणेश वर्णी दि० जैन शोध संस्थान पुस्तकालय एव श्री विश्वनाथ पुस्तकालय (गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी) के अधिकारियों का भी आभारी हूँ, जिनकी कृपा से अनेक ग्रन्थो के अवलोकन तथा उपयोग करने की सुविधा मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण श्रेय पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी के वतमान निदेशक आदरणीय डॉ० सागरमल जैन को है, अत उनका हृदय से आभारी हूँ। प्रारम्भिक १६० पृष्ठो का प्रूफ संशोधन डॉ० रविशंकर मिश्र ने किया है और शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे श्री अरुणकुमार जैन (शोध छात्र, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०) का सहयोग मिला है, अत उक्त बन्धुद्वय धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ-मुद्रण का कार्य वर्द्धमान मुद्रणालय ने सम्पन्न किया है, अत उनके प्रति भी मै अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

बी २/२४९ निर्वाण भवन
लेन न० १४, रवीन्द्रपुरी
वाराणसी—२२१००५
श्रुतपञ्चमी वि० स० २०४१

कमलेशकुमार जैन
व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

विषय-सूची



१ | जैन-आलंकारिक और अलंकारशास्त्र

संस्कृत अलंकारशास्त्र के क्षेत्र मे जैनधर्म के अनुयायी संस्कृतज्ञों की सेवा एक विशेष महत्त्व रखती है । सम्प्रदायगत भेद के होते हुए भी जैन-आचार्यों ने दर्शनादि दूसरे विषयो के अनुरूप अलकारशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन मे पूर्णरूपेण साधिकार योगदान किया है और उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । जिनके मनन के बिना सस्कृत अलकारशास्त्र की पूर्णता और व्यापकता का ज्ञान सम्भव नही है । इन आचार्यों ने प्रतिष्ठित अलकार सम्बन्धी सिद्धान्तों का मौलिक ढग से विवेचन किया है और काव्य के सभी उपादानो पर विचार प्रस्तुत किए है । अत संस्कृत अलकार शास्त्र मे जैनाचार्यों की देन महत्त्वपूर्ण है ।

प्राचीनतम आचार्य भरतमुनि के नाट्य सम्प्रदाय, भामह तथा उद्भट के अलकार सम्प्रदाय दण्डी और वामन के गुण-रीति सम्प्रदाय तथा अन्तिम ध्वनिकार के ध्वनि-सम्प्रदाय-अलकार-शास्त्र के यही प्रमुख प्रस्थान अर्थात् सम्प्रदाय है । यद्यपि जैनाचार्य (आलकारिको) ने किसी नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ नही किया, फिर भी इन सभी सम्प्रदायों की मान्यताओ का पूर्णांग मूल्यांकन उनके ग्रन्थो की अद्वितीय विलक्षणता है । प्रस्तुत प्रथम अध्याय में सभी जैन-आलकारिको का कालानुक्रमिक परिचय तथा उनकी कृतियो का उल्लेख करते हुए हम अलकारशास्त्र मे उनके योगदान की विशेषताओ का आकलन प्रस्तुत करेंगे ।

काल की दृष्टि से प्रथम आचार्य आर्यरक्षित ईसा की प्रथम शताब्दी के हैं और अन्तिम आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ईसा की षोडश शती के हैं, इसके अतिरिक्त कई टीकाकार हैं, जिनकी परम्परा अष्टादश शती तक विस्तृत है । इन आचार्यों मे आर्यरक्षित विशुद्ध आलंकारिक नही हैं, फिर भी उनका समावेश इसलिए किया गया है कि इनका कृति में प्रसंगवश अलकारशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते है । प्रसंग के भिन्न होने पर भी उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्य साहित्य के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं । अत उनका विवेचन वांछनीय है । इस परम्परा में दूसरे हैं अलंकार-दप्पण के रचयिता अज्ञातनामा आचार्य । प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर भी 'अलंकार-दप्पण' का विशेष महत्त्व है,

क्योंकि इसमे अलंकार सम्बन्धी विचार संस्कृत की ही परम्परा के अनुसार किया गया है और ये विशुद्ध सभी संस्कृत जैन-आलंकारिकों के पूर्वगामी हैं।

प्रथम शती के आर्यरक्षित और एकादश शती के अलंकारदप्पणकार के अनन्तर हम वाग्भट-प्रथम से शुरु होने वाले जैन आलंकारिकों की परम्परा में प्रवेश करते हैं। यह परम्परा द्वादश शताब्दी से अविच्छिन्न चलती है।

परिचयात्मक विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व यह उल्लेखनीय है कि धर्म की दृष्टि से सम्प्रदाय-भेद के होते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार सम्प्रदाय के अधिकारी प्रवक्ता हैं और सबने अलंकार-शास्त्र के सभी प्रतिपाद्य तत्त्वों पर गम्भीर तथा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुये संस्कृत अलंकार-साहित्य को परिपुष्ट किया है।

आर्यरक्षित

आर्यरक्षित की गणना एक विशिष्ट युग प्रधान आचार्य के रूप मे की जाती है। इनका जन्म वीर-निर्वाण सम्वत् ५२२ मे, दीक्षा (२२ वर्ष की आयु मे) वीर-निर्वाण सम्वत् ५४४ (ई० सन् १७) में, युगप्रधान पद (६२ वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण सम्वत् ५८४ (ई० सन् ५७) मे तथा स्वर्गवास (७५ वर्ष की आयु में) वीर निर्वाण सम्वत् ५९७ (ई० सन् ७०) मे माना जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार आर्यरक्षित का स्वर्गवास वीर-निर्वाण सम्वत् ५८४ (ई० सन् ५७) मे हुआ था।[1]

इनके पिता का नाम सोमदेव था, जो मालवान्तर्गत् दशपुर (मन्दसोर) के राजा उदयन के पुरोहित थे तथा माता का नाम रुद्रसोमा था। आर्यरक्षित अल्पायु मे ही वेद-वेदांगों का अध्ययन करने के लिये पाटलिपुत्र चले गये थे। अध्ययन करने के पश्चात् जब वे घर लौटे तब दशपुर के राजा और नगरवासियो ने प्रसन्न होकर बड़ी धूमधाम से उन्हे नगर प्रवेश कराया। तत्पश्चात् दिन के अन्तिम प्रहर में घर पहुँचकर उन्होंने अपनी माता को प्रणाम किया। माता रुद्रसोमा जैन धर्म की उपासिका थी, अत वेद-वेदांगों के अध्ययन से वह अत्यधिक प्रसन्न नहीं हुई। कारण ज्ञात कर आर्यरक्षित दूसरे दिन प्रात काल ही जैनाचार्य तोसलीपुत्र के पास अध्ययन करने के लिए गये। वहाँ यह जानकर कि दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन-दीक्षा अनिवार्य है, अतः

---

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ० ५९० ।

उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् वे आगे अध्ययन के लिए उज्जयिनी नगरी में वज्रस्वामी के पास गये। वहाँ जब उन्होंने नौ पूर्वों का अध्ययन कर दशम पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ किया, तभी उनके माता-पिता ने पुत्र-वियोग से चिन्तित होकर अपने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित को उन्हे बुला लाने के लिए भेजा। फल्गुरक्षित ने वहाँ पहुँचकर आर्यरक्षित से दशपुर लौटने का आग्रह किया। वहाँ उन्होंने अपने लघु भ्राता फल्गुरक्षित को जैनधर्म में दीक्षित किया और वज्रस्वामी से आज्ञा लेकर दशपुर की ओर प्रस्थान किया। दशपुर पहुँचकर उन्होंने अपने माता-पिता तथा परिजनो को प्रबुद्ध कर श्रमण-धर्म की दीक्षा दी। पुन वे नव-दीक्षित मुनियों को लेकर अपने गुरु तोसली-पुत्र के पास गये। गुरु तोसली पुत्र ने सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त किया।[1]

अनुयोगद्वार-सूत्र

जैन-परम्परा मे आगम साहित्य का विशेष महत्त्व है। यह आगम साहित्य अग-प्रविष्ट और अग-बाह्य के रूप मे दो प्रकार का है। अग-बाह्य आगमों मे एक है अनुयोगद्वार सूत्र, जो प्राकृत-भाषा मे निबद्ध है। इसे चूलिका-सूत्र भी कहते हैं।

अनुयोगद्वार-सूत्र मे अनुयोग के चार द्वार—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय पर विचार किया गया है। उपक्रम के द्वितीय भेद नाम निरूपण के प्रसंग में एक-नाम, द्विनाम, त्रिनाम आदि क्रमश दस नामो तक उतनी-उतनी सख्या वाले विषयों का प्रतिपादन है। नौ नामो के अन्तर्गत् रसों का विवेचन किया गया है। रसो के नाम हैं—वीर, शृङ्गार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त।

इसी प्रकार अनुगम के अन्तर्गत् अलीक, उपघातजनक, निरर्थक, छल आदि बत्तीस दोषो का उल्लेख किया गया है।

अलंकार-दप्पणकार

अलंकार-दप्पण के लेखक का नाम अज्ञात है। तथापि इसके प्रारम्भिक

---

१ प्रभावकचरित-आर्यरक्षितचरित, पृ० ६-१८।
आर्यरक्षित का जीवन चरित्र प्रभावकचरित के पूर्व रचित ग्रन्थों-आवश्यक चूर्णि और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति आदि में भी पाया जाता है।

मंगलाचरण[1] में लेखक ने श्रुत देवता को नमस्कार किया है, अतः इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी रचना किसी जैनाचार्य ने की होगी।[2] श्री अगरचन्द जी नाहटा के एक लेख[3] से ज्ञात होता है कि जैसलमेर के बृहद् ज्ञान भण्डार की ताडपत्रीय प्रति में 'अलंकार दप्पण' के अतिरिक्त काव्यादर्श और उद्भटालंकार लघु-वृत्ति भी लिखी है, काव्यादर्श के अन्त में प्रति का लेखन-काल 'सम्वत् ११६१ भाद्रपदे' लिखा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना सम्वत् ११६१ के पूर्व की होगी। उक्त श्रीयुत नाहटा जी ने भँवरलाल नाहटा के अलंकारदप्पण के अनुवाद के प्रारम्भ में (भूमिका स्वरूप) प्रस्तुत ग्रन्थ के अलंकार सम्बन्धी विवरण को ध्यान में रखते हुए इसका निर्माण काल नवीं से ११वीं शताब्दी माना है।[4] जैनाचार्य प्रणीत संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रायः सभी अलंकारशास्त्र सम्वत् ११६१ के पश्चात् रचे गये हैं। अतः पूर्ववर्ती होने से 'अलंकारदप्पण' की महत्ता स्वयंसिद्ध है।

अलंकार-दप्पण :

प्रस्तुत कृति प्राकृत भाषा में निबद्ध एक मात्र कृति है। इसमें केवल १३४ गाथाएं हैं। जिनका सीधा सम्बन्ध अलंकारों से है। इसमें कुछ ऐसे नवीन अलंकारों का समावेश किया गया है, जो इसके पूर्व रचित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि इस ग्रन्थ में निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलंकार अन्य लक्षण ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। ये अलंकार नवीन निर्मित हैं, या किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र का अनुसरण

---

१ सुन्दरपअ विण्णासं विमलालंकाररेहिअसरीरं।
सुहदेविअं च कव्वं च पणविअ पवरवण्णड्ढं ॥ १ ॥

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ९९।

३ 'प्राकृत भाषा का एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ अलंकार दर्पण'
—गुरुदेव श्रीरत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ३९४-३९८।

४. 'प्राकृत भाषा का एक मात्र अलंकारशास्त्र अलंकारदप्पण'
—मरुधरकेशरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित, चतुर्थ खण्ड, पृ० ४२१।

हैं, निश्चित नहीं कहा जा सकता[1]। फिर भी उपमा आदि के महत्त्वपूर्ण विवेचन से प्रस्तुत ग्रन्थ की मौलिकता अक्षुण्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे मंगलाचरण करने के पश्चात् सर्वप्रथम अलंकारों की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। पुन उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासंख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, परिकर सहोक्ति, ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय (उत्तर्त, परिवृत्त, प्रश्नोत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर), बहुश्लेष, व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा, ससिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शना, उपेक्षावयव, उद्भिद्, वलित, अभेदवलित, और यमक इन ४० अलंकारो का नामोल्लेख किया है। तत्पश्चात् इन्ही अलंकारों के सभेद लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर विषय-विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार ने उपमा के १७ भेद किए हैं, जो निम्न प्रकार हैं—प्रतिवस्तूपमा, गुणकलिता, उपमा, असमा-उपमा, मालोपमा, विगुणरूपा-उपमा, सम्पूर्णा-उपमा, गूढा-उपमा, निन्दाप्रशंसोपमा, सलिलप्सा-उपमा, भिन्दोपमा, अतिशयिता-उपमा, श्रुतिमिलितोपमा, विकल्पिकोपमा (एकधा विकल्पिकोपमा और बहुधा विकल्पिकोपमा)। इसमे किसी-किसी अलकार का मात्र उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

वाग्भट-प्रथम

वाग्भटालकार के यशस्वी प्रणेता वाग्भट-प्रथम और आचार्य हेमचन्द्र ये दोनो समकालीन आचार्य होते हुए भी काल की दृष्टि से वाग्भट-प्रथम हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु वाग्भट-प्रथम की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, इसलिए कुछ विद्वानो ने आचार्य हेमचन्द्र को पूर्व मे स्थान दिया है और वाग्भट-प्रथम को पश्चात् मे[2]। काव्यानुशासन के रचयिता

---

१ अलंकारदप्पण-भूमिका।
—मरुधर केशरी मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ चतुर्थ-खण्ड, पृ० ४२६।

२ द्रष्टव्य—सस्कृत साहित्य का इतिहास—अनु० मगलदेव शास्त्री, पृ० ४६८।
" अलंकार धारणा विकास और विश्लेषण; पृ० २२४ एवं पृ० २२६।

वाग्भट को अभिनव-वाग्भट अथवा वाग्भट-द्वितीय के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने नेमिनिर्वाण-काव्य के कर्त्ता वाग्भट को वाग्भट-प्रथम कहा है[1]। किन्तु आधुनिक विद्वान् सामान्यतः वाग्भटालंकार के कर्त्ता को वाग्भट-प्रथम और काव्यानुशासन के कर्त्ता को वाग्भट-द्वितीय मानते हैं[2]।

आचार्य वाग्भट का प्राकृत नाम बाहड तथा पिता का नाम सोम था[3]। यह एक कुशल कवि और किसी (जयसिंह राजा के) राज्य के महामात्य थे[4]। प्रभावक-चरित में बाहड के स्थान पर वाहड का प्रयोग किया गया है[5]। इनको प्रभावक चरित के अन्य कई स्थलों पर भी बाहड नाम से अभिहित किया गया है। वाग्भट प्रथम धनवान् और उच्चकोटि के श्रावक थे, एक बार इन्होंने गुरुचरणों में निवेदन किया कि मुझे किसी प्रशमनीय कार्य में धन-व्यय करने की आज्ञा दीजिए। उसके उत्तर में गुरुदेव ने जिनमंदिर बनवाने में व्यय किए गए धन को सफलीभूत बतलाया था, तदनन्तर गुरु के आदेशानुसार वाग्भट ने एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था, जो हिमालय के सदृश श्वेत, उत्तुंग और बहुमूल्य मणिओं वाले कलश से सुशोभित था। उसमें विराजमान वर्धमान

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड चतुर्थ, पृ० २२।

२ वाग्भट-विवेचन-आचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ० २८२।

३ बंभण्डसुत्तिसंपुड-मुक्तिअ-मणिणोपहासमूह व्व।
सिरि बाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स॥

—वाग्भटालंकार, ४।१४८।

४ बंभण्डसुत्तिसंपुड—इत्यादि पद्य की उत्थानिका में लिखा है—इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथैकया निदर्शयति।—सिंहदेवगणि टीका—वाग्भटालंकार, ४।१४८, आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट को जयसिंह का अमात्य कहा है।

—द्वयाश्रय महाकाव्य, २०।९१-९२।

५ अथासित वाहडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणी।
गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ॥
वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभि।
श्री वीरस्य प्रतिष्ठां सा वाहडोऽकारयन्मुदा॥

—प्रभावकचरित-वादिदेवसूरिचरित ६७, ७३।

(महावीर) स्वामी की प्रतिमा अद्भुत कौशल से युक्त थी, जिसके तेज से चन्द्र-कान्त और सूर्यकान्त मणि की प्रभा फीकी पड़ गई[1] थी।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने समुच्चयालंकार के उदाहरण में निम्न तीन रत्नों का उल्लेख किया है—(१) अणहिल्लपाटनपुर नामक नगर, (२) राजा कर्णदेव के सुपुत्र-राजा जयसिंह और (३) श्रीकलश नामक हाथी[2]। इससे यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य वाग्भट-प्रथम चालुक्यवंशीय कर्णदेव के पुत्र राजा जयसिंह के समकालीन थे। राजा जयसिंह का राज्य काल वि० सं० ११५० से ११९९ (१०९३ ई० से ११४२ ई०) तक माना जाता है[3]। अतः वाग्भट-प्रथम का भी यही काल प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि प्रभावक-चरित के इस कथन से भी होती है कि वि० सं० ११७८ में मुनिचन्द्रसूरि के समाधिमरण होने के एक वर्ष पश्चात् देवसूरि के द्वारा बाहड (वाग्भट) ने मूर्ति प्रतिष्ठा कराई[4]। तात्पर्य यह कि उस समय वाग्भट विद्यमान थे। अतः वाग्भट का समय उक्त राजा जयसिंह का ही काल युक्तियुक्त मालूम होता है। अब तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार उनका एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ वाग्भटालंकार ही प्राप्त है।

वाग्भटालंकार

वाग्भटालंकार एक बहुचर्चित कृति है। इसकी संस्कृत टीकाएं जैन विद्वानो

---

१ प्रभावक चरित-वादिदेवसूरि चरित, ६७-७०।

२ अणहिल्लपाटलं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च जयतीह रत्नानि ॥—वाग्भटालंकार, ४।१३२।

३ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२८।
गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने वाग्भट का लेखन काल वि० ११२२ से ११५६ माना है। —भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १३५।

४ शतैकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमार्कतः।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः ॥
आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ॥
वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स बाहडो कारयन्मुदा ॥
—प्रभावकचरित-वादिदेवसूरिचरित, ७१-७३।

के अतिरिक्त जैनेतर विद्वानो द्वारा भी लिखी गई हैं। वाग्भटालंकार पर लिखी गई उपलब्ध एवं अनुपलब्ध कुल टीकाओ की संख्या लगभग १७ है। इतनी अधिक टीकाओ से ही इस ग्रन्थ की महत्ता सिद्ध हो जाती है कि यह कितना लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है।

वाग्भटालकार को ५ परिच्छेदो मे विभाजित किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद मे मगलाचरण के पश्चात् काव्य-स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य मे अर्थ-स्फूर्ति के पाच हेतु-मानसिक आह्लाद, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, प्रभातवेला, काव्य-रचना मे अभिनिवेश और समस्त शास्त्रों का अनुशीलन आदि का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् कवि-समय का वर्णन किया गया है, इसके अन्तर्गत् लोको और दिशाओ की संख्या निर्धारण, यमक, श्लेष और चित्रालंकार में ब और व, ड और ल आदि में अभेद, चित्रबन्ध के अनुस्वार और विसर्ग की छूट आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम काव्य-शरीर का निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि संस्कृत, प्राकृत, उस (सस्कृत) का अपभ्र श और पैशाची ये चारो भाषाएँ काव्य का अग होती हैं। काव्य के भेद, काव्य-दोष और उसके भेदो का अन्त मे विवेचन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद मे औदार्य, समता आदि दस गुणो का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है। कुछ गुणो का लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य मे दिया गया है। यद्यपि वाग्भटालकार में सर्वत्र पद्यो का प्रयोग किया गया है, किन्तु ओजगुण का उदाहरण गद्य मे प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ परिच्छेद मे सर्वप्रथम अलकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। पुन चित्रादि चार शब्दालंकारो और जाति आदि पैंतीस अर्थालकारो का सोदाहरण लक्षण निरूपण किया गया है। इसके साथ ही यत्र-तत्र अलकारो के भेदोपभेदो का भी सोदाहरण वर्णन किया है। तत्पश्चात् गौडीया और वैदर्भी इन दो रीतियो का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

पचम एव अन्तिम परिच्छेद मे रस-स्वरूप, सभेद शृङ्गारादि नौ रस और उनके स्थायी भाव, अनुभाव तथा भेदो का निरूपण किया गया है। प्रसंगवशात् बीच में नायक के चार भेद और उनका स्वरूप, नायिका के चार भेद और उनका स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। उनकी साहित्य

साधना अत्यन्त विशाल और व्यापक है। जीवन को संस्कृत संवर्द्धित और संचालित करने वाले जितने पहलू हैं, उन सब पर उन्होंने अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाई है। उनकी साहित्य सेवा को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' जैसी उपाधि से विभूषित किया है[१]।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम सं० ११४५ में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि को धुंधुका नामक नगर (गुजरात) के मोढ वंश मे हुआ था। उनका बाल्यावस्था का नाम चांगदेव था तथा उनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था[२]। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार बालक चांगदेव का धीरे-धीरे विकास होने लगा। उसे बचपन से ही धर्म गुरुओ के संपर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अत उन्होंने आठ वर्ष की अल्पायु मे ही अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्र से दीक्षा ग्रहण कर ली थी[३]। दीक्षा के पश्चात् उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया[४]।

सोमचन्द्र ने थोड़े ही समय मे तर्क-साहित्य आदि सभी विद्याओ मे अनन्य प्रवीणता प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् उन्होने अपने गुरु के साथ विभिन्न स्थानो मे भ्रमण किया और अपने शास्त्रीय एव व्यावहारिक ज्ञान मे काफी वृद्धि की[५]। विक्रम सवत् ११६६ मे २१ वर्ष की अल्पायु में ही मुनि सोमचन्द्र को उनके गुरु ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके हेमचन्द्र नाम दिया[६]। जिसके कारण उन्होंने

---

१ हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (एम० विन्टरनित्स) वाल्यूम सेकेण्ड, पृ० २८२।

२ (क) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृ० २३४।
(ख) अर्द्धाष्टमनामनि देशे धुन्धुकाभिधाने नगरे श्रीमन्मोढवंशे चाचिगनामा व्यवहारी सतीजनमतल्लिका जिनशासनशासनदेवीव तत्सधर्मचारिणी शरीरिणीव श्री पाहिणीनाम्नी चामुण्डागोत्रजाया आद्याक्षरेणांकितनामा तयो पुत्रश्चांगदेवोऽभूत्। —प्रबन्धचिन्तामणि-हेमसूरिचरित्र, पृ० ८३।

३ प्रबन्धचिन्तामणि-हेमसूरिचरित्र, पृ० ८३।

४ प्रभावकचरित-हेमचन्द्रसूरिचरित, श्लोक ३४।

५ काव्यानुशासन-हेमचन्द्र, प्रो० पारीख की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० २६६।

६ कुमारपाल प्रतिबोध-हेमचन्द्रजन्मादिवर्णन, पृ० २१।

आचार्य हेमचन्द्र के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनकी मृत्यु वि० सं० १२२९ में हुई थी[१]।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, दर्शन, पुराण, इतिहास आदि विविध विषयों पर सफलता-पूर्वक साहित्य सृजन किया है। शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्व्याश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, द्वात्रिंशिकाएँ, अभिधान-चिन्तामणि तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ये उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र एक साथ कवि, कथाकार, इतिहासकार, एवं आलोचक थे। वे सफल और समर्थ साहित्यकार के रूप में प्रख्यात हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् डा० पिटर्स ने उनके विद्वतापूर्ण ग्रन्थों को देखकर उन्हें 'ज्ञान-महोदधि'[२] जैसी उपाधि से अलंकृत किया है।

काव्यानुशासन

काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र का अलंकार विषयक एकमात्र ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० स० ११९६ के लगभग हुई है[३]। इसमे सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। काव्य प्रकाश के पश्चात् रचे गये प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनव भारती, काव्य-मीमांसा और काव्य-प्रकाश से लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किए गए है। जिससे कुछ विद्वान् इसे संग्रह ग्रन्थ की कोटि मे मानते हैं, किन्तु उनकी कुछ नवीन मान्यताओं का प्रस्तुत ग्रन्थ मे विवेचन मिलता है। आचार्य मम्मट ने कुल ६७ अलंकारो का उल्लेख किया है, किन्तु हेमचन्द्र ने मात्र २९ अलंकारो का उल्लेख कर शेष का इन्ही में अन्तर्भाव किया है। मम्मट ने जिस अलकार को अप्रस्तुतप्रशंसा नाम दिया है, उसे हेमचन्द्र ने "अन्योक्ति" नाम से अभिहित किया है। मम्मट काव्य प्रकाश को १० उल्लासो मे विभक्त करके भी उतना विषय नही दे पाये हैं, जितना हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के केवल ८ अध्यायो मे प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही हेमचन्द्र ने अलकार-शास्त्र मे सर्वप्रथम नाट्य विषयक तत्त्वों का समावेश कर एक नवीन परम्परा का प्रणयन किया है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि ने भी किया है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७६।

२ हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, पृ० ४।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १००।

काव्यानुशासन के तीन भाग पाये जाते हैं—(१) सूत्र, (२) अलंकार-चूडामणि नामक वृत्ति और (३) विवेक नामक टीका। इन तीनों के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ही हैं। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-समय, काव्य-लक्षण, गुण-दोष का सामान्य लक्षण, अलंकार का सामान्य लक्षण, अलंकारों के ग्रहण और त्याग का नियम, शब्दार्थ-स्वरूप, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का स्वरूप, शब्द-शक्तिमूलक-व्यंग्य मे नानार्थ निबन्धन, अर्थशक्तिमूलव्यंग्य के वस्तु और अलंकार इन दो भेदो तथा इसके पद वाक्य और प्रबन्ध के अनेक भेदो का विवेचन किया गया है। साथ ही अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न-शरीर, इन अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—शरीर इन भेदो के कथन को अनुचित बताया गया है।

द्वितीय अध्याय मे रस-स्वरूप, रस के भेद-प्रभेद तथा उनका सोदाहरण लक्षण-निरूपण, स्थायिभाव और व्यभिचारिभावो की गणना एव उनका सोदा-हरण लक्षण, आठ सात्त्विक-भावो की गणना तथा काव्यभेदो का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय मे दोष का विशेष लक्षण, आठ रसदोषो, १३ वाक्यदोषों और उभय, (पद-वाक्य) दोषो तथा अर्थदोषो का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे माधुर्य, प्रसाद और ओज इन तीन गुणो के सभेद लक्षण और उदाहरण तथा तत्-तत् गुणो मे आवश्यक वर्णों का गुम्फन किया है।

पचम अध्याय में अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदा-भास शब्दालंकारो के सभेद लक्षण और उदाहरणो का विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति) व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारण-माला और संकर, इन २९ अर्थालंकारो का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में नायक का स्वरूप, उसके आठ सात्त्विकगुणों का सोदाहरण लक्षण, नायक के चार भेद, उनका सोदाहरण स्वरूप, नायक के अवस्था भेद और उनका सोदाहरण लक्षण, प्रतिनायक, नायिका-भेद, उसकी स्वाधीन-

पत्रिका आदि आठ अवस्थाओ का सोदाहरण वर्णन तथा स्त्रियों के बीस सत्त्वज अलंकारों का सलक्षण-सोदाहरण विवेचन किया गया है ।

अष्टम अध्याय मे प्रबंधकाव्य के दो भेद—दृश्य और श्रव्य, पुन दृश्य के दो भेद—पाठ्य और गेय, तत्पश्चात् पाठ्य के नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकाक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक आदि भेदो का लक्षण दिया गया है । इसी शृङ्खला मे गेय के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य का लक्षण दिया गया है । तदनन्तर महाकाव्य, आख्यायिका, कथाआख्यान, निदर्शन प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परि-कथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा, बृहत्कथा तथा चम्पू इन श्रव्य काव्यो का सलक्षण विवेचन किया गया है । अन्त मे मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और कोश का सलक्षण विवेचन है ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र

रामचन्द्र और गुणचन्द्र का नाम प्राय साथ-साथ लिया जाता है । इन विद्वानो के माता-पिता और वश इत्यादि के विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता है । अत इतना ही कहा जा सकता है कि ये दोनो विद्वान् सतीर्थ्य के थे । आचार्य रामचन्द्र ने अपने अनेक ग्रन्थो मे अपने को आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है[1] । ये उनके पट्टधर शिष्य थे । एक बार तत्कालीन गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि आपके पट्ट के योग्य

---

१ शब्द—प्रमाण—साहित्य छन्दोलक्ष्मविधायिनाम् ।
श्री हेमचन्द्रपादाना प्रसादाय नमो नम ।।

—हिन्दी नाट्य-दर्पण विवृत्ति, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य १ ।

सूत्रधार—दत्त श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचित नलविलासाभिधानमाद्य रूपकमभिनेतुमादेश ।

—नलविलास, पृ० १ ।

श्रीमदाचार्यश्रीहेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबन्धशतकर्तुर्महाकवे. रामचन्द्रस्य भूयास प्रबन्धा ।

—निर्भयभीम व्यायोग पृ० १ ।

गुणवान् शिष्य कौन है[1] ? इसके उत्तर में हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का नाम लिया था[2] ।

रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा एवं कवि-कर्म कुशलता के कारण 'कविकटारमल्ल' की सम्मानित उपाधि से अलंकृत थे । यह उपाधि उन्हें सिद्धराज जयसिंह ने प्रसन्न होकर प्रदान की थी । इसका उल्लेख रत्नमंदिर-गणि-गुम्फित उपदेशतरंगिणी में इस प्रकार मिलता है[3] कि एक बार जयसिंहदेव ग्रीष्म-ऋतु में क्रीडोद्यान जा रहे थे, उसी समय मार्ग में रामचन्द्र मिल गये । उन्होंने रामचन्द्र से पूछा कि, ग्रीष्म-ऋतु में दिन बड़े क्यों होते हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने (तत्काल पद्य-रचना करके) निम्न पद्य कहा—

देव श्रीगिरिदुर्गमल्ल भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरंगनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजो मिलत्सुरसरित्संजातपङ्कस्थली-
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनाति वृद्धं दिनम् ॥

यह सुनकर सिद्धराज द्वारा पुनः 'तत्काल पत्तन-नगर का वर्णन करो' यह कहे जाने पर उन्होंने निम्न पद्य की रचना की—

एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताचातुर्यता निर्जिता,
मन्ये नाथ ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता ।
कीर्तिस्तम्भमिषोच्चदण्डरुचिरामुत्सृज्य बाहावली—
तन्त्रीकां गुरुसिद्धभूपतिसरस्तुम्बीं निजां कच्छपीम् ॥

---

१ राज्ञा श्रीसिद्धराजेनान्यदा नुयुयुजे प्रभुः ।
भवता कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः ॥
—प्रभावकचरित-हेमसूरिप्रबन्ध, पद्य १२६ ।

२ आह श्रीहेमचन्द्रस्य न कोऽप्येव हि चिन्तकः ।
आद्योऽप्यभूदिलापाल सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमाः ॥
तज्ज्ञानमहिमस्थैर्यं मुनीनां किं न जायते ।
कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥
अस्त्यामुष्यायणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः ।
प्राप्तरेखः प्राप्तरूपः संघे विश्वकलानिधिः ॥ —वही, १३१-१३३ ।

३. द्रष्टव्य—उपदेशतरंगिणी, पृ० ६३ ।

तदनन्तर सिद्धराज ने प्रसन्न होकर सबके सामने "कविकटारमल्ल" की उपाधि प्रदान की थी।

महाकवि रामचन्द्र समस्यापूर्ति करने में भी चतुर थे। एक बार वाराणसी से विश्वेश्वर कवि पत्तन नामक नगर आये तथा वे आचार्य हेमचन्द्र की सभा मे गए। वहा राजा कुमारपाल भी विद्यमान थे। विश्वेश्वर ने कुमारपाल को आशीर्वाद देते हुए कहा—'पातु वो हेमगोपाल कम्बलं दण्डमुद्वहन्' चूँकि राजा जैन थे, अत उन्हे कृष्ण द्वारा अपनी रक्षा की बात अच्छी नहीं लगी। अतः उन्होंने क्रोध भरी दृष्टि से देखा। तभी रामचन्द्र ने उक्त श्लोकार्ध की पूर्ति के रूप में "षड्दर्शनपशुग्राम चारयत् जैन गोचरे" यह कहकर राजा को प्रसन्न कर दिया[1]।

आचार्य रामचन्द्र की विद्वत्ता का परिचय उनकी स्वलिखित कृतियो मे भी मिलता है। रघुविलास मे उन्होंने अपने को "विद्यात्रयीचणम्" कहा है। इसी प्रकार नाट्यदर्पण-विवृति की प्रारम्भिक प्रशस्ति मे "त्रैविद्यवेदिन" तथा अतिम प्रशस्ति मे व्याकरण-न्याय और साहित्य का ज्ञाता कहा है[3]।

प्रारम्भ मे कहे गये प्रभावकचरित और उपदेशतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह समकालीन थे तथा उस समय तक रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह ने स० ११५० से स० ११९९ (ई० सन् १०९३-११४२) पर्यन्त राज्य किया था[4]। मालवा पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष मे सिद्धराज का स्वागत समारोह ई० सन् ११३६ (वि० स० ११९३) मे हुआ

---

१ प्रबन्ध-चिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध पृ० ८९।

२ पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन विद्वन्मन सदसि नृत्यति यस्य कीर्ति।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्र कस्त न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम्॥
—नलविलासनाटक—प्रस्तावना, पृ० ३३।

३ प्राणा कवित्व विद्यानां लावण्यमिव योषिताम्।
त्रैविद्यवेदितोऽप्यस्मै ततो नित्य कृतस्पृहा॥ –प्रारम्भिक प्रशस्ति, ६।
शब्दलक्ष्म–प्रमालक्ष्म–काव्यलक्ष्म-कृतश्रम।
वाग्विलासस्त्रिमार्गो नो प्रवाह इव जाह्नव॥ —अंतिम प्रशस्ति, ४।

४ प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ७६।

था, तभी हेमचन्द्र का सिद्धराज से प्रथम परिचय हुआ था[1]। सिद्धराज की मृत्यु सं० ११९९ में हुयी थी[2]। इस बीच रामचन्द्र का परिचय सिद्धराज से हो चुका था तथा प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने सं० ११९९ से १२३०[3] तथा उसके भी उत्तराधिकारी अजयदेव ने स० १२३० से १२३३[4] तक गुर्जर भूमि पर राज्य किया था। इसी अजयदेव के शासन काल मे रामचन्द्र को राजाज्ञा द्वारा तप्त ताम्र-पट्टिका पर बैठाकर मारा गया था[5]।

उपर्युक्त विवेचन से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र का साहित्यिक-काल वि० सं० ११९३ से १२३३ के मध्य रहा होगा।

महाकवि रामचन्द्र प्रबन्ध-शतकर्ता के नाम से विख्यात हैं। इसके संबंध मे विद्वानो ने दो प्रकार से विचार अभिव्यक्त किए हैं। कुछ विद्वान् प्रबन्धशत-कर्ता का अर्थ "प्रबन्धशत" नामक ग्रन्थ के प्रणेता ऐसा करते हैं। दूसरे विद्वान् इसका अर्थ "सौ ग्रन्थो के प्रणेता" के रूप मे स्वीकार करते हैं। डा० के० एच० त्रिवेदी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि रामचन्द्र सौ प्रबन्धों के प्रणेता थे[6]। यह मत अधिक मान्य है, क्योंकि ऐसे विलक्षण एव प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् के लिए यह असम्भव भी प्रतीत नही होता है। उन्होंने अपने नाट्य दर्पण मे स्वरचित ११ रूपको का उल्लेख किया है। इसकी सूचना प्राय "अस्मदुपज्ञ———" इत्यादि पदों से दी गई है। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—(१) सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, (२) नलविलास-नाटक, (३) रघु-विलास-नाटक, (४) यादवाभ्युदय, (५) राघवाभ्युदय, (६) रोहिणीमृगांक-प्रकरण, (७) निर्भयभीम-व्यायोग, (८) कौमुदीमित्राणन्द-प्रकरण, (९) सुधा-

---

१ हिन्दी नाट्य-दर्पण, भूमिका, पृ० ३।

२ द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च।
एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिवं गते॥
—प्रभावकचरित-हेमसूरिचरित, पृ० १९७।

३ प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ९५।

४ वही, पृ० ९७।

५ प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ९७।

६ दी नाट्य दर्पण आफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र . एक क्रिटीकल स्टडी, पृ० २१९-२०।

कलश, (१०) मल्लिकामकरन्द-प्रकरण और (११) वनमाला-नाटिका। कुमार विहार शतक, द्रव्यालकार और यदुविलास ये उनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ है। एतदतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे स्तव भी पाये जाते हैं। इस प्रकार उनके उपलब्ध ग्रन्थो की कुल सख्या डा० के० एच० त्रिवेदी ने ४७ स्वीकार की है।[१]

नाट्य-दर्पण

यह नाट्य विषयक प्रामाणिक एव मौलिक ग्रन्थ है। इसमें महाकवि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक नवीन तथ्यो का समावेश किया है। आचार्य भरत से लेकर धनजय तक चली आ रही नाट्यशास्त्र की अक्षुण्ण परम्परा का युक्तिपूर्ण विवेचन करते हुए आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे पूर्वाचार्य स्वीकृत नाटिका के साथ प्रकरणिका नाम की एक नवीन विधा का सयोजन कर द्वादश-रूपको की स्थापना की है। इसी प्रकार रस की सुख-दु खात्मकता स्वीकार करना इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता है[२]। नाट्य दर्पण मे नौ रसो के अतिरिक्त तृष्णा, आर्द्रता, आसक्ति, अरति और सतोष को स्थायीभाव मानकर क्रमश लौल्य, स्नेह, व्यसन, दु ख और सुख-रस की भी सम्भावना की गई है[३]। इसमे शान्त-रस का स्थायिभाव शम स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे एसे अनेक ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है जो अद्यावधि अनुपलब्ध हैं। कारिका रूप मे निबद्ध किसी भी गूढ विषय को अपनी स्वोपज्ञ विवृति मे इतने स्पष्ट और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है कि साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को भी विषय समझने मे कठिनाई का अनुभव नही करना पडता है। इसीलिए इस ग्रन्थ की कतिपय विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—कि नाट्य विषयक शास्त्रीय ग्रन्थो मे नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृङ्खला है जो धनजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोडती है। इसमे अनेक विषय बडे महत्त्वपूर्ण हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तो से

१ वही, पृ० २२१-२२२। नलविलास के सपा० जी० के० गोन्डेकर एव नाट्यदर्पण के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने उक्त ग्रथो की भूमिका मे रामचन्द्र के ज्ञात ग्रन्थो की कुल सख्या ३९ मानी है।

२ स्थायीभाव श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभि।
स्पष्टानुभावनिश्चेय सुखदु खात्मको रस.॥
—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७।

३ वही, पृ० ३०६।

विलक्षण हैं, जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप[1]। इसके अतिरिक्त आचार्य उपाध्याय ने प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण इसका ऐतिहासिक मूल्य भी स्वीकार किया है[2]। इन सब विशेषताओ के कारण नाट्यदर्पण अनुपम एव उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे दो भाग पाये जाते हैं—प्रथम कारिकाबद्ध मूलग्रन्थ और द्वितीय उसके ऊपर लिखी गई स्वोपज्ञ विवृत्ति। कारिकाओ मे ग्रन्थ का लाक्षणिक भाग निबद्ध है तथा विवृति मे तद्विषयक उदाहरण एव कारिका का स्पष्टीकरण। यह ग्रन्थ चार विवेकों मे विभाजित किया गया है।

इसके प्रथम विवेक मे मगलाचरण और विषय प्रतिपादन की प्रतिज्ञा के पश्चात् १२ रूपको की सूची गिनायी गयी है। पुन रूपक के प्रथम भेद नाटक का स्वरूप, नायक के चार भेद, वृत्त (चरित) के सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य (कल्पनीय) और उपेक्षणीय नामक चार भेद, तथा कुछ अन्य भेदो के साथ काव्य मे चरित निबन्धन विषयक शिक्षाओ का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् अक स्वरूप, उसमे अदर्शनीय तत्त्व, विष्कम्भ, प्रवेशक, अकास्य, चूलिका और अकावतार नामक पाच अर्थोपक्षेपक, बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु और कार्य नामक पाच फल-हेतु आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाच अवस्थाएँ, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पाच सधियाँ एव उनके कुल ६५ भेदों (१२+१३+१३+१३+१४ =६५) का सागोपाग निरूपण किया है।

द्वितीय विवेक मे नाटक के अतिरिक्त प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, उत्सृष्टिकाक ईहामृग और वीथि नामक शेष ११ रूपको का लक्षणोदाहरण सहित विस्तृत विवेचन किया गया है। पुन वीथि के १३ अगो का भी सलक्षणोदाहरण विषय प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय विवेक मे सर्वप्रथम भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी नामक चार वृत्तियो का विवेचन किया गया है, पुन रस-स्वरूप, उसके भेद, काव्य मे रस का सन्निवेश, विरुद्ध रसो का विरोध और परिहार, रस-दोष, स्थायीभाव, ३३ व्यभिचारिभाव, वेपथु, स्तम्भ, रोमाच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद और विवर्णता नामक आठ अनुभाव, तथा वाचिक, आगिक,

---

१ संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० २३५।

२ वही, २३५।

सात्त्विक और आहार्य नामक चार अभिनयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

चतुर्थ विवेक में समस्त रूपकों के लिए उपयोगी कुछ सामान्य बातों को प्रस्तुत किया गया है। इसमे सर्वप्रथम, नान्दी-स्वरूप, कविध्रुवा-स्वरूप, उसके प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और आन्तरी नामक पांच भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन, पुरुष और स्त्री पात्रो के उत्तम, मध्यम और अधम भेदो का कथन, मुख्य नायक का स्वरूप और उसके तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और ललित नामक आठ गुणों का विवेचन, प्रतिनायक, नायक के सहायक, नायिका-स्वरूप, नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन सामान्य भेद तथा प्रोषितपतिका और विप्रलब्धा आदि प्रसिद्ध आठ भेद एव स्त्रियो के यौवनजन्य हाव-भाव आदि तीन आंगिक, विभ्रम-विलास आदि दस स्वाभाविक तथा शोभाकान्ति आदि सात अयत्नज को मिलाकर कुल बीस अलकारों का विवेचन किया गया है। पुन नायिकाओ का नायक के साथ सबध, नायिकाओ की सहायिकाएं, पात्रो द्वारा भाषा प्रयोग के औचित्य का विस्तृत विवेचन, पात्रो के लिए पात्रो के द्वारा सम्बोधन मे प्रयुक्त नामावली तथा पात्रो के नामकरण मे ज्ञातव्य बातो आदि का विवेचन किया गया है। अन्त मे प्रथम और द्वितीय विवेक मे कहे गये १२ रूपको के अतिरिक्त सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, शम्पा, प्रेक्षणक, रासक, नाट्य-रासक, काव्य, भाण और भाणिका नामक १३ अन्य रूपको का सलक्षण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

नरेन्द्रप्रभसूरि

नरेन्द्रप्रभसूरि हर्षपुरीय गच्छ परम्परा के आचार्य थे। इनके गुरू का नाम नरचन्द्रसूरि और दादा-गुरू का नाम देवप्रभसूरि था[1]। गुरू नरचन्द्रसूरि न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। जिसकी पुष्टि उक्त विषयो पर लिखे गये उनके ग्रन्थों और टिप्पणियों से होती है[2]।

गुजरात के धोलका नामक नगर के वाघेला-वशीय राजा वीरधवल के

१ अलंकारमहोदधि-प्रारम्भिक प्रशस्ति, १।६।

२ द्रष्टव्य-महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और सस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग २, अध्याय ५, पृ० १०२।

महामात्य वस्तुपाल एक विद्या-मण्डल का संचालन करते थे, जिसने संस्कृत साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है। विद्यामंडल के संपर्क में अनेक विद्वान् थे, उनमें नरचन्द्रसूरि भी एक थे। महामात्य वस्तुपाल और नरचन्द्रसूरि में प्रगाढ़ मैत्री थी। महामात्य वस्तुपाल के साथ नरचन्द्रसूरि अनेक बार तीर्थयात्रा के लिए गये थे। एक बार वस्तुपाल ने श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर नरचन्द्रसूरि से निवेदन किया कि अलंकार विषयक कुछ ग्रन्थ विस्तृत और दुर्बोध हैं, कुछ संक्षिप्त और दोषपूर्ण हैं, दूसरे विषयान्तरो से युक्त और क्लेश पूर्वक समझे जाने वाले हैं, ऐसे काव्य-रहस्य निर्णय से रहित अनेक ग्रन्थो को सुनते-सुनते मेरा मन ऊब गया है। अत. मेरे लिए अति विस्तार रहित ऐसे शास्त्र का उपदेश दीजिए, जो अलंकार सार से युक्त और अल्प बुद्धियो के द्वारा भी ग्राह्य हो[1]। वस्तुपाल की इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर नरचन्द्रसूरि ने अपने सुयोग्य शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि को उक्त प्रकार का ग्रन्थ रचने की आज्ञा दी। गुरु के आदेशानुसार नरेन्द्रप्रभसूरि ने वस्तुपाल की प्रसन्नता हेतु अलकार-महोदधि नामक ग्रन्थ की रचना की थी[2]। इसका लेखन काल वि० स० १२८० (ई० सन् १२२३) है[3] तथा इसकी स्वोपज्ञ टीका का लेखन काल वि० स० १२८२ (ई० सन् १२२५) है[4]। अत नरेन्द्रप्रभसूरि का समय विक्रम की १३वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।

राजशेखर-सूरि ने न्यायकन्दली-पंजिका में नरेन्द्रप्रभसूरि की दो रचनाओं का उल्लेख किया है—अलकार-महोदधि और काकुत्स्य-केलि[5]। इसके अतिरिक्त

---

१ अलंकारमहोदधि-प्रारम्भिक प्रशस्ति, १।१७-१८।

२ वही, १।१९।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०६।

४. नयन-वसु-सूर (१२८२) वर्षे निष्पन्नाया प्रमाणमेतस्या।
अजनि सहस्रचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पञ्चशती॥
—अलकार-महोदधि-ग्रन्थान्तप्रशस्ति, श्लोक ११।

५ तस्य गुरो प्रियशिष्य प्रभुनरेन्द्रप्रभ प्रभावाढ्य।
योऽलंकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिंच॥
—महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग २, अध्याय ५, पृ० १०४।

विवेक-पादप और विवेक-कलिका नामक दो सुभाषित संग्रह तथा दो वस्तुपाल प्रशस्ति-काव्य भी पाये जाते हैं। साथ ही गिरनार के वस्तुपाल के एक शिला-लेख के श्लोक भी नरेन्द्रप्रभसूरि रचित हैं[१]।

अलकार-महोदधि

यह एक अलकार विषयक ग्रन्थ है। नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा रचे गये ग्रन्थों मे यह सर्वोच्च है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश की छाया प्रतीत होती है। अतः डॉ० भोगीलाल साडेसरा का यह कथन उचित ही है कि "अलकार-महोदधि" का सारा तीसरा तरग काव्य-प्रकाश के चौथे अध्याय का एक लम्बा और सरलीकृत सस्करण है।[२] डा० साडेसरा के उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि अलकार महोदधि काव्यप्रकाश जैसे दुरूह ग्रन्थो की अपेक्षा सरल है। जिसकी पुष्टि अलकार-महोदधि के रचने मे कारणभूत महामात्य वस्तुपाल के निवेदन से भी होती है।[३] इसके साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश की अपेक्षा हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। क्योंकि कवि शिक्षा प्रसंग मे काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ अलकार-चूडामणि नामक टीका का एक सम्पूर्ण अश ही प्राय उद्धृत कर दिया गया है।[४] लेकिन इसके साथ ही अलकार-महोदधि मे कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती है, जो उसे काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से पृथक् सिद्ध करती है। उदाहरणार्थ काव्यप्रकाश में ६१ अर्थालकारो का समावेश किया गया है और काव्यानुशासन मे मात्र ३५ का। किन्तु अलकार महोदधि मे ७० अर्थालकारो का समावेश किया गया है। इसी प्रकार काव्यप्रकाश मे कुल मिलाकर ६०३ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जबकि अलकार-महोदधि मे ९८२ इत्यादि। उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य कई विशेषताएँ रहने के बावजूद भी लेखक ने

---

१ महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और सस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग २, अध्याय ५, पृ० १०५-१०६।

२ वही, विभाग ३, अध्याय १४, पृ० २२५।

३ द्रष्टव्य-अलकार-महोदधि, प्रारम्भिक प्रशस्ति, १।१७-१८।

४ तुलना कीजिए—अलकार-महोदधि, १।१० की टीका और काव्यानुशासन, १।१० की स्वोपज्ञ अलकार-चूडामणि टीका मे।

इसकी मौलिकता का दावा नहीं किया है,[1] जो निरभिमानता की दृष्टि से उपयुक्त भी है। इसमें यत्र-तत्र भरत, भामह और आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ तरंगो में विभाजित किया गया है। प्रथम तरग में सर्वप्रथम मंगलाचरण और गुरुपरम्परा का स्मरण करते हुए महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल का यशोगान किया गया है। तदनन्तर ग्रन्थ रचना के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। पुन काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-शिक्षा, काव्य-लक्षण और उसके भेदो का निरूपण किया गया है।

द्वितीय तरग मे शब्द-स्वरूप, शब्द-वैचित्र्य (अभिधा), उपचारमूल शब्द वैचित्र्य (लक्षणा) और व्यग्यमूल शब्द-वैचित्र्य का सभेद विवेचन करते हुए सयोगादिको का निरूपण किया गया है।

तृतीय तरग मे सर्वप्रथम अर्थवैचित्र्य का सभेद निरूपण किया गया है। पुन रस-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, स्थायी-भाव, सात्त्विक-भाव, स्त्रियो के बीस अलङ्कार, व्यभिचारिभाव, रसप्रक्रिया, स्थिति-उदय आदि व्यभिचारि-भावो की अवस्थाएँ और भाव-स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। इसी क्रम मे शब्द-शक्तिमूला और अर्थशक्तिमूला-ध्वनि के स्वरूप तथा भेद-प्रभेदो का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ तरग मे गुणीभूत-व्यग्य काव्य के भेदो का सोदाहरण निरूपण किया गया है तथा अन्त मे ध्वनि का द्वितीय स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

पचम तरग मे दोषों का सामान्य स्वरूप, पद-दोष, वाक्य-दोष, उभय-दोष, अर्थदोष, वक्ता आदि के विशेषता से दोषो का भी गुण होना तथा रस-दोष आदि का सभेद निरूपण किया गया है। अन्त मे रस-विरोध परिहार का निरूपण है।

षष्ठ तरग मे सर्वप्रथम वामनादि आचार्यों के अनुसार दस शब्द-गुणो और दस अर्थ-गुणों का विवेचन कर खण्डन किया है। पुन माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणो का मण्डन किया है। साथ ही तद्-तद् गुणो के व्यजक वर्णों का विवेचन किया गया है।

---

१ नास्ति प्राच्यैरलकारकारैराविष्कृतं न यत्।
कृतिस्तु तद्वच सारसंग्रहव्यसनादियम् ॥

—अलंकारमहोदधि—आरम्भिक प्रशस्ति, १।२१।

सप्तम तरंग मे अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति नामक चार शब्दालंकारो का सभेद-प्रभेद विवेचन किया गया है ।

अष्टम तरग मे अतिशयोक्ति आदि ७० अर्थालकारो का सलक्षणोदाहरण सभेद-प्रभेद निरूपण किया गया है । अन्त मे अलकार-दोषो का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार-प्रशस्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त हुआ है ।

अमरचन्द्रसूरि

प्रबन्धकोश के उल्लेख से ज्ञात होता है कि अणहिल्ल नामक नगर के समीप वायट नाम का महास्थान है । उसमे परपुर प्रवेश विद्या मे निपुण जीवदेवसूरि की शिष्य परम्परा मे श्री जिनदत्तसूरि नामक आचार्य हुए हैं । उनके शिष्य प्रज्ञाल-चूडामणि अमरचन्द्रसूरि थे । उन्होंने जिनदत्तसूरि के भक्त कविराज अरिसिंह से सिद्ध-सारस्वत मन्त्र ग्रहण किया था, जिसका जप कोष्ठागारिक पद्म के विशाल भवन के निर्जन एकदेश मे २१ दिन पर्यन्त किया था । तत्पश्चात् हवन किया था । इक्कीसवी रात्रि के मध्य आकाश मे उदित चन्द्रबिम्ब से निकलकर साक्षात् सरस्वती देवी ने इन्हें सिद्ध कवि होने एवं नि शेष नरपतियो से सम्मानित होने का वरदान दिया था ।[1] काव्यकल्पलता आदि ग्रन्थो से भी ज्ञात होता है कि अमरचन्द्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य और वायडगच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि के शिष्य थे ।[2] इनकी 'बालभारत' नामक कृति से ज्ञात होता है कि ये साधु होने से पूर्व कदाचित् (वायड) ब्राह्मण थे । इस सम्बन्ध मे डा० भोगीलाल सांडेसरा ने लिखा है कि 'यह भी असम्भव प्रतीत नही होता कि वह ब्राह्मण ही था । क्योंकि जैन साधु होने के बावजूद उसने अपने 'बालभारत' ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग

१ प्रबन्ध-कोश—अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६१ ।

२ श्रीमद्वायडगच्छवारिधिविधो पादारविन्दद्वये
येन श्रीजिनदत्तसूरिसुगुरो शृ गारभृ गायितम् ।
स श्वेताम्बरमौलिरत्नममर. श्रीवीरतीर्थङ्कर-
प्रह्वात्माकृत काव्यकल्पलतिकावृत्ति सतां संमताम् ॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, अन्तिम प्रशस्ति, पृ० १५४ ।

के प्रारम्भ में व्यास की और उसी ग्रन्थ की प्रशस्ति में पाण्डवों के देव वायु (पवनदेव) की स्तुति की है।[1]

अमरचन्द्रसूरि अपनी काव्यकला के कारण अनेक उपाधियों से विभूषित थे। प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार कालिदास दीपिका-कालिदास और माघ घण्टा-माघ के नाम से जाने जाते हैं, उसी प्रकार अमरचन्द्रसूरि अपनी कृति 'बालभारत' के प्रभातकालीन वर्णन में वेणी को अनंग की कृपाण रूप मे वर्णन करने के कारण वेणीकृपाणअमर के नाम से प्रसिद्ध थे।[2] इसका उल्लेख नयचन्द्रसूरि के हम्मीर-काव्य मे भी मिलता है।[3] गुर्जराधिपति वीसलदेव की राज्यसभा मे इन्होंने विद्वानो द्वारा दी गई १०८ समस्याओं की तत्काल पूर्ति कर राजा द्वारा बहुमान और 'कविसार्वभौम' की उपाधि अर्जित की थी। इनके कलागुरु का नाम अरिसिंह था, जिनका परिचय अमरचन्द्रसूरि ने महाराजा वीसलदेव से बाद में कराया था।[4]

उपर्युक्त उल्लेखो से यह निर्विवाद सिद्ध है कि अमरचन्द्रसूरि और राजा वीसलदेव समकालीन थे। इतिहासज्ञो ने राजा वीसलदेव का राज्यकाल वि० स० १२९४ से वि० स० १३२८ (ई० सन् १२३७ से १२७१) तक माना है।[5] अमरचन्द्रसूरि की एक सुप्रसिद्ध कृति 'पद्मानन्द' महाकाव्य है, जिसमे आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव का चरित्र-चित्रण किया गया है। डॉ० भोगीलाल साडेसरा और डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित ने विभिन्न स्रोतों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अमरचन्द्रसूरि कृत पद्मानन्द महाकाव्य की रचना वि० सं० १२९४ से वि० स० १२९७ (ई० सन् १२३७–१२४०) के मध्य

---

१ महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ० ९० ।

२ प्रबन्धकोश—अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६२ ।

३ "महाकविप्रवरो महाबलधरो वेणीकृपाणोऽमर"

—हम्मीरमहाकाव्य, १४।३१ ।

४. प्रबन्धकोश—अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६२-६३ ।

५ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० २४६ ।

हुई है ।[1] उनके प्रमुख स्रोतों का आधार यह है कि पद्मानन्द महाकाव्य की रचना वीसलदेव के राज्यकाल में हुई है। वीसलदेव के राज्यारोहण की तिथि ई० सन् १२३८ (वि० सं० १२९४) है तथा पद्मानन्द महाकाव्य की खंभात की प्रति की लेखन तिथि ई० १२३८ (वि० सं० १२९७) है। अतः उक्त दोनों तिथियों के मध्य ही पद्मानन्द महाकाव्य का लेखन काल होगा, जो उचित प्रतीत होता है तथा इससे भी पूर्व इनकी अमरकृति 'बालभारत' की रचना अवश्य हुई होगी, क्योंकि अमरचन्द्रसूरि और वीसलदेव के प्रथम मिलन, जिसका समय वि० सं० १२९४-९५ के आसपास है, के समय बालभारत की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी[2] और यह समय उनकी प्रौढावस्था का रहा होगा। तत्पश्चात् अन्य ग्रन्थों का निर्माण किया होगा। अतः इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

इनकी रचनाओं पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अमरचन्द्रसूरि काव्य, व्याकरण, छन्द, अलंकार और कला आदि विविध विषयों के प्रौढ कवि थे। इनका आशुकवित्व इनकी कविता-चातुरी का द्योतक है। डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित और डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी आदि विद्वानों ने इनके ग्रन्थों की संख्या १३ स्वीकार की है[3]। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—१ बालभारत, २ पद्मानन्दमहाकाव्य, ३ काव्यकल्पलता-वृत्ति, ४ काव्यकल्पलता या कविशिक्षा, ५ चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि, ६ सुकृत संकीर्तन के प्रत्येक सर्ग के चार श्लोक, ७ स्यादिशब्दसमुच्चय (व्याकरण), ८ काव्यकल्पलता-परिमल, ९ छन्दोरत्नावली, १० अलंकार-प्रबोध, ११ कलाकलाप, १२ काव्यकल्पलता-मंजरी और १३ मुक्तावली।

---

१ सांडेसरा-महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मंडल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ० ६४।
दीक्षित-तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ०, ३०३ ३०४।

२ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० २५६।

३ वही, पृ० २५५ एवं जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७७, ५१४।

काव्यकल्पलता-वृत्ति

यद्यपि कवि-शिक्षा पर प्रकाश डालने वाले काव्यमीमांसा (राजशेखर) कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) और कविशिक्षा (जयमंगल) आदि अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं तथापि अमरचन्द्रसूरि कृत काव्यकल्पलता नामक ग्रन्थ कविशिक्षा के लिए सर्वोपरि है।

आचार्य अमरचन्द्रसूरि ने अपने कलागुरु अरिसिंहकृत कविता-रहस्य को ध्यान में रखकर कुछ अरिसिंह रचित सूत्रों और कुछ स्वरचित सूत्रो को लेकर काव्यकल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की है। अत मूल सूत्रो का नाम काव्य-कल्पलता है, पुन उन सूत्रो पर अमरचन्द्रसूरि ने कविशिक्षा नामक वृत्ति लिखी है, जो अब काव्यकल्पलता वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

अमरचन्द्रसूरि के परवर्ती आचार्य देवेश्वर (१४ वी शताब्दी का आरम्भ) ने अपने ग्रन्थ कवि-कल्पलता के लिए अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता को ही आदर्श माना है, जिसमे से बहुत से नियमो तथा लक्षणो का अक्षरश ग्रहण किया गया है। कालान्तर मे कविकल्पलता के ऊपर अनेक टीकाएँ रची गई हैं[1]। इससे यह सिद्ध होता है कि विद्वत्समाज मे भी काव्यकल्पलता को महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त था।

इस ग्रन्थ मे अमरचन्द्रसूरि ने कवि-पद के अभिलाषियों को प्रारम्भ मे होने वाली कठिनाइयो से बचने के लिए कविशिक्षा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। ये छन्द को काव्य का मूल मानते हैं[2]। अत छन्द-रचना की प्रक्रिया का विभिन्न प्रकार से विवेचन है तथा छन्दो मे प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के सहस्रो शब्दो का सकलन किया गया है, जो छन्द कोश के अभाव की पूर्ति करता है। अत इस ग्रन्थ के अध्ययन से कवियो का मार्ग प्रशस्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ छन्दसिद्धि, शब्दसिद्धि, श्लेषसिद्धि और अर्थसिद्धि नामक चार प्रतानो मे विभक्त है। पुन प्रत्येक के उपविभाग किये गये हैं, जो स्तवक कहलाते हैं। प्रत्येक प्रतान मे क्रमश ५,४,५ और ७ स्तवक हैं जिनकी कुल संख्या २१ है।

छन्दसिद्धि नामक प्रथम प्रतान के प्रथम स्तवक का नाम अनुष्टुप्-शासन है, इसमें कवियों के द्वारा सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाले अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग करने

---

१. द्रष्टव्य-संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० २४० ।

२. काव्यस्य छन्दोमूलत्वात्-काव्यकल्पलता-वृत्ति, पृ० २ ।

के नियमो का निर्देश दिया गया है तथा मात्रा और वर्णों की गणना-विधि बतलाई गई है। द्वितीय स्तवक का नाम छन्दोभ्यास है, इसमे एक पाद मे ६ से २१ वर्ण वाले प्रमुख छन्दो की नामावली प्रस्तुत की गयी है। पुन. छन्दोभ्यास के विविध प्रकार बतलाये गये हैं तथा उनमे प्रयुक्त होने वाले सहस्रों शब्दों का संकलन किया गया है। इसी क्रम मे एकछन्द को दूसरे छन्द मे परिवर्तन करने के अनेक उपाय बतलाये गये हैं। अन्त मे यति नियमो का उल्लेख किया गया है। तीसरा स्तवक छन्दपूर्ति के लिए सामान्य शब्दो का है, इसमें विभिन्न छन्दो के लिए उपयोगी एक से चार वर्ण वाले पदो का सकलन किया गया है, जिससे किसी भी छन्द मे अपनी आवश्यकतानुसार पदो का ग्रहण कर छन्द-पूर्ति की जा सकती है। चतुर्थ स्तवक का नाम वाद-शिक्षा है, इसमे सर्वप्रथम वाद की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। पुन अनुप्रास मे उपयोगी शब्दो का सकलन किया गया है, अन्त मे वाद (शास्त्रार्थ) के नियमो का उल्लेख है। पाचवे स्तवक का नाम वर्ण्यस्थिति है, इसमे महाकाव्य आदि प्रबन्धो मे वर्णनीय राजा, मन्त्री, पुरोहित, रानी, कुमार, सेनापति, देश, ग्राम, नगर, सरोवर, समुद्र, नदी, उद्यान, पर्वत, जगल, आश्रम, मन्त्र, राजदूत, युद्ध, प्रयाण, मृगया, घोडा, हाथी, ऋतु, सूर्य-चन्द्र का उदय और अस्त, विवाह, विरह, स्वयंवर, सुरापान, पुष्पचयन, जलक्रीडा और कामक्रीडा का विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्त मे कवि-समय पर प्रकाश डाला गया है।

शब्दसिद्धि नामक द्वितीय प्रतान के प्रथम स्तवक का नाम रूढयौगिक मिश्र है, इसमे रूढ, यौगिक और मिश्र शब्दो का सोदाहरण विवेचन किया गया है। द्वितीय स्तवक मे वास्तविक अथवा काल्पनिक पदार्थों अथवा व्यक्तियो अथवा देवताओ के यौगिक पर्यायवाची शब्दो का सकलन किया गया है। तृतीय स्तवक मे सर्वप्रथम अनुप्रास की सिद्धि हेतु साधारण शब्दो का सग्रह किया गया है, पुन चित्र-अनुप्रास और यमक मे सहायक तत्सदृस अन्य शब्दो का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ स्तवक मे अभिधा, लक्षणा और व्यजना का विस्तृत विवेचन करके काव्य मे प्रयुक्त लाक्षणिक शब्दो का गुम्फन किया गया है, अन्त में उन शब्दो का उपमान और उपमेय रूप मे प्रयोग करने की विधि बतलाई गई है।

श्लेषसिद्धि नामक तृतीय प्रतान के प्रथम स्तवक मे पदच्छेद द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों को निकालकर श्लेष का विस्तृत विवेचन किया गया है, पुन तदुपयोगी शब्दों की विस्तृत सूची दी गई है। दूसरे स्तवक का नाम सर्ववर्णन है, इसमे ऐसे श्लेष पर विचार प्रस्तुत किया है, जहाँ एक वस्तु का वर्णन होने पर श्लेष

के माध्यम से अन्य वस्तु के गुण-धर्म का ज्ञान होता है। तृतीय स्तवक का नाम उद्दिष्ट वर्णन है, इसमे भिन्नार्थक शब्दो का प्रयोग करके अनेक अर्थों को प्रकाशित करने की विधि बतलाई गई है। चतुर्थ स्तवक का नाम अद्भुत-विधि है, इसमे वर्ण, मात्रा, लिंग, पद, प्रकृति, प्रत्यय, वचन और विभक्ति के आधार पर होने वाले आठ प्रकार के श्लेषो का वर्णन किया गया है, पुन. यमक के उपाय बतलाये गये हैं। अन्त मे वक्रोक्ति, विरोधाभास, प्रश्नोत्तर और पुनरुक्त-वदाभास भी श्लेष-साध्य हैं, ऐसा कहकर उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पंचम स्तवक का नाम चित्र-प्रपञ्च है। इसमे चित्र-काव्य का प्रपञ्च दर्शाया गया है, तदुपरान्त एकाक्षर और द्व्यक्षर शब्द तथा एकाक्षरी धातुओ की सूची प्रस्तुत की गयी है। साथ ही अनुलोम और प्रतिलोम शब्दो का भी संकलन किया गया है, अन्त मे विभिन्न चित्र-काव्यो के उदाहरण दिये गये हैं।

अर्थसिद्धि नामक चतुर्थ प्रतान के प्रथम स्तवक मे सर्वप्रथम 'उपमा पर विचार किया गया है, पुन अभ्यासार्थ उपमा वाचक शब्दों और उपमानो की नामावली प्रस्तुत की गयी है। इसी क्रम मे यह भी बतलाया गया है कि किस प्रकार उपमा अनेक अलकारो के मूल मे विद्यमान है। अन्त मे रूपक का विस्तार से विवेचन किया गया है। द्वितीय स्तवक मे वर्णों (रंगों) के अर्थोत्पत्ति व प्रत्येक रग के वाचक अनेक शब्दो का सकलन किया गया है। तृतीय स्तवक मे भिन्न कार्य के वर्णन की विधि है। चतुर्थ स्तवक मे भिन्न रूप के वर्णन की विधि है। पचम स्तवक मे यह बतलाया गया है कि कवि को किस प्रकार भिन्न-भिन्न नवीन कल्पनाओ का आश्रय लेकर रचना करनी चाहिए। अन्त में तीक्ष्ण महत्तम और सूक्ष्म आदि लगभग चालीस शब्दो के सादृश्य वाचक शब्दो का सकलन किया गया है। षष्ठ स्तवक मे एक से बीस तथा सौ और सहस्र वाचक शब्दो का सकलन किया गया है। सप्तम और अन्तिम स्तवक मे समस्या पूर्ति हेतु कवियो के लिए आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है।

विनयचन्द्रसूरि

विभिन्न कालो मे विनयचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं।[1] किन्तु प्रस्तुत स्थल में जिन आचार्य का कथन किया जा रहा है, वे काव्य शिक्षा के रचयिता

---

१ धम्मक्खाणय कोस (धर्माख्यान कोश) के टीकाकार, वि० सं० ११६६।
—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २५३।

चूनडीरास, निर्झरपंचमीकहारास और कल्याणकरास के रचयिता अप-

आचार्य विनयचन्द्रसूरि हैं। इनका परिचय देते हुए डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने लिखाहै कि विनयचन्द्र चन्द्रगच्छीय थे। चन्द्रगच्छ मे शीलगुणसूरि नामक प्रसिद्ध विद्वान्हुएथे। उनके शिष्यमानतुंगसूरि और मानतुंगसूरि के शिष्य रविप्रभसूरि हुए, जो बडे विद्वान् थे। उनके शिष्यो मे नरसिंहसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि और विनयचन्द्रसूरि हुए।[1] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विनयचन्द्रसूरि चन्द्रगच्छीय आचार्य और रविप्रभसूरि के शिष्य थे। वे सस्कृत और प्राकृत के विद्वान् थे तथा काव्याशास्त्र उनका प्रिय विषय था। काव्यशिक्षा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विनयचन्द्रसूरि न केवल अलंकार शास्त्र के ही ज्ञाता थे, अपितु व्याकरण, कोश आदि पर भी उनका समान अधिकार था।

यद्यपि विनयचन्द्रसूरि का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है तथापि उनकी कृतियो के लेखन एव अन्य स्रोतो से उनकी कालावधि निश्चित की जा सकती है। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने लिखा है कि स० १२८५ मे पार्श्वनाथचरित आदि २० प्रबन्धो के कर्ता आचार्य विनयचन्द्रसूरि विद्यमान थे।[2] इन्होंने स० १२८६ म मल्लिनाथ-चरित नामक महाकाव्य की रचना की और उदयसिंह रचित धर्मविधिवृत्ति का सशोधन किया था।[3] उपर्युक्त के अतिरिक्त डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने लिखा है कि विनयचन्द्रसूरि ने कल्पनिरुक्त की की रचना सम्वत् १३२५ और दीपमालिका-कल्प की रचना स० १३४५ मे की

भ्रंश कवि (ई० १२वी शती) –तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० १११।
कालिकाचार्य कथा (प्राकृत) के रचयिता एव रविप्रभ के शिष्य (स० १२८६) —जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २१०।
कालिकाचार्य कथा (सस्कृत) के रचयिता एव रत्नसिंहसूरि के शिष्य (१४वी शती) —वही, पृ० २११।
आदिनाथ चरित्र के रचयिता (वि०स० १४७४) जिनरत्नकोश, पृ० २८।
मेघदूत पर अवचूरि के रचयिता (वि०स० १६६४)।
—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ६०५।

१ वही, पृ० १२२।
२ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० ३९३।
३. वही, पृ० ३९५।

है ।[1] अतः डॉ० चौधरी ने उनका साहित्यिक काल सं० १२८६ से लेकर सं० १३४५ तक स्वीकार किया है ।[2] किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि प्रथम बात तो यह है कि विनयचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, अतः एक ही विनयचन्द्र का लगभग ६० साल साहित्यिक काल मानना सामान्य से कुछ अधिक प्रतीत होता है । द्वितीय बात यह है कि रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्र ने भी दीपमालिका-कल्प की रचना की है ।[3] सम्भव है दीपमालिकाकल्प भिन्न-भिन्न आचार्यों की दो रचनायें न होकर केवल रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्र की ही एक रचना हो । क्योंकि इनकी अन्य रचना पर्यूषणाकल्प से उक्त रचना का नामसादृश्य मिलता है जिसका सम्बन्ध कालान्तर मे प्रमादवशात् काव्यशिक्षा के रचयिता विनयचन्द्रसूरि से भी जुड गया हो । इस प्रसंग मे डॉ० हरीप्रसाद शास्त्री का निम्न कथन ध्यातव्य है कि—"मल्लिस्वामी चरित और काव्यशिक्षा के लेखक विनयचन्द्र की अभिन्नता कभी-कभी कल्पनिरुक्त, दीपमालिकाकल्प, मुनिसुव्रतचरित, नेमिनाथचतुष्पादिका और उवस्समालाकहाणय-छप्पय के रचयिता के साथ प्रदर्शित की जाती है, किन्तु रविप्रभसूरि के शिष्य आचार्य विनयचन्द्र स्पष्ट रूप से रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्र से भिन्न है । ये (रविप्रभसूरि के शिष्य विनयचन्द्र से) कनिष्ठ और समकालीन प्रतीत होते हैं । इसलिए उनकी अभिन्नता दिखाना त्रुटिपूर्ण है, उसे हम बहुत समय तक स्वीकार नही कर सकते ।[4] अतः काव्यशिक्षाकार आचार्य विनयचन्द्रसूरि का समय विक्रम की तेरहवी शती का उत्तरार्ध मानना समीचीन होगा और काव्यशिक्षा का प्रणयन काल विक्रम की तेरहवी शती का चतुर्थ चरण ।

डॉ० हरीप्रसाद शास्त्री ने काव्यशिक्षा और मल्लिस्वामी (नाथ) चरित इन दो को ही आचार्य विनयचन्द्र सूरि की रचनायें स्वीकृत की हैं, जो विनय शब्दांकित है ।[5] किन्तु इनके अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित और कालिकाचार्यकथा (प्राकृत) भी उनकी रचनायें प्रतीत होती हैं, क्योंकि पार्श्वनाथचरित

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२२ ।

२ वही, पृ० १२२–१२३ ।

३ वही, पृ० २११, टिप्पणी ३ ।

४ काव्यशिक्षा—भूमिका, पृ० ११ ।

५ वही, भूमिका, पृ० १० ।

विनय शब्दांकित महाकाव्य है।[1] अत यह कृति भी उक्त लेखक की होनी चाहिये तथा कालिकाचार्य-कथा (प्राकृत) की रचना सं० १२८६ में हुई है।[2] यह काल काव्यशिक्षाकार विनयचन्द्रसूरि का है। अत यह कृति भी उक्त कवि की होगी, इसमे सन्देह नही। इस प्रकार विनयचन्द्रसूरि की चार कृतियाँ तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं—काव्यशिक्षा, मल्लिस्वामीचरित, पार्श्वनाथचरित और कालिकाचार्यकथा (प्राकृत)। इनके अतिरिक्त जब तक कोई पुष्ट आधार नही मिल जाते हैं तब तक अन्य कृतियो अथवा अन्य काल से आचार्य विनयचन्द्रसूरि का सम्बन्ध जोडना उचित नही है।

काव्य शिक्षा

प्रस्तुत रचना आचार्य विनयचन्द्रसूरि की सग्रहीत कृति है। इसमे कवि ने काव्यरचना हेतु कवि के लिए आवश्यक व्यवहारिक ज्ञान की शिक्षा दी है। ग्रन्थकार का दावा हो अथवा नही किन्तु निष्पक्ष समालोचक की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी प्रस्तुत ग्रन्थ की सहायता से पद्य रचना कर सकता है। इसके अध्ययन से कई ऐतिहासिक एव भौगोलिक तथ्यो पर प्रकाश पडता है। इसीलिए डॉ० भोगीलाल साडेसरा ने लिखा है कि विनयचन्द्र की कवि (काव्य) शिक्षा इसलिए विशेष उपयोगी है कि उसमे इतिहास, भूगोल और मध्यकालीन भारत की साहित्यिक स्थिति की अनेक सूचनायें मिलती है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ मे विभिन्न आचार्यों के बिभिन्न ग्रन्थो का उपयोग किया गया है। उसमे कालिदास, बाण, भवभूति और हेमचन्द्र आदि के ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ छः परिच्छेदो मे विभक्त है। प्रथम परिच्छेद का नाम शिक्षा-परिच्छेद है। इसमे काव्यस्वरूप, काव्यशिक्षा, कविसमयप्रसिद्धि, इन्द्रवज्रा आदि छन्दो मे चारो पादो मे आवश्यक अक्षरो का सन्निवेश, रक्तवर्ण आदि वस्तुओ की सूची, वर्णनीय वस्तुओ तथा महाकाव्य के लक्षण आदि पर विचार किया गया है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२१।

२ वही, पृ० २१०।

३ महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ० २२८-२२९।

द्वितीय परिच्छेद का नाम क्रियानिर्णयपरिच्छेद है। इसमें विभिन्न क्रियाओं के विषय में निर्णय किया गया है कि कौन सी क्रिया परस्मैपदी है, कौन सी आत्मनेपदी तथा कौन सी उभयपदी।

तृतीय परिच्छेद का नाम लोक कौशल्य परिच्छेद है। इसमें लोक व्यवहार में कुशलता के निमित्त एक से लेकर अठारह, बाईस, अट्ठाइस, बत्तीस, चौंतीस, बयालीस, चौंसठ, अड़सठ, बहत्तर, चौरासी, सौ, एक सौ आठ, साठ हजार, अठासी हजार, चौरासी लाख संख्या वाली वस्तुओं की गणना की गई है। तदनन्तर समूहवाचक शब्द, आभानक (लोकोक्तियाँ), विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का परिचय, उनकी व्याख्या एवं मानव्याख्या वर्णन, स्त्रैणालापवर्णन, सेनाप्रयाणवर्णन तथा उत्तम पुरुष आदि के वर्णन में कौशल प्राप्ति का विवेचन किया गया है। अन्त मे खड्गादि शस्त्रों का नाम संग्रह है।

चतुर्थ परिच्छेद का नाम बीजव्यावर्णन परिच्छेद है। इसमें जिनेन्द्र भगवान् के माता-पिता, नगरी, चिह्न, वर्ण, कीर्ति, प्रातिहार्य, देशना आदि का वर्णन, कारकशिक्षा, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, विनायक, सखीभट, बलभीनाथ, श्वेताम्बराचार्य, ब्राह्मण, योगी, चण्डी, जिनयक्ष आदि का वर्णन, आश्रमबीज, बालक्रीडनक, विभिन्न देवो के चैत्य, अर्थोत्पत्तिबीज, दोषबीज, परमार्थबीज, राजद्वारवर्णन-बीज तथा योगादि के लक्षणो का वर्णन है।

पंचम परिच्छेद का नाम अनेकार्थ शब्दसंग्रह है। इसमें एक से पंचाक्षर काण्ड, अव्ययार्थ काण्ड, मूलाक्षरार्थकाण्ड, अन्त्याक्षरवर्गकाण्ड भेद करके अनेकार्थक शब्दो का विवेचन किया गया है। मुद्रित प्रति मे एकाक्षरकाण्ड मुद्रित नही है।

षष्ठ परिच्छेद का नाम रसभावनिरूपण परिच्छेद है। इसमे रस का लक्षण उसके भेद, स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव तथा रसाभाव और भावाभास पर विचार किया गया है। यह परिच्छेद हेमचन्द्र के काव्यानुशासन से उद्धृत है।

विजयवर्णी

विजयवर्णी दिगम्बर जैन मुनि विजयकीर्ति के शिष्य थे।[1] इन्होंने राजा

---

१. श्रीमद्विजयकीर्त्याख्य गुरुराजपदाम्बुजम्।

—शृङ्गारार्णव चन्द्रिका, १।५।

कामिराज की प्रार्थना पर शृङ्गारार्णव चन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[१] इसमे इन्होंने कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि गुणवर्मा का नामोल्लेख किया है।[२] गुणवर्मा का समय ई० सन् १२२५ (वि० स० १२८२) के लगभग माना जाता है।[३] अत विजयवर्णी का समय कर्नाटक-कवि गुणवर्मा के पश्चात् मानना होगा।

'शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका' के प्रारम्भिक भाग से स्पष्ट होता है कि श्री वीर-नरसिंह नामक राजा वगभूमि का प्रशासक था। उनकी राजधानी वगवाटी थी।[४] ई० सन् १२०८ (वि० स० १२६५) मे वीरनरसिंह के पुत्र चन्द्रशेखर वगभूमि के शासक हुए थे, पुन ई० सन् १२२४ मे इनके छोटे भाई पाण्ड्यप्प सिंहासनारूढ हुए। तत्पश्चात् इनकी बहिन विट्ठलादेवी राज्य की सञ्चालिका नियुक्त की गई। इसी क्रम मे ई० सन् १२४४ (वि० स० १३०१) मे विट्ठला देवी के पुत्र कामिराज राजसिंहासन पर आरूढ हुए थे।[५] इन्ही कामिराज की प्रार्थना पर विजयवर्णी ने 'शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका' की रचना की थी, अत विजयवर्णी कामिराज के समकालीन ठहरते हैं तथा उक्त ग्रन्थ की रचना भी इसी के आस-पास होने से ईसा की तेरहवी शती के मध्य मे हुई होगी। विजयवर्णी ने कामिराज को 'गुणार्णव' और 'राजेन्द्रपूजित' ये दो विशेषण दिए है, साथ ही पाण्ड्वग का भागिनेय और महादेवी विट्ठलाम्बा का पुत्र लिखा है।[६] इससे भी दोनो की समकालीनता सिद्ध होती है। अत कामिराज

---

१ इत्थ नृपप्रार्थितेन मयालकारसग्रह ।
नियते सूरिणा नाम्ना शृङ्गारार्णवचन्द्रिका ।।

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।२२।

२ गुणवर्मादिकर्नाटककवीना सूक्तिसचय ।
वाणीविलास देयात्ते रसिकानन्द दायिनम् ।।वही, १।७।

३ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृ० ३०१।

४ शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका, १।११–१२।

५ प्रशस्ति सग्रह—के० भुजबली शास्त्री, पृ० ७७–७८।

६ तस्य श्रीपाण्ड्यवगस्य भागिनेयो गुणार्णव ।
विट्ठलाम्बा महादेवी पुत्रो राजेन्द्रपूजित ।।

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।१६।

और विजयवर्णी इन दोनों का समय ईसा की १३वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना समीचीन होगा।

विजयवर्णी द्वारा रचित अलकार विषयक शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु उक्त ग्रन्थ के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विजयवर्णी एक राजमान्य महाकवि थे। संभव है इन्होने अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया हो, किन्तु इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न होने से निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

शृङ्गारार्णवचन्द्रिका :

'शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका' अलकार विषयक ग्रन्थ है। इसमे विजयवर्णी ने कुछ ऐसे विषयो का भी समावेश किया है, जिनका उल्लेख अलकारशास्त्रों में प्राय. कम ही मिलता है। जैसे—वर्ण-गणफल निर्णय आदि। जिस प्रकार एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण और रसगगाधर मे कवियो ने स्वरचित पद्यों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार विजयवर्णी ने शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका मे सभी उदाहरण स्वरचित प्रस्तुत किये हैं। ये सभी उदाहरण कवि ने अपने आश्रयदाता गगवंशीय राजा कामिराज की स्तुति मे लिखे हैं, अत इस ग्रन्थ का अपर नाम कामिराज स्तुति ग्रन्थ कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ दस परिच्छेदो मे विभक्त है। इसके प्रथम परिच्छेद मे कवि ने सर्वप्रथम अपने आश्रयदाता गंगनरेश कामिराज की वंशावली का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को रचने मे कारणभूत कामिराज की प्रार्थना आदि का वर्णन किया है। पुन काव्य-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि पर प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् किस वर्ण और किस गण से काव्य प्रारम्भ होने पर सुख-दु.ख अथवा अनिष्ट आदि की प्राप्ति होती है इसका विवेचन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ मे कवि-स्वरूप, उसके भेद, वाक्यों का चतुर्विध अर्थ आदि का वर्णन किया गया है। पुन लक्षणा-स्वरूप, उसके भेद और व्यजना स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी क्रम मे अभिधा-शक्ति के नियामक सयोगादि तत्त्वों को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय परिच्छेद मे सर्वप्रथम रस का महत्त्व स्थायीभाव-स्वरूप, उसके नौ भेद, रस-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, भाव-स्वरूप तथा उसके विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभाव रूप चार भेदों का निरूपण किया गया है। पुन शृङ्गाररस के सन्दर्भ मे काम की दस अवस्थाओं का सलक्षणोदाहरण

उल्लेख किया गया है। इसी क्रम मे कवि ने रसों के वर्ण, उनके अधिदेवता, कार्यकारण-भाव, रसो मे पारस्परिक विरोध और अविरोध आदि का विवेचन किया है।

चतुर्थ परिच्छेद मे नायक-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि का सोदाहरण लक्षण, विदूषक, पीठमर्द, विट और नागरिक इन चार उपनायकों तथा प्रतिनायक का स्वरूप और नायक के आठ सात्त्विक गुणों का विवेचन किया गया है। पुन स्वकीया, परकीया, अनूढा और साधारण रूप नायिका के चार भेद, उनके प्रभेद, नायिका की आठ अवस्थाओ और सखि, दासी आदि उसकी सहायिकाओ का सलक्षणोदाहरण निरूपण है। इसी क्रम मे नायिका के यौवन काल मे सभव तीन शरीरज, सात अयत्नज और दस स्वाभाविक इस प्रकार बीस अलकारो का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है।

पचम परिच्छेद मे गुण का महत्त्व और उसके दस भेदो का सलक्षणोदाहरण वर्णन किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद मे रीति का महत्त्व, स्वरूप तथा उसके वैदर्भी' गौणी, लाटी और पाचाली इन चार भेदो पर प्रकाश डाला गया है।

सप्तम परिच्छेद मे वृत्ति का महत्त्व, स्वरूप तथा उसके कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्त्वती इन चार भेदों का विवेचन किया गया है। पुन अतिप्रौढ-सन्दर्भ, अतिमृदु-सन्दर्भ, ईषन्मृदु-सन्दर्भ और ईषत्प्रौढ-सन्दर्भ इन चार सन्दर्भों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम परिच्छेद मे शय्या और पाक का महत्त्व तथा उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। पुन पाक के दो भेद-द्राक्षापाक और नारिकेरपाक का सोदाहरण लक्षण निरूपण किया गया है।

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ मे अलकार का महत्त्व और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। पुन ४ शब्दालंकारो और ४७ अर्थालकारो का सभेद सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है।

दशम परिच्छेद में सर्वप्रथम निर्दोष काव्य का महत्त्व तथा पद-पदांश, वाक्य, रस और अर्थगत दोषों का सभेद सलक्षणोदाहरण निरूपण, पुन पद-दोष, वाक्यदोष और अर्थदोष कहीं-कहीं गुण कैसे बन जाते हैं, इसका विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् कविसमय-प्रसिद्धि आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

अजितसेन

जैन परम्परा में अजितसेन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आलंकारिक दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनाचार्य थे[1]। अलंकारशास्त्र पर रचित उनकी अलंकार-चिन्तामणि नामक कृति इस बात का सबल प्रमाण है कि उन्हें अलंकार-शास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान था।

यद्यपि आलंकारिक अजितसेन की गुरु परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है तथापि आधुनिक शोध-मर्मज्ञों का कथन ध्यान देने योग्य है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है कि अजितसेन यतीश्वर दक्षिणदेशान्तर्गत तुलुव प्रदेश के निवासी सेनगण-पोगरिगच्छ के मुनि, संभवतया पार्श्वसेन (ज्ञात तिथि ११५४ ई०) के प्रशिष्य और पद्मसेन (ज्ञाततिथि १२७१ ई०) के गुरु महासेन के सधर्मा या गुरु थे[2]। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने भी अजितसेन के सेनसंघ के आचार्य होने की पुष्टि की है[3]। उनकी इस मान्यता का हेतु शृंगारमंजरी का अन्तिम भाग है[4]।

आचार्य अजितसेन ने अलंकार-चिन्तामणि में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किये है, उसमें महाकवि अर्हद्दास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके मुनिसुव्रत-काव्य से अलंकार-चिन्तामणि में अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं[5]। पं० आशाधर जी ने वि० सं० १२९६ में सागारधर्मामृत

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२२।

२ जैन-सन्देश (शोधांक २) १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७१।

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ३१।

४ श्रीसेनगणाग्रगण्यतपोलक्ष्मीविराजितसेनदेवयतीश्वरविरचित।

—वही, पृ० ३०।

५ द्रष्टव्य—चन्द्रप्रभं नौमि. . ..। मुनिसुव्रतकाव्य, १।२।

अलंकारचिन्तामणि, ४।२५, ४।१३४, ५।१५०।

यत्रार्तवत्वं कलिलाटवीषु .. .. . । —मुनि० १।३४। अल०—चि०, ४।२८९।

मुक्तागुणच्छायमिवेन्तन्व्या ..। मुनि०, २।३१। अल० चि०, ५।१०।

अमर्षणायाः श्रवणावतंसं... ..। मुनि०, २।३२। अलं० चि०, ५।११।

न्यहस्तु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः......। मुनि०, २।३३। अलं० चि० ४।३३५, ५।१२, ५।१४२।

टीका और वि० स० १३०० में अनगारधर्मामृत टीका का लेखन कार्य समाप्त किया है[1]। अत प० आशाधर जी का समय विक्रम की तेरहवी शताब्दी का कुछ पूर्वार्द्ध और सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है। महाकवि अर्हद्दास ने प० आशाधर जी का नाम अपने तीनो ग्रन्थो (मुनिसुव्रतकाव्य पुरुदेवचम्पू और भव्यजनकण्ठाभरण) मे श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। अत. अर्हद्दास का समय प० आशाधर जी के पश्चात् विक्रम की चौदहवी शताब्दी का प्रथम चरण मानना होगा और चूँकि अलंकार-चिन्तामणि मे मुनिसुव्रत-काव्य के अनेक पद्य उद्धृत है, इसलिए आचार्य अजितसेन का लेखनकाल उनके भी पश्चात् लगभग विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्य भाग (ई० १२९३ के लगभग) होगा। यही समय प० अमृतलाल शास्त्री को भी अभीष्ट है[2]।

नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने अलकार-चिन्तामणि का रचना काल ई० सन् १२५०-६० (वि० स० १३०७-१३१७) के मध्य माना है,[3] जो उचित प्रतीत नही होता है। क्योकि ज्योतिषाचार्य जी ने महाकवि अर्हद्दास को प० आशाधर जी का समकालीन सिद्ध करने के लिए जिन प्रशस्ति-पद्यो[4] को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है, वे उनके न तो समकालीन होने की पुष्टि करते हैं और न परवर्ती होने की तथापि उनके परवर्ती होने की ही सम्भावना अधिक है। इस सम्बन्ध मे मुनिसुव्रत-काव्य मे भूमिका लेखक हरनाथ द्विवेदी का यह कथन ध्यातव्य है कि—"प्रशस्तियो से यह नही सिद्ध होता है कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नहीं। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर-सूरि से अर्हद्दास जी ने

---

१ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४६।

२ महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल, १९६३, पृ० ९५।

३ अलकार-चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृ० ३४।

४ मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशो कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदञ्जनसम्प्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥
—मुनिसुव्रतकाव्य, १०।६५।

सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्मा।
त एव शेषाश्रमिणा सहाय्या धन्या स्युराशाधरसूरिमुख्या ॥
—भव्यजनकण्ठाभरण, २३६।

उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रखा था यह प्रामाणिक प्रतीत नही होता है। क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचनाबद्ध ग्रन्थ सन्दर्भ का भी हो सकता है[1]।" इससे स्पष्ट है कि अर्हद्दास जी आशाधर जी से कुछ काल पश्चात् हुए होंगे। अत उक्त प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि अलकार-चिन्तामणि का लेखन काल विक्रम की चौदहवी शताब्दी का मध्यभाग (ई० सन् १२९३ के आसपास) होगा, यही अजितसेन का लेखन काल भी मानना चाहिए।

अम्बालाल प्रे० शाह ने अलकार चिन्तामणि का लेखन काल ईसा की १८ वी शताब्दी माना है[2]। जो प्रमाणाभाव के कारण अप्रामाणिक प्रतीत होता है।

अजितसेन की सामान्यत दो रचनाएँ मानी जाती हैं—(१) अलकार-चिन्तामणि और (२) शृङ्गारमजरी। ये दोनों अलकार विषयक हैं, इनके अतिरिक्त डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने वृत्तवाद, छन्द प्रकाश और श्रुतबोध इन तीन ग्रन्थो के कर्ता के रूप मे भी प्रस्तुत अजितसेन की सम्भावना व्यक्त की है[3]। लेकिन किसी निश्चित प्रमाण के अभाव मे कुछ भी कहना उचित प्रतीत नही होता है। शृङ्गारमजरी अद्यावधि अप्रकाशित है।

अलकार-चिन्तामणि

अलकार चिन्तामणि अजितसेन का अलंकार विषयक ग्रन्थ है। अलकार-शास्त्र के अन्तर्गत् जिन विषयो का कथन किया जाता है, उन सभी विषयो का समावेश प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया गया है। कही-कही इस ग्रन्थ की भाषा इतनी सरल है कि सस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इसके मर्म को समझ सकता है। किसी भी व्यक्ति को कवि बनने के लिए प्रारम्भ में किसी सामान्य विषय को लेकर पद्य-रचना करने का निर्देश किया गया है, उसका निम्न उदाहरण देखिये कितना सरल है—

शय्योत्थित कृतस्नानो वराक्षतसमन्वित।
गत्वा देवार्चनं कृत्वा श्रुत्वा शास्त्र गृह गत[4]॥

१ मुनिसुव्रतकाव्य, भूमिका, पृ० ३।

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२२।

३ जैन सन्देश (शोधांक २) १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७९।

४ अलंकार-चिन्तामणि, १।१५।

प्रस्तुत पद्य मे एक श्रावक के दैनिक जीवन का स्वाभाविक एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया गया है।

अलकारो के लिए तो यह ग्रन्थ अलकार चिन्तामणि ही सिद्ध होता है। इसके अधिकांश भाग अर्थात् सम्पूर्ण पाँच परिच्छेदों मे से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मे अलकारो का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, शेष प्रथम और पचम मे अन्य विषयो का समावेश है।

जिन अलंकार-शास्त्रो म स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये गये है, उनकी सख्या अल्प है। अत अधिकाश अलकार विषयक ग्रन्थो मे उदाहरणो का चयन अन्य कवियो के ग्र थो से किया गया है। इसमें आलकारिको ने प्राय एक ही सरणी का अनुसरण किया है अर्थात् अपने ग्रन्थो मे उन्ही चुने-चुनाये उदाहरणो को स्थान दिया है, जो परम्परा से प्राप्त हैं। किन्तु अलकार-चिन्तामणि मे प्राय नवीन उदाहरणो का चयन किया गया है, जो लेखक के अथक परिश्रम के द्योतक है। सभी उदाहरण पुराणो और स्तोत्रो से गृहीत होने के कारण लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ को स्तोत्रग्रन्थ की सज्ञा से विभूषित किया है[1]। इसमे अन्य आचार्यों के मतो को भी यत्र-तत्र स्थान दिया गया है।

यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदो मे विभक्त है। प्रथम परिच्छेद मे सर्वप्रथम मंगलाचरण किया गया है, पुन काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, महाकाव्य के वर्णनीय विषय कवि-शिक्षा, वर्णों का शुभाशुभ फल, गणो के देवता, गणो का फल, काव्य के तीन भेद, समस्यापूर्ति का औचित्य और कवि-स्वरूप तथा उसके भेदो पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय परिच्छेद मे शब्दालकार के अन्तर्गत् चित्रालंकार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय परिच्छेद मे शब्दालकार के अन्तर्गत् गृहीत शेष वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक का सभेद वणन किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद मे अलंकार-स्वरूप, गुण और अलकार मे भेद, प्रतीयमान और सादृश्यमूलकता के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण, अलकारो में परस्पर भेद तथा ७० अर्थालकारो का सभेद-सलक्षणोदाहरण विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका उपमालंकार विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

---

१ अत्रोदाहरण पूर्वपुराणादिसुभाषितम्।
पुण्यपुरुषसस्तोत्रपर स्तोत्रमिद तत ॥ —अलकार चिन्तामणि, १।५।

पंचम परिच्छेद मे विविध विषयों का समावेश है। इसमें सर्वप्रथम स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव और व्यभिचारिभावों का सभेद-सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है। पुन. काम की दश अवस्थाएँ, रस-स्वरूप, रस-भेद, प्रत्येक रस के विभावादि भावो का पृथक्-पृथक् निर्देश, प्रसंगवशात् नायिका-स्वरूप और उसके भेद, रसो का परस्पर विरोध, रसो के वर्ण और देवता, रीति-स्वरूप और उसके भेद, शय्या और पाक का स्वरूप, काव्य-सामग्री, शब्द और अर्थ के प्रकार, वृत्तियो का स्वरूप, उसके सोदाहरण भेद, काव्य-भेद और अनेकार्थवाची शब्दो के अर्थ-नियामक संयोगादि का सोदाहरण निरूपण तथा दोष स्वरूप और उसके भेदो का विस्तृत विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् काव्य के २४ गुण, नायक के गुण-भेद, नायक के पीठमर्द आदि अन्य भेद, पुरुषो के युवावस्था मे सत्त्वोत्पन्न आठ गुण आदि पर प्रकाश डाला गया है। परिच्छेद के अन्त में नायिका-भेद, उसकी दूतियाँ तथा स्त्रियों के युवावस्था में सत्त्वोत्पन्न २० अलकारो का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

वाग्भट-द्वितीय

वाग्भट नामधारी अनेक जैनाजैन विद्वानो ने भारतभूमि को अलंकृत किया है। प्रस्तुत आलकारिक काव्यानुशासन आदि अनेक ग्रन्थो के यशस्वी प्रणेता जैनाचार्य वाग्भट द्वितीय हैं। वाग्भट-द्वितीय अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। ये अभिनव-वाग्भट के नाम से भी जाने जाते हैं। प० अमृतलाल शास्त्री[1] एव डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य[2] ने इनका उल्लेख अभिनव-वाग्भट के नाम से ही किया है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा मान्य अनेक वाग्भटो की सूची प्रस्तुत की है, जिसमे काव्यानुशासन और छन्दोनुशासन आदि के कर्ता जैन कुलोत्पन्न नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट का भी उल्लेख किया है।[3] इसी प्रकार प० नाथूराम प्रेमी ने चार वाग्भटो मे से एक को काव्यानुशासन और छन्दोनुशासन का कर्ता स्वीकार किया है।[4]

वाग्भट-द्वितीय का समय विक्रम की १४ वी शताब्दी है, क्योंकि उन्होंने

---

१ आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० २०८।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थखण्ड, पृ० ३७।

३ वाग्भट-विवेचन, पृ० २८१।

४. जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ३३०।

उदात्तालंकार के प्रसंग में स्वोपज्ञ आलंकारिक नामक टीका में अलकार-महोदधि से एक पद्य उद्धृत किया है, जो अलंकार-महोदधि के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाया जाता है[१]। अलकार-महोदधि का लेखन समाप्ति काल वि०सं० १२८२ है[२]। इसी प्रकार प० आशाधर जी की रचना "राजीमती विप्रलम्भ" अथवा 'राजीमती परित्याग' के कुछ पद्यो का उल्लेख भी इसमे किया गया है[३]। प० आशाधर जी के अनगारधर्मामृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीका का लेखन काल वि० स० १३०० है[४]। अत वाग्भट-द्वितीय का समय उपर्युक्त विद्वानों के पश्चात् विक्रम की चौदहवी शताब्दी मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है। वाग्भट का यही समय प० नाथूराम प्रेमी को भी अभीष्ट है[५]।

वाग्भट-द्वितीय मेदपाट (मेवाड) निवासी नेमिकुमार के पुत्र और मक्कलप तथा महादेवी के पौत्र थे[६]। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्रीराहड था, जिनके प्रति वाग्भट को अगाध श्रद्धा थी[७]। इनके पिता नेमिकुमार ने अपने द्वारा उपार्जित द्रव्य से राहडपुर मे उत्तुङ्ग शिखर वाला भगवान् नेमिनाथ एव नलोटकपुर मे २२ देवकुलिकाओ से युक्त आदिनाथ का मदिर बनवाया था[८]।

आचार्य वाग्भट-द्वितीय ने अनेक नवीन और सुन्दर नाटको एव महाकाव्यो के अतिरिक्त छन्द तथा अलकार विषयक ग्रन्थो का निर्माण किया है[९]। काव्यानु-

---

१ आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० २०८।

२ नयनवसुसूर १२८२ वर्षे निष्पन्नाया प्रमाणमेतस्या।

—अलकारमहोदधि, ग्रन्थकार प्रशस्ति, पद्य ११।

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थ खण्ड, पृ० ३९।

४ वही, पृ० ४३।

५ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३३१।

६ काव्यानुशासन-वाग्भट, अलकारतिलक-वृत्ति, पृ० १।

७ वही, पृ० १।

८ वही, पृ० १।

९ (क) श्रीमन्नेमिकुमारस्य नदनो विनिर्मितानेकनव्यभव्यनाटकच्छन्दोऽलकार महाकाव्यप्रमुखमहाप्रबन्धबन्धुरो पारतरशास्त्रसागरसमुत्तरणतीर्थायमानधिषणीसमभ्यस्तसमस्तानवद्यविद्या विनोदकन्दलितसकलकलाकलापसपदुद्भटो महाकवि श्रीवाग्भटोऽभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वमुपक्रमते।

—वही, पृ० १-२।

शासन के अतिरिक्त उनकी दो अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं—(१) ऋषभदेव-चरित महाकाव्य और (२) छन्दोऽनुशासन। जिनका उल्लेख काव्यानुशासन (पृ० १५, २० क्रमश) मे मिलता है। इनका विषय-विवेचन नाम से ही स्पष्ट है।

काव्यानुशासन

काव्यानुशासन महाकवि वाग्भट-द्वितीय का अलंकार विषयक ग्रन्थ है। इसकी रचना सूत्र शैली मे की गई है। इस पर उन्होंने अलकार-तिलक नामक स्वोपज्ञवृत्ति की भी रचना की है जिससे विषय को समझने में सहायता मिलती है। इस पर हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन की छाया स्पष्ट प्रतीत होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच अध्यायो मे विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में काव्य प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य शिक्षा, काव्य-स्वरूप, महाकाव्य, मुक्तक, रूपक, आख्यायिका और कथा आदि का स्वरूप निरूपण किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे सर्वप्रथम निरर्थक आदि १६ शब्द–दोषो का विवेचन किया गया है। ये दोष पद और वाक्य दोनो मे होते हैं। बीच-बीच में दोष-परिहार का भी उल्लेख किया गया है। पुन विसन्धि आदि वाक्य दोषों और कष्ट-अपुष्ट आदि अर्थ दोषो का निरूपण किया गया है। अन्त म कान्ति-सौकुमार्य आदि दस गुणो का विवेचन कर वैदर्भी, गौडी और पाचाली नामक तीन रीतियो का सलक्षण विवेचन है।

तृतीय अध्याय मे जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि ६३ अर्थालंकारों का सभेद निरूपण किया गया है। इसमे कितने ही अन्य, अपर, विहित आदि नवीन अलकारो का समावेश किया है।

चतुर्थ अध्याय मे चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्त-वदाभास नामक शब्दालंकारो का भेद-प्रभेद सहित विवेचन किया है।

पञ्चम अध्याय मे सर्वप्रथम नव रसों का सांगोपांग निरूपण किया है। पुन स्वशब्दोक्ति आदि दस रस-दोषो का दिग्दर्शन कराया गया है। तत्पश्चात् नायक के धीरोदात्तादि चार भेद, धीरललित के अनुकूल शठ, धृष्ट और दक्षिण

(ख) नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जितस्फारोदारयशः,
प्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रयः।
श्रीमन्नेमिकुमारसूनुरखिलप्रज्ञालुचूडामणिः,
काव्यानामनुशासनं वरमिदं चक्रे कविर्वाग्भटः ॥—वही, पृ० ६८ ।

नायक चार प्रभेद, नायक के गुण, नायक के अनुचर, नायिका-भेद, स्त्री की आठ अवस्थाएँ, दस कामावस्थाएँ, और कालादि-औचित्यों का विवेचन किया गया है।

मण्डन-मन्त्री

मण्डन का नाम प्राय मण्डन मन्त्री के रूप मे जाना जाता है। ये श्रीमाल[1] वश मे पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम बाहड और पितामह का नाम झांझड़ था। ये बड़े प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् और राजनीतिज्ञ थे। श्रीमन्त कुल मे उत्पन्न होने के कारण उनमे लक्ष्मी एव सरस्वती का अभूतपूर्व मेल था। ये उदार और दयालु प्रकृति के थे। अल्पवय मे ही मण्डन मालवा मे मांडवगढ़ के बादशाह होशग के कृपापात्र बन गये थे और कालान्तर मे उनके प्रमुख मन्त्री बने। सम्राट होशग इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध थे। राजकार्य के अतिरिक्त बचे समय को मण्डन विद्वत्-सभाओ मे ही व्यतीत करते थे। ये प्रत्येक विद्वान् और कवि का बहुत सम्मान करते थे तथा उनको भोजन-वस्त्र एव योग्य पारितोषिक आदि देकर उनका उत्साहवर्धन करते थे। मण्डन संगीत के विशेष प्रेमी थे। इसके अतिरिक्त वे ज्योतिष, छन्द, अलंकार, न्याय, व्याकरण आदि अन्य विद्याओ मे भी निपुण थे। मण्डन की विद्वत्सभा मे कई विद्वान् एवं कुशल कवि स्थायी रूप से रहते थे, जिनका समस्त व्यय वह स्वय वहन करते थे। मण्डन के द्वारा लिखे एव लिखवाये गये ग्रन्थो की प्रतियो मे प्रदत्त प्रशस्तियो से ज्ञात होता है कि मण्डन विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी तक जीवित थे।[2]

मण्डन ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे से निम्न ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं—(१) कादम्बरी दर्पण, (२) चम्पूमण्डन, (३) चन्द्रविजयप्रबन्ध,

---

१ श्रीमद्वन्यजिनेन्द्रनिर्भरतते श्रीमालवंशोभ्रते
श्रीमद्वाहडनन्दनस्य दधत श्रीमण्डनाख्या कवे ।
काव्येकौरवपाण्डवोदयकथारम्ये कृतौ सद्गुणे
माधुर्यं पृथु काव्यमण्डन इतं सर्गोऽप्रमाणोऽभवत् ॥
—काव्यमण्डन, प्रथम सर्ग—अन्तिम प्रशस्ति।

२ श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मन्त्रीमंडन और उनका गौरवशाली वंश' —पृ० १२८, १३४।

(४) अलंकारमण्डन, (५) काव्यमण्डन, (६) शृङ्गारमण्डन, (७) संगीतमण्डन, (८) उपसर्ग-मण्डन, (९) सारस्वतमण्डन, (१०) कविकल्पद्रुम[1] ।

अलकारमण्डन

प्रस्तुत कृति मण्डन मन्त्री की अलकार विषयक रचना है । इसमें उन्होंने अलंकार-शास्त्रीय विषयो का समावेश किया है, जो नाम से ही स्पष्ट है ।

अलंकार-मण्डन पाँच परिच्छेदों मे विभाजित है । इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, उसके प्रकार और रीतियो का निरूपण है । द्वितीय परिच्छेद मे दोषो का वर्णन है । तृतीय परिच्छेद में गुणों का स्वरूप-दर्शन है । चतुर्थ परिच्छेद मे रसो का निदर्शन है । पचम परिच्छेद मे अलकारो का विवरण है ।[2]

भावदेवसूरि

आचार्य भावदेवसूरि प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे । उनका समय ई॰स॰ की चौदहवी शताब्दी का उत्तरार्ध और पन्द्रहवी शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इन्होंने पार्श्वनाथ-चरित की रचना वि॰सं॰ १४१२ मे श्रीपत्तन नामक नगर मे की थी, जिसका उल्लेख पार्श्वनाथ-चरित की प्रशस्ति में किया गया है ।[3] भावदेवसूरि के गुरु का नाम जिनदेवसूरि था ।[4] ये कालिकाचार्य सन्तानीय खण्डिल्लगच्छ की परम्परा के आचार्य थे ।[5]

आचार्य भावदेवसूरि ने अलंकार विषयक 'काव्यालकारसारसग्रह' के अतिरिक्त और कितने तथा कौन-कौन से ग्रन्थो की रचना की है, यह स्पष्ट नही कहा जा सकता है । क्योंकि इन ग्रन्थो मे परस्पर एक दूसरे का कही भी

---

१ श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मंत्रीमण्डन और उनका गौरवशाली वंश', पृ॰ १३३ ।

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ॰ ११८ ।

३ तेषां विनेयविनयी [redacted] भावदेव सूरि प्रसन्न जिनदेवगुरुप्रसादात् ।
श्रीपत्तनाख्यनगरे रवि विश्ववर्षे पार्श्वप्रभोश्चरितरत्नमिव ततान ॥
—पार्श्वनाथ-चरित, प्रशस्ति, १४ ।

४ वही ।

५. आसीत् स्वामिसुधर्मसन्ततिभवो देवेन्द्रवन्द्यक्रम.,
श्रीमान् कालिकसूरिरद्भुतगुण ग्रामाभिराम पुरा ।
जीयादेष तदन्वये जिनपति-प्रासाद तुंगाचल,
भ्राजिष्णुर्मुनिरत्नगौरवनिधि खण्डिल्लगच्छाम्बुधि ॥ वही, प्रशस्ति, ४ ।

उल्लेख नही है, किन्तु 'पार्श्वनाथ-चरित'[1] 'जइदिणचरिया (यति-दिन-चर्या)'[2] और 'कालिकाचार्यकथा'[3] नामक ग्रन्थो मे कालिकाचार्य-सन्तानीय भावदेवसूरि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अत यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता प्रस्तुत भावदेवसूरि ही होगे। उपर्युक्त समय निर्धारण उनके 'पार्श्वनाथ-चरित' के आधार पर किया गया है।

अगरचन्द नाहटा के एक लेख[4] से ज्ञात होता है कि भावदेवसूरि पर एक रास की रचना की गई है, जिसमे उनके शीलदेव आदि १८ स्थविर शिष्यों का उल्लेख है। रास मे यह भी कहा गया है कि स० १६०४ मे भावदेवसूरि को प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त उक्त लेख से यह भी ज्ञात हुआ है कि अनूप सस्कृत लाइब्रेरी मे सूरि जी के शिष्य मालदेव रचित 'कल्पान्तर्वाच्य' नामक ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है जिसकी रचना स० १६१२ या १४ मे की गई है, उसकी प्रशस्ति के एक पद्य[5] मे कालकाचरित का उल्लेख है इत्यादि। उक्त रास के नायक भावदेवसूरि को स० १६०४ मे प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी तथा 'पार्श्वनाथ-चरित' के रचयिता भावदेवसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' की रचना स० १४१२ मे की है। इन दोनो तिथियो मे पर्याप्त अन्तराल है। अत उक्त दोनो आचार्यों को एक ही मानना युक्ति सगत प्रतीत नही होता है। सम्भव है प्रशस्ति बाद मे जोडी गई हो और लिपिकार ने भावदेवसूरि की प्रसिद्धि के कारण प्रमादवशात् कालकाचरित का उल्लेख करने वाले उक्त पद्य का समावेश कर दिया हो।

---

१ पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति, ५,१४।

२ सिरीकालिकसूरीणं वसुव्यव भावदेवसूरीहि।
सकलिया दिणचरिया एसा योवमइजग(ई) जोग्गा॥
—यति दिनचर्या–प्रान्ते, गा० १५४ (अलकार-महोदधि, प्रस्तावना, पृ० १७)।

३ तत्पादपद्ममधुपा' विज्ञा श्रीभावदेवसूरीणा।
श्री कालकाचरित पुन कृत मे स्वर्गी पुर्त्यें॥
—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १४, किरण २, पृ० ३८।

४ 'भावदेवसूरि एव लाहौर के सुलतान सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य'—यह लेख जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग १४, किरण २ के ३७ पृष्ठ पर प्रकाशित है।

५ तत्पादपद्ममधुपा —स्वर्गी' पूर्त्यें। —जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १४, किरण २, पृ० ३८।

काव्यालंकारसार-संग्रह

आचार्य भावदेवसूरि विरचित 'काव्यालंकारसार-संग्रह' नामक ग्रन्थ संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण है। इसमे आचार्य भावदेवसूरि ने प्राचीन ग्रन्थो से सारभूत तत्त्वो को ग्रहण कर सग्रहीत किया है।[1] यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिसकी विषयवस्तु निम्न प्रकार है—

प्रथम अध्याय मे काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-स्वरूप का निरूपण किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे मुख्य, लाक्षणिक और व्यंजक नामक तीन शब्द-भेद, उनके अभिधा, लक्षणा और व्यजना नामक तीन अर्थभेद तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य नामक तीन व्यापारो का सक्षेप मे विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय मे श्रुतिकटु, च्युतसस्कृति आदि ३२ पद-दोषो का निरूपण किया गया है। ये ३२ दोष वाक्य के भी होते हैं। तत्पश्चात् अपुष्टार्थ-कष्ट आदि आठ अर्थदोषो का नामोल्लेख कर किंचित् विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे सर्वप्रथम वामन सम्मत दस गुणो का विवेचन कर भामह और आनन्दवर्धन सम्मत तीन-गुणो का विवेचन किया गया है। पुन शोभा, अभिधा, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्ति, युक्ति, कार्य और सिद्धि नामक आठ काव्य-चिन्हो का विवेचन किया है।

पचम अध्याय में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास नामक छ शब्दालंकारो का सोदाहरण निरूपण किया है।

षष्ठ अध्याय मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि ५० अर्थालंकारो का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय मे पांचाली, लाटी, गौडी और वैदर्भी नामक चार रीतियो का निरूपण किया है।

अष्टम अध्याय मे भाव, विभाव, अनुभाव आदि का मात्र नामोल्लेख है।

पद्मसुन्दरगणि

श्वेताम्बर जैन विद्वान् पं० पद्मसुन्दरगणि नागौरी तपागच्छ के प्रसिद्ध

---

१ आचार्य भावदेवेन प्राच्यशास्त्र महोदधे।
आदाय साररत्नानि कृतो अलंकार-सग्रह ॥
—काव्यालंकारसार-संग्रह, ८/८।

भट्टारक यति थे। इनके गुरु का नाम पद्ममेरु और प्रगुरु का नाम आनन्दमेरु था। पद्मसुन्दरगणि को मुगल बादशाह अकबर की सभा में बहु-सम्मान प्राप्त था। उनकी परम्परा के परवर्ती भट्टारक यति 'हर्षकीर्तिसूरि' की 'धातुतरंगिणी' के पाठ से ज्ञात होता है कि उन्होंने बादशाह अकबर की सभा में किसी महा-पण्डित को पराजित किया था, जिसके सम्मान स्वरूप उन्हें बादशाह अकबर की ओर से रेशमी वस्त्र, पालकी और ग्राम आदि भेंट में प्राप्त हुए थे, वे जोध-पुर के हिन्दू नरेश मालवदेव द्वारा सम्मानित थे।[1] इतना ही नहीं इनके गुरु पद्ममेरु और प्रगुरु आनन्दमेरु को क्रमश अकबर के पिता हुमायूँ और पितामह बाबर की राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।[2]

पद्मसुन्दरगणि ने (अकबरसाहि)-शृङ्गार दर्पण की रचना वि० सं० १६२६ के आसपास की है तथा श्वेताम्बराचार्य हीरविजय की बादशाह अकबर से भेंट वि० सं० १६३९ में हुई थी, उस समय पद्मसुन्दरगणि का स्वर्गवास हो चुका था।[3] अत पद्मसुन्दरगणि का समय विक्रम की १७वीं (ईसा की १६वीं का उत्तरार्ध) शताब्दी मानना उपयुक्त होगा।

पद्मसुन्दरगणि ने साहित्य, नाटक, कोष, अलंकार, ज्योतिष और स्तोत्र विषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् राय-मल्ल से उनकी प्रगाढ़ मैत्री थी। इसलिए उन्होंने कुछ ग्रन्थों की रचना राय-मल्ल के अनुरोध पर भी की है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—राय-मल्लाभ्युदयकाव्य, यदुसुन्दर महाकाव्य, पार्श्वनाथचरित, जम्बूचरित, राज-

---

१ साहे ससदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापण्डित,
क्षौमग्राम-सुखासनाभकबर श्रीसाहितो लब्धवान्।
हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योधिक,
श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवच पद्माह्वय पाठकम्॥
—जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० ३९५ का सन्दर्भ।

२ मान्यो बाप (ब) र भूभुजोऽत्र जयराट् तद्वत् हुमाऊँ नृपो-
त्यर्थं प्रीतिमना सुमान्यमकरोदानंदरायाभिव।
तद्वत्सा हि शिरोमणेरकबरक्ष्मापाल-चूडामणे-
र्मान्य पंडितपद्मसुन्दर इहाभूत पंडितव्रातजित्॥
—अकबरसाहि-शृङ्गारदर्पण-भूमिका, पृ० २०।

३ जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ३९६।

प्रश्नीय नाट्यपदभंजिका, परमतव्यवच्छेदस्याद्वादद्वात्रिंशिका, प्रमाणसुन्दर, सारस्वतरूपमाला, सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव, हायन-सुन्दर, षड्भाषागर्भितनेमिस्तव, वरमंगलिकास्तोत्र, भारतीस्तोत्र, भविष्यदत्तचरित और ज्ञान-चन्द्रोदय नाटक आदि। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इनकी केवल दो ही रचनाओं का उल्लेख किया है। भविष्यदत्त-चरित और रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य।[1] जबकि पं० नाथूराम प्रेमी[2] और डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[3] ने इनकी अन्य कृतियो का भी सप्रमाण उल्लेख किया है।

अकबरसाहि शृंगार दर्पण

प्रस्तुत अलकारशास्त्र विषयक ग्रन्थ मुगल बादशाह अकबर की प्रशंसा में रचा गया है। इसके प्रत्येक उल्लास के अन्त में अकबर प्रशस्ति-पद्यों की रचना की गई है। अकबरसाहिशृङ्गार-दर्पण की तुलना दशरूपक और नाट्य-दर्पण से की जा सकती है, क्योंकि इसमे नाट्यशास्त्रीय तत्वो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। चार उल्लासो मे विभाजित इस ग्रन्थ में कुल ३४५ पद्य हैं।

प्रथम उल्लास मे कवि ने सर्वप्रथम आठ पद्यों मे अकबर के पूर्वजों तथा अकबर का विरुदगान किया है। पुन नवरस, स्थायीभाव गणना, रस-लक्षण तथा व्यभिचारी भावो और सात्विक भावो की संख्या का निर्देश किया है। शृंगाररस स्वरूप, उसके भेद-प्रभेदो का सोदाहरण निरूपण, नायक-स्वरूप, सलक्षणोदाहरण नायक-भेद, नर्मसचिव-स्वरूप, उसके पीठमर्द, विट और विदूषक इन तीन भेदो का निरूपण, नायिका-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

द्वितीय उल्लास मे परकीया के दो भेद बतलाये गये हैं—कन्या और ऊढा। पुन परवधू द्वारा नायक के अनेक प्रकार से दर्शनों का अनुभव करने का उल्लेख है। तत्पश्चात् अन्यदीयकन्या-स्वरूप, मुग्धा (नायिका) चेष्टा, उद्धतमन्मथा, दुःखसंस्था, पणांगना तथा स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसज्जिका अभिसन्धिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, अभिसारिका एवं प्रोषितपतिका इन आठ नायिका भेदों के सोदाहरण लक्षण दिए हैं। इसी क्रम मे उत्तम, मध्यम और अधम नायिकाओं का सलक्षणोदाहरण निरूपण किया गया है।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृ० ८३।

२. द्रष्टव्य—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९६—३९७।

३ द्रष्टव्य—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ९७।

तृतीय उल्लास मे विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद—पूर्वानुराग, मानात्मा, प्रवास और करुण, काम की दस अवस्था—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडत्व और मरण, शृ गाराभास, परस्त्रीसंगमोपाय मान के तीन भेद—गुरु, मध्य और लघु, मानिनी नायिका को मनाने के छ उपाय—साम, दान, भेद, उपेक्षा, प्रणति और प्रसग विभ्रम आदि का विवेचन किया गया है। पुन पति के लिए अनुराग पूर्वक तथा अप्रीतिपूर्वक प्रयुक्त नामो का उल्लेख किया गया है। अन्त मे प्रवास विषयक वर्णन है।

चतुर्थ उल्लास मे सर्वप्रथम विप्रलम्भ के चतुर्थ भेद करुण का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है। पुन प्रतिवेश्मा, नटी, चेटी, कारु, धात्री, शिल्पिनी, बाला और तपस्विनी आदि नायिका की सखियो (सहायिकाओ) के नाम, उनके गुण तथा कौतुक, मण्डन, रक्षा, उपालम्भ, प्रसादन, सहयोग और विरह मे आश्वासन आदि सखियो के कार्यों का उल्लेख, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्तरस का सभेद स्वरूप, उदाहरण तथा उनके अनुभाव आदि का वर्णन विरोधी रस समावेश और शृ गार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक तथा अद्भुत रस मे पाये जाने वाले भावो का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती इन चार रीतियो का निरूपण किया गया है। इसी क्रम मे काव्य दूषण, प्रत्यनीक-रस, विरस, दु सन्धानरस, नीरसकाव्य, दुष्टपात्र आदि का वर्णन किया गया है।

सिद्धिचन्द्रगणि

सिद्धिचन्द्रगणि अपने समय के महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। ये तापगच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्रगणि के शिष्य थे। भानुचन्द्रगणि और सिद्धिचन्द्रगणि को मुगल बादशाह अकबर के दरबार में समान रूप से सम्मान प्राप्त था। सिद्धिचन्द्रगणि शतावधानी थे। उनके प्रयोग देखकर बादशाह अकबर ने 'खुशफहम' (तीक्ष्ण बुद्धि) की मानप्रद उपाधि प्रदान की थी,[1] जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचित प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से होती

१ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० ५५४।

है[1]। इन प्रशस्तियो से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने प्रभाव के द्वारा शत्रुंजय तीर्थ पर लगे हुए कर को माफ कराया था तथा सिद्धाचल पर्वत पर मंदिर निर्माण कार्य में बाधक राजकीय निषेधाज्ञा को भी हटवाया था[2]।

सिद्धिचन्द्रगणि अपने गुरु भानुचन्द्रगणि के अनेक साहित्यिक अनुष्ठानों के सहयोगी थे[3]। बाणभट्ट रचित कादम्बरी पर अपने गुरु के साथ लिखी गई इनकी टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस टीका के अध्ययन से इनके कोश विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, ये षट् शास्त्रो के ज्ञाता तथा फारसी के अध्येता थे[4]।

सिद्धचन्द्रगणि ने धातुमंजरी नामक ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६५० (ई० सन् १५९३)[5] और काव्यप्रकाश-खण्डन की रचना वि० सं० १७०३ (ई० सन् १६४६)[6] मे की थी तथा वासवदत्ता की टीका संवत् १७२२ (ई० सन् १६६५)[7] में की थी। अत इनका साहित्यिक-काल उक्त तिथियो के मध्य मानना होगा। इतना लम्बा साहित्यिक काल इनके दीर्घजीवी होने का पुष्ट प्रमाण है।

---

१ कादम्बरी-टीका उत्तरार्द्ध की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है—इति श्रीपादशाहश्रीअकबरजलालदीनसूर्यसहस्रनामाध्यापकश्रीशत्रुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृत विधायकमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिस्तच्छिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधकप्रमुदितपादशाहश्रीअकबरप्रदत्तखुष्फहम अपराभिधानमहोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां कादम्बरीटीकायुत्तरखण्डटीका समाप्ता।

—भानुचन्द्रगणिचरित—सिद्धिचन्द्रकृतग्रन्थ प्रशस्त्यादि, पृ० ५८।

२ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० ५५४।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २१९।

४. कर्ता शतावधानानां विजेतोन्मत्तवादिनाम्।
वेत्ता षडपि शास्त्राणामध्येता फारसीमपि॥

—(भक्तामरस्तोत्रवृत्ति,) भानुचन्द्रगणिचरित, पृ० ५९।

५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ४५।

६ संवत् १७०३ वर्षे आश्विन सुदि ५ गुरौ लिखितम्—काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० १०१। भानुचन्द्रगणि चरित संगृहीत काव्यप्रकाश खण्डन की प्रशस्ति में लेखन काल संवत् १७२२ लिखा है। —भानुचन्द्रगणि चरित, पृ० ६२।

७ वही, पृ० ६१।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि सिद्धिचन्द्रगणि एक महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। इन्हें व्याकरण-न्याय और साहित्य-शास्त्र का ठोस ज्ञान था। जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचे गये साहित्य से होती है। सूक्ति-रत्नाकर इनके गहन अध्ययन और पाण्डित्य का द्योतक है। उनके द्वारा विरचित अद्यावधि ज्ञात ग्रन्थो की सख्या १९ है, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—कादम्बरी उत्तरार्द्ध टीका, शोभनस्तुति टीका, वृद्धप्रस्तावोक्ति-रत्नाकर, भानुचन्द्र-चरित, भक्तामरस्तोत्र-वृत्ति, तर्कभाषा-टीका, जिनशतक-टीका, वासवदत्ता-टीका, काव्य-प्रकाश-खण्डन, अनेकार्थोपसर्ग-वृत्ति, धातुमजरी, आख्यातवाद-टीका, प्राकृत-सुभाषित संग्रह, सूक्तिरत्नाकर, मगलवाद, सप्तस्मरणवृत्ति, लेखलिखनपद्धति और सक्षिप्त कादम्बरी कथानक[1]। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश खण्डन में काव्य-प्रकाश पर लिखी गई गुरु नामक बृहद् टीका का भी उल्लेख मिलता है[2]।

काव्यप्रकाशखण्डन

आचार्य मम्मट विरचित काव्यप्रकाश का सीधा सीधा अर्थ लगाना ही दुष्कर है, पुन उसका खण्डन करना तो और भी अतिदुष्कर है। किन्तु आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ने काव्यप्रकाश का खण्डन कर अपनी प्रखर बुद्धि का मेरुदण्ड स्थापित किया है। इन्होने काव्यप्रकाश के उन्ही स्थलों का खण्डन किया है, जिनमे उनकी असहमति थी। प्रस्तुत रचना के कारणो पर प्रकाश डालते हुए मुनि जिनविजय ने लिखा है कि—'महाकवि मम्मट ने काव्य-रचना विषयक जो विस्तृत विवेचन अपने विशद ग्रन्थ मे किया है, उसमे से किसी लक्षण, किसी उदाहरण, किसी प्रतिपादन एव किसी निरसन सम्बन्धी उल्लेख को सिद्धिचन्द्रगणि ने ठीक नही माना है और इसलिये उन्होने अपने मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत रचना का निर्माण किया[3]। अत इस ग्रन्थ के अध्ययन से उनकी नवीन मान्यताओ पर प्रकाश पडता है, जिनमे वैराग्य की झलक दृष्टिगोचर होती है।

काव्यप्रकाश-खण्डन काव्यप्रकाश की तरह दस उल्लासो म विभक्त है। इसमे प्रत्येक उल्लास के विषय का उसी क्रम मे खण्डन किया गया है, जिस

१ भानुचन्द्रगणिचरित—इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७१-७४।

२ अस्मत्कृतबृहट्टीकातोऽवसेय (पृ० ३) गुरुनाम्ना बृहट्टीकात, पृ० ९४।

३ काव्यप्रकाश-खण्डन—किंचित् प्रास्ताविक, पृ० ३।

क्रम से आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश मे विषय-वस्तु का गुम्फन किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सिद्धिचन्द्रगणि ने उन्ही विषयो का खण्डन किया है, जिनमें उनकी असहमति है।

प्रथम उल्लास मे सर्वप्रथम 'नियतिकृत नियमरहिता—' । इत्यादि मंगलाचरण का खण्डन किया है, जिसमे यह कहा गया है कि कवि की सृष्टि मे भी छन्द, रस, रीति, भाषा और उपमान का बन्धन होता है तथा काव्य सुख-दुःख और मोहात्मक स्वरूप वाला ही सम्भव है। इसी प्रकार काव्य की चतुर्वर्ग का साधन स्वीकार करते हुए यश-प्राप्ति आदि काव्य प्रयोजनों का खण्डन किया है। पुन काव्य-स्वरूप का खण्डन कर विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' इस काव्य-स्वरूप का समर्थन किया है। अन्त मे रसवादियो द्वारा मान्य काव्य के चित्र-भेद नामक तृतीय भेद का खण्डन किया है।

द्वितीय उल्लास मे व्यजना का खण्डन करके महिमभट्ट आदि की तरह द्वितीयार्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा स्वीकार की है।

तृतीय उल्लास मे आर्थी-व्यजना के कुछ भेदो का उल्लेख कर खण्डन किया है।

चतुर्थ उल्लास मे शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत इन चार रसो को स्वीकार करते हुए, शेष करुणादि रसों का खण्डन किया गया है। जिसमे बतलाया है कि करुण के मूल मे शोक होने से रस नही है। बीभत्स में मांस-पूय आदि की उपस्थिति से वमन आदि नही होता है यही आश्चर्य है, पुन परमानन्द रूप रस कहाँ सम्भव है। इसी प्रकार भय मे रसास्वादन कहाँ ? शान्त के मूल में सर्व विषयो का अभाव होने से रस नहीं है तथा वीर और रौद्र मे विभावादि साम्य के कारण अभेद होने से रौद्र को पृथक् रस नही माना है।

पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य-काव्य के भेदों का उल्लेख प्रस्तुत कर समीक्षा की है।

षष्ठ उल्लास मे चित्रकाव्य के शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र इन दो भेदो का समर्थन किया है।

सप्तम उल्लास मे दोष-स्वरूप का खण्डन करते हुए दो दोषों को स्वीकार किया है—(१) कथनीय का अकथन, और (२) अकथनीय का कथन। पुन विषय के स्पष्टीकरण हेतु दोषो का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख कर कुछ दोषो का

पूर्व दोषो मे अन्तर्भाव किया है तथा कुछ का नवीनो के मत को प्रस्तुत करते हुए खण्डन किया है। अर्थदोषों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त पदादि दोषों मे किया गया है। अन्त मे रसदोषो का उल्लेख किया है। इस प्रसग मे भी खण्डन-शैली पूर्वोक्त प्रकार है।

अष्टम उल्लास मे सर्वप्रथम गुण और अलकारो का भेद प्रदर्शन किया गया है। गुण-स्वरूप प्रसंग मे नवीनो के अनुसार रस के उत्कर्षाधायक हेतु रसधर्म को स्वीकार किया है। पुन माधुर्यादि तीन गुणो का विवेचन कर वामन सम्मत दस गुणो का उल्लेख किया है तथा रसोत्कर्षक होने से दस शब्द-गुणो को स्वीकार किया है। इसी प्रकार दस अर्थगुणों का भी समर्थन किया है और नवीनो के मत को उद्धृत करते हुए आस्वाद के हेतु भूत गुणो का अपलाप करने वाले काव्यप्रकाशकार का खण्डन किया है।

नवम उल्लास मे शब्दालकारो का विवेचन किया गया है।

दशम उल्लास मे अर्थालकारो का विवेचन किया गया है। जिसमे कतिपय अलकारो का विभिन्न अलकारो के अन्तर्गत समावेश किया गया है। यथा-व्याघात का विरोध मे अन्तर्भाव आदि।

अप्रकाशित (अमुद्रित), अनुपलब्ध एवं टीका ग्रन्थ

कविशिक्षा—यह आचार्य बप्पभट्टसूरि (वि० सं० ८००-८९५) की कृति है। जो अद्यावधि अनुपलब्ध है[१]।

कल्पलता—यह वि० सं० १२०५ से पूर्व रचित अम्बाप्रसाद की कृति है[२]।

कल्पलता-पल्लव—(सकेत) यह अम्बाप्रसाद की अपनी कृति कल्पलता पर रचित कल्पपल्लव नामक टीका है[३]।

कल्पपल्लवशेष-विवेक—यह भी अम्बाप्रसाद की अपनी कृति कल्पलता पर पर स्वोपज्ञ टीका है[४]।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०० ।

२ वही, पृ० १०३ ।

३ वही, पृ० १०५ ।

४ वही, पृ० १०५ ।

वाग्भटालंकार-वृत्ति—वाग्भट प्रथम के वाग्भटालंकार पर रचित जैन एवं जैनेतर आचार्यों की लगभग १७ टीकाएँ प्राप्त होती हैं। टीकाकारों के नाम निम्न प्रकार हैं—(१) सिंहदेवगणि,[१] (२) सोमदेवगणि,[२] (३) उपाध्याय राजहंस,[३] (४) ज्ञानप्रमोदगणिवाचक,[४] (५) जिनवर्धन सूरि,[५] (६) उपाध्याय समयसुन्दरगणि,[६] (७) मुनिक्षेमहंसगणि,[७] (८) आचार्य वर्द्धमानसूरि,[८] (९) मुनिकुमुदचन्द्र,[९] (१०) मुनिसाधुकीर्ति,[१०] (११) अज्ञातनामा[११] मुनि, (१२) वादिराज,[१२] (१३) प्रमोदमाणिक्यगणि,[१३] (१४) उपाध्याय

---

१ यह टीका निर्णयसागर प्रेस, बम्बई एवं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है।

२ इस टीका की हस्तलिखित प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद मे है।
—द्रष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०६।

३ इस टीका की हस्तलिखित प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना मे है।
—द्रष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०७।

४ इस टीका की हस्तलिखित प्रति अहमदाबाद के डेला भंडार मे है।
—वही, पृ० १०७।

५ इस टीका की हस्तलिखित प्रति लालभाई दलपतभाई जैन संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद मे है। —वही, पृ० १०७।

६ द्रष्टव्य . जिनरत्नकोश, पृ० ३४७।

७. यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।
—द्रष्टव्य अलंकार शास्त्र की परम्परा, पृ० १२०।

८. द्रष्टव्य . जैन ग्रन्थावली, पृ० ३१२।

९ वही, पृ० ३१२।

१०. इस टीका की रचना वि० सं० १६२०-२१ मे हुई है।
—द्रष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८।

११. द्रष्टव्य जिनरत्नकोश, पृ० ३४७।

१२ इस टीका की रचना वि० सं० १७२९ मे हुई है।
—द्रष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८।

१३ वही, पृ० १०८।

मेरुसुन्दर[1], (१५) उदयसागर,[2] (१६) जैनेतर विद्वान् गणेश[3] और (१७) कृष्णवर्मा[4]।

अलंकार चूडामणि वृत्ति—यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन पर रचित उपाध्याय यशोविजयगणिकृत वृत्ति है, जो अभी तक अनुपलब्ध है[5]।

काव्यानुशासन वृत्ति—यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन पर रचित विजयलावण्यसूरिकृत वृत्ति है, जिसका प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है[6]।

काव्यानुशासन अवचूरि—यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन पर रचित विजयसुशीलसूरिकृत अवचूरि है।[7]

कविशिक्षा—यह विक्रम की १३वी शताब्दी मे रचित आचार्य जयमंगलसूरि की कृति है। इसकी तालपत्रीय प्रति शान्तिनाथ भंडार, खंभात मे है।[8]

कविता रहस्य—यह अरिसिंह की रचना है, जिसका उल्लेख अमरचन्द्र-सूरि ने काव्यकल्पलता-वृत्ति मे किया है,[9] जो अभी तक अनुपलब्ध है।

काव्यकल्पलता परिमल वृत्ति—यह अमरचन्द्रसूरि द्वारा रचित काव्य-कल्पलता पर स्वोपज्ञ वृत्ति है, जिसकी दो हस्तलिखित अपूर्ण प्रतियाँ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद मे हैं[10]।

---

१ इस टीका की वि० सं० १५३५ की हस्तलिखित प्रति स्टेट लाइब्रेरी, जोधपुर मे है।
—मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, द्वितीयखंड, पृ० ३६।

२ इस टीका की १७ वी शताब्दी की हस्तलिखित प्रति सरस्वती भंडार, उदयपुर मे है। —वही, पृ० ३६।

३ यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।
—द्रष्टव्य अलंकारशास्त्र की परम्परा, पृ० १२०।

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८।

५. वही, पृ० १०३।

६ वही, पृ० १०३।

७ वही, पृ० १०३।

८ वही, पृ० १०४-१०६।

९ काव्यकल्पलता वृत्ति, पृ० १।

१० जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११४।

काव्यकल्पलतामञ्जरी वृत्ति—यह श्री अमरचन्द्रसूरि द्वारा रचित काव्य-कल्पलता पर स्वोपज्ञ वृत्ति है, जो अभी तक अनुपलब्ध है[1]।

काव्यकल्पलता वृत्ति मकरन्द टीका—यह अमरचन्द्रसूरि की काव्य-कल्पलता पर वि० स० १६६५ मे शुभविजय जी द्वारा रचित मकरन्द नामक टीका है, जिसकी प्रतियाँ जैसलमेर के भंडार और अहमदाबाद स्थित डाह्या पटेल की पोल के उपाश्रय में है[2]।

काव्यकल्पलता वृत्ति टीका—यह उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा अमरचन्द्रसूरि की काव्य कल्पलता पर रचित टीका है[3]। इसकी प्रति अहमदाबाद में विमलगच्छ के उपाश्रय में है[4]।

काव्यकल्पलता वृत्ति बालावबोध—मेमिचन्द्र भडारी नामक विद्वान् ने अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता पर प्राचीन गुजराती में बालावबोध नामक वृत्ति लिखी है[5]।

अलकार-प्रबोध—यह आचार्य अमरचन्द्रसूरि की कृति है,[6] जो अद्यावधि अनुपलब्ध है।

शृगारमजरी—यह आचार्य अजितसेन की कृति है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने इसका लेखन काल १२४५ ई०[7] तथा प० अम्बालाल प्रे० शाह ने विक्रम की दसवी शताब्दी माना है[8]। डॉ० जैन अलकार-चिन्तामणि और शृगारमंजरी इन दोनो के रचयिता एक ही अजितसेन को मानते हैं, किन्तु प० शाह भिन्न-भिन्न रचयिता मानते है। प० शाह के अनुसार अलकार-चिन्तामणि के रचयिता अजितसेन ईसा की अठारहवी शताब्दी के विद्वान् हैं[9]।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११४।

२ वही, पृ० ११४।

३ जिनरत्नकोश, पृ० ८९।

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११५।

५ वही, पृ० ११५।

६. द्रष्टव्य . काव्यकल्पलता वृत्ति, पृ० ११६।

७ जैन सन्देश (शोधांक २), १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७९।

८ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १००।

९. वही, पृ० १२२।

काव्यकल्पलता वृत्ति बालावबोध—यह मुनि मेरुसुन्दर द्वारा अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता वृत्ति पर वि० स० १५३५ मे प्राचीन गुजराती में रचित बालावबोध नामक टीका है[1]।

अलकार-सग्रह—यह अमृतानन्द योगिन् की रचना है। इसे भ्रमवशात् कन्नड जैन कवि अमृतनन्दी की रचना मान लिया है[2]। यथार्थ में यह कृति जैनेतर आचार्य की है। इसका प्रकाशन 'दी अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास' से सन् १६४६ मे व्ही० कृष्णमाचार्य और के० रामचन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में हो चुका है। इसके उपोद्घात के अध्ययन से जैनाचार्य की कृति होने का सन्देह समाप्त हो जाता है।

कविमुखमण्डन—यह प० ज्ञानमेरु द्वारा रचित कृति है, इसकी रचना विक्रम की १७ वी शताब्दी मे हुई है, जिसकी प्रति उपलब्ध है[3]।

कविमद परिहार—यह शान्तिचन्द्र की कृति है, इसकी रचना वि० सं० १७०० के आसपास हुई है[4]।

कविमद परिहार वृत्ति—यह शान्तिचन्द्र की कविमदपरिहार पर रचित स्वोपज्ञ वृत्ति है[5]।

मुग्धमेधालकार—इसके रचयिता रत्नमण्डनगणि हैं। इसका लेखन काल १७ वी शताब्दी है तथा इसकी प्रति भाडारकर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, पूना मे है[6]।

मुग्धमेधालकार वृत्ति—यह किसी विद्वान् द्वारा मुग्धमेधालकार पर रचित वृत्ति है, जिसकी प्रति भांडारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट पूना, मे है[7]।

काव्यलक्षण—यह अज्ञातकर्तृक रचना है[8]।

कर्णालकार मजरी—यह त्रिमल्ल नामक किसी विद्वान् की रचना है[9]।

प्रक्रान्तालंकार वृत्ति—यह जिनहर्ष के शिष्य की रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के भंडार मे है[10]।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११५।

२ वही, पृ० ११७-११८। ३ वही, पृ० १२१।

४ वही, पृ० १२१। ५ जिनरत्नकोश, पृ० ८२।

६ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२१।

७ वही, पृ० १२२। ८ जैन ग्रन्थावली, पृ० ३१६।

९ वही, पृ० ३१५। १० जिनरत्नकोश, पृ० २५७।

अलंकार चूर्णि—यह किसी अज्ञात विद्वान् की रचना है, जिसकी प्रति सूरत में उपलब्ध है[1]।

अलकार-चिन्तामणि वृत्ति—यह अजितसेन की कृति अलंकार-चिन्तामणि पर रचित किसी अज्ञात विद्वान् की टीका है, जो मैसूर में उपलब्ध है[2]।

वक्रोक्ति पञ्चाशिका—यह रचना रत्नाकार नामक विद्वान् की है[3]।

रूपक मजरी—यह विक्रम सवत् १६४४ में रचित रूपचन्द्र की कृति है[4]।

रूपक माला—इस नाम की तीन कृतियाँ पाई जाती हैं। उनमें से प्रथम की रचना उपाध्याय पुण्यनन्दन ने की है, जिस पर समयसुन्दरगणि ने वि० सं० १६६३ मे वृत्ति की रचना की है, द्वितीय कृति की रचना पार्श्वनाथसूरि ने वि० स० १५८६ मे की है। तृतीय कृति की रचना किसी अज्ञातनामा मुनि ने की है[5]।

काव्यादर्श वृत्ति—महाकवि दण्डी रचित काव्यादर्श पर त्रिभुवनचन्द्र अपर नाम वादीसिंहसूरि ने टीका की रचना की है। इसकी वि० स० १७५८ की हस्तलिखित प्रति बँगला लिपि में है।[6]

काव्यालकार वृत्ति—महाकवि रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु नामक श्वेताम्बर जैन विद्वान् ने वि० सं० ११२५ मे वृत्ति लिखी है[7], जो हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है।

काव्यालकार निबन्धन वृत्ति—दिगम्बर जैन विद्वान् पंडितप्रवर आशाधर

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १७।

२ वही, पृ० १७।

३ जैन ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१२।

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृष्ठ १२३।

५ वही, पृ० १२३।

६ वह, पृ० १२३-१२४।

७ पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः ।
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितं ॥
—काव्यालंकारवृत्ति-अन्तिमप्रशस्ति, पृ० ४२८।

ने वि० स० १२९६ के आसपास रुद्रट के काव्यालकार पर निबन्धन नामक वृत्ति लिखी थी, जिसका उल्लेख सागारधर्मामृत की प्रशस्ति मे मिलता है।[1]

काव्यप्रकाश सकेत वृत्ति—आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश पर माणिक्य-चन्द्रसूरि ने वि सं० १२६६ मे सकेत नामक वृत्ति लिखी है।[2] यह काव्यप्रकाश पर लिखी गई समस्त टीकाओ से प्राचीन है। इसका प्रकाशन आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना से हुआ है।

काव्यप्रकाश टीका—यह विक्रम की १६वी शताब्दी मे मुनि हर्षकुल द्वारा मम्मट के काव्यप्रकाश पर रचित टीका है।[3]

सारदीपिका वृत्ति—यह मम्मट के काव्यप्रकाश पर रचित गुणरत्नगणि की सारदीपिका नामक टीका है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भांडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना[4] एव बीकानेर[5] मे उपलब्ध हैं।

काव्यप्रकाश वृत्ति—यह मम्मट के काव्यप्रकाश पर जयानन्दसूरि द्वारा रचित वृत्ति है।[6]

काव्यप्रकाश वृत्ति—यह उपाध्याय यशोविजयगणि द्वारा काव्यप्रकाश पर रचित वृत्ति है, जिसका लेखन काल १७वी शताब्दी है। इसका थोडा अंश अभी मिला है।[7]

काव्यप्रकाश गुरु टीका—यह मम्मट के काव्यप्रकाश पर रचित गुरु नामक बृहत् टीका सिद्धिचन्द्रगणि की रचना है, जिसका उल्लेख काव्यप्रकाश खण्डन मे किया गया है।[8] अत इसका रचना काल वि० स० १७१४ के पूर्व होना चाहिए।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२४।
२ वही, पृ० १२५।
३ वही, पृ० १२५।
४ वही, पृ० १२५।
५ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि, अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।
६ जिनरत्नकोश, पृ० ९०।
७ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२६।
८ काव्यप्रकाश खण्डन, पृ० ३ और १४।

काव्यप्रकाश टीका (नवमोल्लासस्य)—यह काव्यप्रकाश के मात्र नौवें उल्लास पर लिखी गई समयमाणिक्य की रचना है। इसका लेखन काल वि० सं० १८८४ है, जिसकी हस्तलिखित प्रति बड़ा भण्डार, बीकानेर मे उपलब्ध है।[1]

सरस्वतीकण्ठाभरण वृत्ति (पदप्रकाश)—भोजराजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण पर आशाम्बरिक पार्श्वनाथ के पुत्र आजड ने पदप्रकाश नामक टीका की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के भण्डार मे खण्डित अवस्था मे है।[2]

विदग्धमुखमण्डन-अवचूरि—बौद्ध विद्वान् धर्मदास के विदग्ध मुखमण्डन पर अनेक जैनाचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं, जिसमें जिनप्रभसूरि ने १४वीं शताब्दी मे उक्त ग्रन्थ पर एक अवचूरि लिखी है।[3]

विदग्धमुखमण्डन टीका—यह विदग्धमुखमण्डन पर रचित शिवचन्द्र की सुबोधिका नामक टीका है। इसकी रचना वि० सं० १६६९ मे हुई है।[4]

विदग्धमुखमण्डन वृत्ति—मुनि विनयसागर ने वि० स० १६९९ में विदग्धमुखमण्डन पर एक वृत्ति लिखी है, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।[5]

विदग्धमुखमण्डन वृत्ति—विनयरत्न ने १७वीं शताब्दी में विदग्धमुख-मण्डन पर वृत्ति की रचना की है।[6]

विदग्धमुखमण्डन टीका—मुनि भीमविजय ने विदग्धमुखमण्डन पर एक टीका लिखी है, जो सूरत मे उपलब्ध है।[7]

विदग्धमुखमण्डन अवचूरि—अज्ञातनामा किसी जैन मुनि ने विदग्ध-

---

१ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२७।

३ मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२८।

५ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२८।

७ जिनरत्नकोश, पृ० ३५५।

मुखमण्डन पर अवचूरि लिखी है। अवचूरि के प्रारम्भ में 'स्मृत्वा जिनेन्द्रमपि' लिखा है। अतः जैन मुनि की रचना होने का अनुमान है।[१]

विदग्धमुखमण्डन टीका—ककुदाचार्य सन्तानीय किसी मुनि ने विदग्धमुखमण्डन पर एक टीका लिखी है। जिसका उल्लेख अगरचन्द नाहटा ने भारतीय विद्या, वर्ष २, अक ३ मे 'जैनेतर ग्रन्थों पर जैन विद्वानो की टीकाएँ' शीर्षक लेख में प्रकाशित किया है।[२]

विदग्धमुखमण्डन बालावबोध—उपाध्याय मेरुसुन्दर ने विदग्धमुखमण्डन पर प्राचीन गुजराती पर बालावबोध नामक टीका लिखी है। यह वि० की १६वीं शताब्दी की रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति कोटडी भण्डार, जोधपुर में उपलब्ध है।[३]

विदग्धमुखमण्डन दर्पण—रत्नमूर्ति के शिष्य उपाध्याय श्रीवल्लभ ने विक्रम की १७वीं शताब्दी मे विदग्धमुखमण्डन पर 'दर्पण' नामक टीका की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति अभय भण्डार, बीकानेर मे उपलब्ध है।[४]

अलकारावचूर्णि—यह किसी अज्ञातनामा जैन मुनि की अज्ञात ग्रन्थ पर लिखी गई अवचूर्णि है।[५]

अनूपशृंगार—यह उदयचन्द्र द्वारा रचित वि० स० १७२८ की रचना है, जिसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।[६]

भाव शतक—यह उपाध्याय समयसुन्दर की कृति है, जिसका लेखन काल वि० सं० १६४१ है। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में उपलब्ध है।[७]

रसमञ्जरी—यह विक्रम की १७वी शताब्दी मे रचित शिवनिधान के

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२८।
२ वही, पृ० १२८।
३ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।
४ वही पृ० ३६।
५ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२९।
६ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।
७ वही, पृ० ३६।

शिष्य महिमसिंह (मानकवि) की रचना है, जिसकी हस्तलिखित प्रति अभय भण्डार, बीकानेर मे उपलब्ध है।[१]

चतुरप्रिया—यह वि० स० १७०४ में लिखित दयारत्नवाचकपल्लीय के शिष्य कीर्तिवर्द्धन (केशव) की रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति राजस्थान शोध सस्थान, चौपासनी मे उपलब्ध है।[२]

पाण्डित्यदर्पण—यह वि० स० १७३४ मे लिखित उदयचन्द्र की रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।[३]

रसिकप्रिया टीका—यह समयमाणिक्य (समरथ) की रचना है, जिसका लेखनकाल वि० स० १७५५ है। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर मे उपलब्ध है।[४]

१ वही, पृ० ३६।
२ वही, पृ० ३६।
३ वही, पृ० ३६।
४. वही, पृ० ३६।

२ | कवि और काव्य

कवि

जिस काव्य के रसास्वादन से सहृदय को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उस काव्य के रचयिता अर्थात् कवि का स्वरूप क्या है ? इसकी जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। इस विषय मे अलकार-शास्त्रियो ने दो प्रकार से विचार व्यक्त किए हैं। प्रथम कोटि मे वे लोग आते हैं जिन्होने कवि का स्वरूप स्पष्ट रूप से लिख दिया है —जैसे आचार्य राजशेखर विनयचन्द्रसूरि, विजयवर्णी एव अजितसेन आदि। द्वितीय कोटि मे वे लोग आते है जिन्होने काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप का निरूपण किया है—जसे आचार्य भामह, दण्डी, मम्मट, वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय एव भावदेवसूरि आदि।

अलकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य भामह ने कवि का स्वरूप स्पष्ट रूप से न कहकर काव्य-कारण के व्याज से कहा है। उन्होने लिखा है कि—व्याकरण, छन्द, अभिधान (कोश) अर्थ, इतिहास के आश्रित कथाएँ, लोक व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओ का काव्य-रचना के लिये कवि को मनन करना चाहिए[1]। यह सम्पूर्ण विवेचन व्युत्पत्ति के अन्तर्गत आता है, अत जिस व्यक्ति को उपर्युक्त विषयो का ज्ञान हो वह अभ्यास के माध्यम से कविता कर सकता है अर्थात् वह कवि है। राजशेखर ने 'कवृ वर्णने' धातु से कवि की उत्पत्ति मानी है, जिसका अर्थ होता है वर्णन-कर्त्ता अर्थात् जो वर्णन करे वह कवि कहलाता है[2]। इसके अतिरिक्त उन्होने अन्यत्र लिखा है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि, कवि कहलाता है[3]। आचार्य दण्डी ने काव्य-सम्पदा के कारणो के व्याज से कवि की योग्यता का परिचय देते हुए लिखा है कि—

---

१ काव्यालकार, भामह, १।९।

२ काव्यमीमासा, पृ० १७।

३. प्रतिभाव्युत्पत्तिमाश्च कवि कविरित्युच्यते। —काव्यमीमांसा, पृ० ४३।

स्वभावोत्पन्न प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल श्रुताध्ययन और उसकी बहु-योजना ही काव्य-सम्पदा है[1] अर्थात् दण्डी के अनुसार प्रतिभा और श्रुताभ्यास ये दोनों कवि मे होना अनिवार्य है । आचार्य मम्मट ने यद्यपि कवि के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा है तथापि काव्य-कारण के व्याज से उन्होंने कवि की योग्यता अवश्य कह दी है । तदनुसार हम कह सकते हैं कि स्वाभाविक प्रतिभा (शक्ति), लौकिकशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता एवं काव्य-रचना को जानने वाले गुरु की देख-रेख में काव्य निर्माण का अभ्यास इन तीन गुणो से युक्त व्यक्ति कविता करने की योग्यता रखता है[2] अर्थात् वह कवि कहलाने का अधिकारी है ।

इस प्रसग मे जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने यद्यपि कवि का स्वरूप स्पष्ट नहीं कहा है तथापि वे काव्य-कारण के व्याज से प्रतिभा को ही कवि की योग्यता मानते हैं[3] । इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्य-कारण के व्याज से प्रतिभा को ही कवि की योग्यता स्वीकार किया है[4] अर्थात् कवि वह है जो प्रतिभावान् हो । इसके समर्थन मे उन्होंने भट्टतौत के काव्यकौतुक से उद्धरण देते हुए लिखा है कि—नवीन-नवीन अर्थों के उन्मेषक प्रज्ञाविशेष का नाम प्रतिभा है तथा उससे अनुप्राणित वर्णन करने मे निपुण कवि कहलाता है[5] । आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए कवि मे प्रतिभा का होना आवश्यक माना है[6] । इसके समर्थन मे उन्होंने भी भट्टतौत के काव्य कौतुक से उक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है[7] । विनयचन्द्रसूरि ने कवि की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—शब्द और अर्थ को मानने वाला तत्त्वो का ज्ञाता, माधुर्य, ओज आदि गुणो का साधक, दक्ष,

---

१ काव्यादर्श, १।१०३ ।

२ शक्तिर्निपुणतालोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। —काव्यप्रकाश, १।३ ।

३ वाग्भटालकार, १।३ ।

४ काव्यानुशासन, १।४ ।

५ वही, १।३। वृत्ति ।

६ अलकार-महोदधि, १।७ ।

७ प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता ।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णना निपुण कवि ।। —वही, १।७ वृत्ति ।

वाग्मी, नवीन अर्थों का उद्योतक, शब्द, अर्थ और वाक्य के दोषों का ज्ञाता, चित्रकार, कवि-मार्ग का अनुसरण करने वाला, अलंकार और रस का ज्ञाता, धन्यसौहृद एवं षड्भाषाओं के नियमो में निष्णात, षड्दर्शनों का ज्ञाता, नित्याभ्यासी, लौकिक वस्तुओं का ज्ञाता और छन्द-शास्त्रज्ञ कवि कहलाता है[1]। कवि की उपर्युक्त परिभाषा में विनयचन्द्रसूरि की मान्यता है कि कवि को सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता होना आवश्यक है, चाहे वे लौकिक हो या अलौकिक, गुण हो या दोष, रस हों या अलकार, व्याकरण हो या दर्शन। नाना विषयों का समावेश ही उसकी पूर्णता है। कवि का इतना स्पष्ट और बृहद् स्वरूप अन्यत्र देखने में नहीं आया है।

आचार्य विजयवर्णी ने कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है कि—प्रतिभा-शक्ति सम्पन्न तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त अठारह स्थलो का वर्णन करने में निपुण व्यक्ति कवि है अथवा शक्ति, निपुणता और कवि-शिक्षा इन तीनो से युक्त तथा रस-भाव के परिज्ञान रूप गुणो से युक्त कवि है[2]। इस तरह विजयवर्णी ने कवि-स्वरूप का निरूपण दो प्रकार से किया है। लेकिन इनमे पहला प्रकार महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमे प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और अठारह स्थलों का वर्णन करने की बात कही गई है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो अठारह स्थलो का वर्णन करने की निपुणता रूप कथन का प्रतिभा में ही अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु विजयवर्णी द्वारा निरूपित कवि-स्वरूप में अठारह स्थलो के वर्णन की चर्चा का अपना महत्त्व है। वे अठारह स्थल कौन से हैं? इसका विवेचन करते हुए आचार्य अजितसेन ने लिखा है कि—चन्द्रोदय, सूर्योदय, मंत्र, दूत-सम्प्रेषण, जलक्रीडा, कुमारोदय, उद्यान, समुद्र, नगर, ऋतु, पर्वत, सुरत, युद्ध, प्रयाण, मधुपान, नायक-

---

१ शब्दार्थवादी तत्त्वज्ञो माधुर्यौज प्रसाधक ।
वक्षो वाग्मी नवार्थानामुत्पत्तिप्रियकारक ॥
शब्दार्थवाक्यदोषज्ञश्चित्रकृत् कविमार्गवित् ।
ज्ञातालकारसर्वस्वो रसविद् धन्यसौहृदी ॥
षड्भाषाविधिनिष्णात षड्दर्शनविचारवित् ।
नित्याभ्यासी च लोकज्ञश्छन्द शास्त्रपटिष्ठधी ॥

—काव्यशिक्षा, ४।१५३-१५५।

२ शृंगारार्णव-चन्द्रिका, २।१-२।

नायिका की सखी, विदीर्ण और विदग्ध के अठारह वर्णनीय विषय कुछ लोग मानते हैं।[1]

आचार्य अजितसेन ने कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है कि—प्रतिभाशाली, नाना प्रकार के वर्णनों में कुशल, अलंकार में निपुण, नाना विषयों के अध्ययन से कुशाग्रबुद्धि और व्युत्पत्तिमान् कवि कहलाता है।[2] अजितसेन के इस कवि-स्वरूप में मात्र काव्य-कारणों का ही समावेश है। इसी प्रकार आचार्य वाग्भट द्वितीय[3] और भावदेवसूरि[4] ने भी काव्य-कारण के माध्यम से ही कवि का स्वरूप अथवा उसकी योग्यता का निरूपण किया है।

उपर्युल्लिखित विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा निरूपित कवि-स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कवि का जैसा स्पष्ट स्वरूप आचार्य विनयचन्द्रसूरि ने 'काव्यशिक्षा' में निरूपित किया है, वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आया है। यद्यपि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कवि-स्वरूप निरूपण का उत्तम प्रयास किया है तथापि वह उतना स्पष्ट नहीं है, जितना अपेक्षित था। विनयचन्द्र का कवि-स्वरूप निरूपण संक्षिप्त और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इनके द्वारा इस प्रकार कवि-स्वरूप में १८ स्थलों का गिनाना क्या सूचित करता है? क्या इस प्रकार कवि के स्वरूप को हम बाँध सकते हैं? यदि नहीं, तो केवल शक्ति या प्रतिभा आदि सामान्य कथन ही उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से इतना तो स्पष्ट है कि कवि को प्रत्येक विषय का सांगोपांग ज्ञान होना चाहिए, तभी वह प्रत्येक विषय पर साधिकार कलम चलाने में समर्थ हो सकता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कुछ आचार्यों ने काव्य-कारण के माध्यम से कवि का स्वरूप अथवा उसकी योग्यता का वर्णन किया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह काव्य-कारण और कुछ नहीं, केवल कवि के

---

१. चन्द्रार्कोदयमन्त्रदूतसलिलक्रीडाकुमारोदयो-
द्यानाम्भोधिपुरर्तुशैलसुरताजीनां प्रयाणस्य च।
वर्ण्यत्वं मधुपानलायकपदव्योर्विप्रलम्भस्य च
काव्येऽष्टादशसंख्यकं गुणिनामाहुस्तथापि केचिदिह॥
—अलंकार-चिन्तामणि, १।६८।

२. अलंकारचिन्तामणि, १।७।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २-३, ७।

४. काव्यालंकारसार-संग्रह, १।३-४।

गुणों अथवा उसकी योग्यता का पोषक-पोषण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की योग्यता, बुद्धिमत्ता और प्रतिभा पर ही समस्त काव्य-सर्जना अवलंबित है। अतः स्पष्ट है कि काव्य-निर्माण में कवि की योग्यता महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

कवि-भेद

विभिन्न आचार्यों ने अपनी विचारसरणी के आधार पर कवि-भेद भी प्रस्तुत किए हैं, उनमें राजशेखर अग्रणी हैं। उन्होंने अन्य कई आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए कवि-भेदों पर विस्तार पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है। राजशेखर ने कवि-भेद प्रस्तुत करने में प्रमुख रूप से निम्न छः आधारों को स्वीकार किया है—(१) विषय-विवेचन, (२) अवस्था, (३) काव्य-कला की उपासना, (४) प्रतिभा, (५) रचना की मौलिकता और (६) अर्थापहरण।

विषय-विवेचन—इसके आधार पर सर्वप्रथम तीन भेद किए हैं—शास्त्र-कवि, काव्यकवि और उभयकवि।[१] शास्त्रकवि तीन प्रकार का होता है—शास्त्रों की रचना करने वाला, शास्त्र में काव्य का समावेश करने वाला और काव्य में शास्त्र का समावेश करने वाला। काव्यकवि आठ प्रकार का होता है—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि।[२]

अवस्था—इसके आधार पर दस भेद किए हैं—काव्य-विद्या-स्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता।[३]

काव्यकला की उपासना—इसके आधार पर चार भेद किए हैं—असूर्यम्पश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक।[४]

प्रतिभा—इसके आधार पर तीन भेद किए हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक।[५]

रचना की मौलिकता—इसके आधार पर चार भेद किए हैं—उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक और संवर्गक।[६]

---

१ काव्यमीमांसा, पृ० ४३। २. वही, पृ० ४४।
३ वही, पृ० ४९-५०। ४. वही, पृ० १३०।
५ वही, पृ० ३२। ६. वही, पृ० १३५।

[illegible]—इसके आधार पर पाँच भेद किये हैं—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible]।[1]

जैनाचार्य विजयवर्णी ने केवल काव्य-कवि के भेदों पर विचार किया है। उनके अनुसार काव्य-कवि के सात भेद हैं—(१) रौचिक, (२) वाचिक, (३) आर्थ, (४) शिल्पिक, (५) मार्दवानुग, (६) विवेकी और (७) भूषणार्थी। इनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

रौचिक—जो कवि अपनी रुचि के अनुसार बार-बार शब्द अथवा अर्थ का त्याग अथवा ग्रहण करता है।[2]

वाचिक—शब्दों के आडम्बर मात्र को चाहने वाला।[3]

आर्थ—अर्थवैचित्र्य मात्र को चाहने वाला।[4]

शिल्पिक—शब्द और अर्थ इन दोनों के वर्णन को चाहने वाला।[5]

मार्दवानुग—मृदु शब्दों और अर्थों की रचना करने वाला।[6]

विवेकी—शब्द और अर्थ सम्बन्धी गुण और दोषों को जानने वाला, महाकवियों के मार्ग का ज्ञाता तथा अनेक शास्त्रों में निपुण।[7]

भूषणार्थी—दिव्यालंकार संयोजन में तत्पर।[8]

जैनाचार्य अजितसेन ने कवि के तीन भेद माने हैं—महाकवि, मध्यमकवि और अन्य (अधम) कवि। उनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

महाकवि—काव्यशिक्षा का अनुगामी, सम्पूर्ण रसों और भावों का ज्ञाता तथा शब्दादि सम्पूर्ण काव्यांगों के ज्ञान से असम्बन्धित रहने वाला।[9]

मध्यमकवि—कोई कवि शब्द-सौन्दर्य, कोई अर्थ-सौन्दर्य, कोई समास-युक्त और कोई समास-रहित पद-समूह की इच्छा करते हैं। कोई कोमल रचना चाहते हैं, कोई स्फुट प्रसाद-गुण-विशिष्ट रचना चाहते हैं और कोई मध्यम ढंग की रचना चाहते हैं, वे सभी मध्यम कवि हैं।[10]

अन्य कवि—जो (उपर्युक्त से भिन्न) किसी दूसरी प्रकार की रचना की इच्छा करते हैं।[11]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार राजशेखर ने विभिन्न आधारों को ध्यान में रखते हुए कवि-भेदों का निरूपण किया है, वैसा अन्य

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० १६४।

२. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, २।३।

३–८. वही, २।४–७।

९. अलंकारचिन्तामणि, [illegible]

१०. वही, १।१०४–१०५।

११. वही।

जैनाचार्यों ने नहीं किया है तथापि जैनाचार्य विजयवर्णी द्वारा काव्य-कवियों के भेदों के निरूपण में किया गया प्रयास उत्तम है। जैनाचार्य अजितसेन ने कवि के सामान्य तीन भेद माने हैं। उन्होंने मध्यम कवि के अन्तर्गत अनेक कवि-भेदों का समावेश किया है, जो सामान्यत ठीक है।

काव्य-प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' यह समीचीन उक्ति अतीत से लेकर अद्यावधि प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से ग्राह्य है। इसीलिए प्रत्येक कवि ने अपने ग्रन्थ में अनुबन्ध-चतुष्टय के अन्तर्गत काव्य-प्रणयन के प्रयोजन का उल्लेख किया है अर्थात् काव्य की रचना के मूल में कवि का क्या प्रयोजन है? इसका उल्लेख किया है।

काव्य-शास्त्र में इस परिपाटी का सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है, उसमें उन्होंने धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि वर्धन और लोकोपकारी उपदेश को नाट्य (काव्य) के प्रयोजन स्वीकार किये हैं।[1] भामह ने पुरुषार्थ-चतुष्टय, कलाओं में विलक्षणता, कीर्ति और प्रीति रूप प्रयोजनों को सत्काव्य के निबन्धन का उद्देश्य माना है।[2] दण्डी ने यद्यपि काव्य-प्रयोजनों का स्पष्टोल्लेख नहीं किया है, किन्तु महाकाव्य के लक्षण में उन्होंने महाकाव्य को चतुर्वर्ग-फल-प्रदाता माना है।[3] इससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि दण्डी को महाकाव्य के निबन्धन के मूल में चतुर्वर्गरूप प्रयोजन स्वीकार्य था। वामन ने केवल दो ही प्रयोजन स्वीकार किए हैं—(१) दृष्ट रूप प्रीति (आनन्द) और (२) अदृष्ट रूप कीर्ति (यश)।[4] प्रथम आन्तरिक, दूसरा बाह्य। इस दिशा में मम्मट ने छः प्रयोजन स्वीकार किये हैं—(१) यश की प्राप्ति, (२) धन-लाभ, (३) व्यवहार का बोध, (४) अकल्याण का विनाश, (५) काव्य

---

१ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हित बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥ —नाट्यशास्त्र, १।११५।

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥ —काव्यालंकार, १।२।

३. द्रष्टव्य : काव्यादर्श, १।१५।

४. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
—काव्यालंकार-सूत्र, १।१।५।

पाठ के साथ-साथ शीघ्र ही उच्च-कोटि की आनन्द प्राप्ति और (६) कान्ता-सम्मित उपदेश।[1]

ये विभिन्न आचार्यों द्वारा मान्य काव्य-प्रयोजन कुछ कवि के लिए हैं तथा कुछ पाठक के लिए। इसके अतिरिक्त कुछ प्रयोजन ऐसे भी हैं जो कवि और पाठक दोनों को समान रूप से हितकारी हैं। यथा—मम्मट-निर्दिष्ट अकल्याण का विनाश रूप प्रयोजन। इस प्रसंग में जैनाचार्यों द्वारा मान्य काव्य-प्रयोजन निम्न प्रकार हैं—

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने केवल यश को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है,[2] जो केवल कविनिष्ठ ही है। इससे प्राय यह शंका होती है कि क्या वाग्भट-प्रथम श्रोता अथवा पाठक के लिए काव्य का कोई प्रयोजन नहीं मानते हैं? इसके उत्तर मे मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि पाठक के प्रयोजन काव्य पढ़ने के साथ ही स्वयंसिद्ध हैं। इसीलिए उन्होंने पाठकों के प्रयोजन अपने ग्रन्थ मे निबद्ध नहीं किए हैं। चूंकि कवि की रचना उसकी कीर्ति मे प्राय कारण होती है, अत वाग्भट-प्रथम द्वारा यश को ही काव्य का प्रयोजन मानने का औचित्य ठहरता है। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य के तीन प्रयोजन स्वीकार किए हैं—आनन्द, यश और कान्ता-सम्मित उपदेश।[3] इनमे भी आनन्द को सर्वश्रेष्ठ माना है, यह कवि और सहृदय-उभयनिष्ठ है, यश मात्र कविनिष्ठ है और उपदेश सहृदयनिष्ठ।[4] ये तीनो प्रयोजन मम्मट के काव्य-प्रकाश से गृहीत हैं, शेष मम्मट-सम्मत तीन काव्य-प्रयोजनों का खण्डन करते हुए लिखा है कि धन-प्राप्ति अनैकान्तिक[5] है अर्थात् काव्य से धनप्राप्ति हो

---

१ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य. परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ —काव्यप्रकाश, १।२।

२ काव्यं कुर्वीत कीर्तये। —वाग्भटालंकार, १।२।

३ काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च।
—काव्यानुशासन, १।३।

४. वही, पृ० ३-४।

५ डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि—अनैकान्तिकता का आधार लेकर हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत यश का भी खण्डन किया जा सकता है, क्योंकि यश का एकमात्र हेतु काव्य नहीं है।
—काव्यालंकार (भामह), भूमिका, पृ० ११।

भी सकती है और नहीं भी। व्यवहार-ज्ञान शास्त्रों से भी सम्भव है और अनर्थ-निवारण प्रकारान्तर से भी हो सकता है, अत इनका हमने उल्लेख नहीं किया है—

यशसनैकान्तिकं व्यवहारकौशलं शास्त्रेभ्योऽप्यनर्थनिवारणं प्रकारान्तरेणापीति न काव्यप्रयोजनतयास्माभिरुक्तम्[1] ॥

आचार्य अमरचन्द्रसूरि ने एक उत्कृष्ट आनन्द रूप प्रयोजन ही स्वीकार किया है[2]। इसे ही उन्होंने प्रधान तथा कवि और सहृदय उभयनिष्ठ माना है[3]। यह हेमचन्द्र के एकदेश मत का पोषक है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्राचार्य-सम्मत उक्त तीन प्रयोजनों के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और काम रूप सातिशय (निरर्गल) त्रिवर्ग को काव्य-प्रयोजन माना है[4]। विनयचन्द्रसूरि ने दृष्ट रूप आनन्द और अदृष्ट रूप यश ये दो प्रयोजन माने हैं[5], जिन्हें इनके पूर्ववर्ती आचार्य वामन ने भी स्वीकार किया है। विजयवर्णी ने पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य-प्रयोजन माना है[6], जिसे परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है[7]। वाग्भट-द्वितीय ने प्रमोद (हर्ष), अनर्थ-निवारण, व्यवहारज्ञान, त्रिवर्ग फल-प्राप्ति, कान्तासम्मित उपदेश और कीर्ति रूप छः काव्य-प्रयोजनों को स्वीकार किया है[8]। भावदेवसूरि इष्ट और अनिष्ट का ज्ञान करके उसमें प्रवर्तन और निवर्तन, गुरु और मित्र के सदृश कार्य-साधक, कल्याणकारी, यश और धन-प्राप्ति रूप प्रयोजन मानते हैं[9]। सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट-सम्मत काव्य-

१ काव्यानुशासन, पृ० ३।
२ काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १।
३ वही, पृ० १।
४ अमन्दोद्गतिरानन्दस्त्रिवर्गश्च निरर्गलः।
कीर्तिश्च कान्तातुल्यत्वेनोपदेशश्च तत्फलम् ॥—अलंकार-महोदधि, १।५।
५ . . . तन्मुदे यशसेऽथवा। —काव्यशिक्षा, १।८।
६ धर्मार्थकाममोक्षाख्यसत्फलानां प्रकाशकः। —शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका, १।२७।
७ चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि—साहित्यदर्पण, १।२।
८ काव्यम्। प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च। —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २।
९ इष्टानिष्टेषु तज्ज्ञानां प्रवर्तन-निवर्तनात्।
काव्यं गुरु-सुहृत्-तुल्यं कार्यं श्रेयो यशः श्रियै ॥
—काव्यालंकारसारसंग्रह, १।२।

प्रयोजनों को अस्वीकृत करते हुए परमेश्वर-स्तवनादि रूप चतुर्वर्ग को स्वीकार किया है[1]।

उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भरत मुनि ने आनन्दरूप प्रयोजन को स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार वाग्भट-प्रथम ने मात्र यश रूप प्रयोजन का ही उल्लेख किया है, जब कि अन्य समस्त आचार्यों ने प्रायः आनन्द रूप प्रयोजन को न केवल स्वीकार ही किया है, अपितु सर्वश्रेष्ठ और उभय–(कवि और पाठक) निष्ठ भी घोषित किया है। भरत के सम्बन्ध में हम डॉ० नगेन्द्र के इस मत से सहमत हैं कि—"रस को काव्य का मूल मानने वाले भरत के लिए (भी) प्रीति-आनन्द उपेक्षणीय नहीं हो सकता है[2]।" जहाँ तक वाग्भट-प्रथम द्वारा आनन्द-रूप प्रयोजन के उल्लेख न करने की बात है तो उसके सम्बन्ध में पहले ही संभावना व्यक्त की जा चुकी है कि उनके अनुसार पाठक का प्रयोजन पढ़ने के साथ ही स्वयंसिद्ध है, अतः उसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। अथवा जो बात ऊपर भरत के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात वाग्भट-प्रथम के सम्बन्ध में भी लागू की जा सकती है, क्योंकि उन्हें भी काव्य में रस समान रूप से ग्राह्य है।

काव्य-प्रयोजनों में पुरुषार्थ-चतुष्टय का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है, जिसे जैनाचार्यों में नरेन्द्रप्रभसूरि (त्रिवर्ग), विजयवर्णी, वाग्भट-द्वितीय (त्रिवर्ग) और सिद्धिचन्द्रगणि ने भी मान्यता प्रदान की है। आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि मम्मट-सम्मत अर्थप्राप्ति आदि तीन प्रयोजनों का खण्डन किया है तथापि मम्मट की भाँति आनन्द रूप प्रयोजन को सर्वश्रेष्ठ माना है। अमरचन्द्रसूरि एक आनन्द रूप प्रयोजन को ही स्वीकार करते हैं। विनयचन्द्र-सूरि स्पष्ट रूप से आचार्य वामन के समर्थक प्रतीत होते हैं। वाग्भट-द्वितीय ने मम्मट के अर्थप्राप्ति के स्थान पर त्रिवर्ग फल-प्राप्ति रूप प्रयोजन माना है, शेष पाँच प्रयोजन मम्मट सम्मत ही हैं। भावदेवसूरि प्रायः मम्मट के समर्थक हैं। यद्यपि सिद्धिचन्द्रगणि ने अपने 'काव्यप्रकाश-खण्डन' नामक ग्रन्थ में मम्मट-सम्मत काव्य-प्रयोजनों को 'कुकवित्वकारणम्' कहकर अस्वीकार करते हुए परमेश्वर स्तवनादि रूप से चतुर्वर्ग को स्वीकार किया है, तथापि अन्य के काव्य-

---

१. काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० २।

२. काव्यालंकार सूत्र-भूमिका, पृ० १३।

युक्त खण्डनात्मक शैली में ऐसा तर्क प्रस्तुत नहीं किया है, जो अलंकार-शास्त्रियों को ग्राह्य हो और न ही अपने पक्ष के समर्थन में कोई प्रबल तर्क प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार समस्त काव्य-प्रयोजनों का सम्यक् प्रकार से आलोडन-विलोडन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जैनाचार्यों ने पूर्व स्वीकृत काव्य-प्रयोजनों को आधार मानकर अपना मत प्रस्तुत किया है तथापि वाग्भट-प्रथम द्वारा मान्य एक मात्र यश रूप प्रयोजन अपनी मौलिकता की छाप छोड़ता है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने जो मम्मट-सम्मत छ काव्य-प्रयोजनों में से तीन का सयुक्ति खण्डन कर नवीन विचार प्रस्तुत किया है, वह श्लाघ्य और तथ्य-परक भी है। अत इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

काव्य-हेतु .

काव्य-रचना में जो हेतु अर्थात् कारण हो वह काव्य-हेतु है। सामान्यतया कारण दो प्रकार के होते हैं—निमित्तकारण और उपादानकारण। प्रस्तुत में निमित्तकारण को ही काव्य-हेतु की सज्ञा दी गई है। इसके अभाव मे काव्य की सर्जना सम्भव नही है।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने काव्य-हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुरु के उपदेश से मूर्ख लोग भी शास्त्रो का अध्ययन करने मे समर्थ हैं, किन्तु काव्य किसी प्रतिभावान् व्यक्ति के ही द्वारा कभी-कभी निर्मित होता है। व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकज्ञान, तर्कशास्त्र और कलाओ का काव्य-सर्जना हेतु मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का विशेष रूप से ज्ञान करके काव्य-प्रणेताओ की उपासना और अन्य कवियो की रचनाओ को देखकर काव्य-सर्जना में प्रवृत्त होना चाहिए[1]। यहां क्रमश प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का विवेचन किया गया है। भामह ने व्युत्पत्ति

---

१ गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्य तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत ॥
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया· कथा.।
लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य काव्यक्रियादर ॥

—काव्यालंकार, १।५, ६-१० ।

और अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा पर अधिक बल दिया है। तात्पर्य यह कि वे प्रतिभा को काव्य का अनिवार्य एवं प्रमुख हेतु मानते हैं। दण्डी स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल शास्त्राध्ययन एवं उसकी 'बहुलयोजना' को ही काव्य का हेतु मानते हैं[1]। उन्होंने भामह की तरह प्रतिभा पर अधिक बल न देकर तीनों का समान रूप से महत्त्व स्वीकार किया है। किन्तु उसके ठीक बाद उन्होंने लिखा है कि यदि वह अद्भुत प्रतिभा न भी हो तो भी शास्त्राध्ययन (व्युत्पत्ति) और अभ्यास से वाणी अपना दुर्लभ अनुग्रह प्रदान करती है। कवित्व-शक्ति के कृश होने पर भी परिश्रमी व्यक्ति विद्वानों की गोष्ठी में विहार प्राप्त करता है[2]। इससे ज्ञात होता है कि दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य-रचना स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन ने प्रतिभा का महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि—उस आस्वाद पूर्ण अर्थतत्त्व को प्रकाशित करने वाली महाकवियों की वाणी अलौकिक स्फुरण-शील प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।[3] इतना ही नहीं उन्होंने अव्युत्पत्तिजन्य दोष को प्रतिभा के द्वारा आच्छादित होना भी स्वीकार किया है[4] अर्थात् आनन्दवर्धन ने प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। लोचनकार ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण मे समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं[5]। मम्मट ने काव्य-कारण प्रसंग मे लिखा है कि शक्ति, लोक (व्यवहार) शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और काव्य (की रचना शैली तथा आलोचना पद्धति) को

---

१ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥ —काव्यादर्श, १।१०३।

२ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥
—वही, १।१०४-१०५।

३. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥
—ध्वन्यालोक, १।६।

४. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥ —ध्वन्यालोक, ३।६ वृत्ति।

५. अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा (प्रतिभा)। —वही, लोचन, पृ० १७२।

जानने वाले गुरु की शिक्षा के अनुसार (काव्य-निर्माण) अभ्यास (ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से) उस (काव्य) के विकास (उद्भव) के हेतु हैं[1]। मम्मट ने अपने इन काव्य-हेतुओं में 'हेतु' इस एकवचन का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों मिलकर काव्य के उद्भव में हेतु हैं, पृथक् पृथक् नहीं—

'इति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः'[2]।'

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है तथा शेष व्युत्पत्ति और अभ्यास को क्रमशः विशेष शोभाजनक और शीघ्र काव्य निर्माण में सहायक कहा है[3]। पुनः तीनों का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—प्रसादादि गुणों वाले रमणीय पदों से नवीन अर्थ की उद्भावना करने में समर्थ सत्कवि की सर्वतोमुखी बुद्धि का नाम प्रतिभा है। गुरु-परम्परा से प्राप्त व्याकरणादि शास्त्रों के असाधारण ज्ञान का नाम व्युत्पत्ति है तथा गुरु के समीप में बैठकर निरन्तर अबाध गति से काव्य-रचना करने का नाम अभ्यास है।[4] इसमें अभ्यास के प्रकारों में बतलाया गया है कि काव्य-रचना हेतु सर्व-प्रथम रमणीय सन्दर्भ का निर्माण करते हुए अर्थशून्य पदावली के द्वारा समस्त छन्दों को वश में कर लेना चाहिये।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने केवल प्रतिभा को ही काव्य

---

१ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ —काव्यप्रकाश, १।३ ।

२ वही, १।३ । वृत्ति ।

३ प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥ —वाग्भटालंकार, १।३ ।

४ प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥
शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका ।
प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥
अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः ।
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥ —वही, १।४-६ ।

५. बिभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया ।
वशीकुर्वीत काव्याय छन्दांसि निखिलान्यपि ॥ —वही, १।७ ।

का हेतु स्वीकार किया है।[1] उन्होंने प्रतिभा को ही काव्य का प्रधान कारण माना है, और व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के ही संस्कारक कहा है।[2] प्रतिभा दो प्रकार की होती है—सहजा और औपाधिकी। आवरण के क्षयोपशम मात्र से होने वाली सहजा और मन्त्रादि से उत्पन्न होने वाली औपाधिकी कहलाती है।[3] राजशेखर ने सर्वप्रथम प्रतिभा के दो भेद किए हैं—कारयित्री और भावयित्री। पुनः कारयित्री के तीन भेद माने हैं—सहजा, आहार्या और औपाधिकी।[4] चूँकि हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक माना है, अतः व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के साक्षात् हेतु नहीं हैं, क्योंकि प्रतिभारहित व्युत्पत्ति और अभ्यास निष्फल देखे गए हैं।[5] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने यद्यपि दण्डी का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है तथापि उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दण्डी के 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना...।' इत्यादि कथन का खण्डन अवश्य किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि,[6] अजितसेन[7] और वाग्भट-द्वितीय[8] हेमचन्द्र की तरह व्युत्पत्ति और अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं। भावदेवसूरि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य का हेतु मानते हैं।[9] सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट-सम्मत-काव्य-हेतुओं का खण्डन करते हुए लिखा है कि—'डिम्भादावपि काव्योद्भवदर्शनात्, शक्तेरेव हेतुत्वात्'[10] अर्थात् डिम्भ (बालक) आदि में भी

---

१ प्रतिभास्य हेतुः। —काव्यानुशासन, १।४।

२ व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या। —वही, १।७।

३. साऽवरणक्षयोपशममात्रात् सहजा। मन्त्रादेरौपाधिकी। —वही, १।५-६।

४. काव्यमीमांसा, पृ० १२।

५. अत एव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणं प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः।
दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ॥
—काव्यानुशासन, १।७। वृत्ति।

६. कारणं प्रतिभैवास्य व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता।
बीजं यथांकुरस्येव [illegible]॥ —अलंकारमहोदधि, १।६।

७. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थघटनाघटा।
प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभास्य धीः॥ —अलंकारचिन्तामणि, १।९।

८. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २।

९. शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासस्तस्य हेतुरिति त्रयम्। —काव्यालंकारसार, १।२।

१०. काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० २।

काव्य-सर्जना शक्ति दिखलाई देने से शक्ति (प्रतिभा) ही काव्य का हेतु है। इस खण्डन के मूल मे सिद्धिचन्द्रगणि पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित प्रतीत होते हैं।[1] पण्डितराज जगन्नाथ केवल प्रतिभा को ही काव्य में हेतु मानते हैं, वह कही देवता अथवा महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट रूप होती है और कही विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास से जन्य।[2]

उपर्युक्त काव्य-हेतु विवेचन को ध्यान मे रखते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य भामह ने काव्य-हेतु प्रसग मे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों का समान रूप से उल्लेख किया है, किन्तु प्रतिभा पर अधिक बल दिया है, अत. ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य-हेतुओं मे प्रतिभा को विशिष्ट मानते थे। दण्डी ने यद्यपि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनो को समान रूप से स्वीकार किया है, किन्तु वे कही-कहीं प्रतिभा के अभाव मे भी मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य-रचना स्वीकार करते है। अत इनका मत अन्य समस्त आचार्यों से पृथक् है। आनन्दवर्धन प्रतिभा को ही प्रमुख हेतु मानते हैं। मम्मट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य-हेतु स्वीकार करते हैं, जिसका समर्थन जैनाचार्य भावदेवसूरि ने भी किया है। भावदेवसूरि को छोड़कर शेष समस्त जैनाचार्यों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य-हेतु स्वीकार किया है, जिसका समर्थन परवर्ती प्रमुख विद्वान् पंडितराज जगन्नाथ ने किया है, जो इन मतों की विलक्षणता का परिचायक है।

काव्य-स्वरूप

किसी भी वस्तु का स्वरूप निरूपण करना असम्भव नही तो श्रमसाध्य अवश्य है। सामान्यत वस्तु का स्वरूप तब तक पूर्णत शुद्ध नही माना जाता है, जब तक कि वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषो से रहित न हो। अत जिस स्वरूप में उपर्युक्त दोषो का अभाव होगा, वही शुद्ध स्वरूप माना जायेगा।

प्राचीनकाल से अद्यावधि काव्य के स्वरूप पर विभिन्न आचार्यों ने विचार किया है। उपलब्ध काव्य-स्वरूपों में भामह-कृत काव्य-स्वरूप सबसे प्राचीन है।

---

१ द्रष्टव्य न तु त्रयमेव, बालादेस्तो विनाऽपि केवलान् महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्ते.। —रसगंगाधर, पृ० २९।

२ तस्य (काव्यस्य) कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतु क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्य-करणाभ्यासौ। —वही, पृ० २७-२९।

उनके समय में काव्य-स्वरूप को लेकर विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कोई आचार्य केवल शब्द और कोई केवल अर्थ को काव्य की संज्ञा से अभिहित करते थे। जिसका संकेत कुन्तक आदि परवर्ती आचार्यों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है।[1] भामह ने इसी द्वन्द्व को समाप्त करने की दृष्टि से एक ऐसे काव्य-स्वरूप का विधान किया, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से उचित स्थान मिल सके। भामह के इसी सुदीर्घ चिन्तन का परिणाम था—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[2]।' लेकिन यह काव्य-स्वरूप बुद्धिजीवियों को अधिक ग्राह्य न हो सका। क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त था तथा इसमें सामान्य गद्य-पद्य रचना का भी समावेश सम्भव था। अतः दण्डी ने इसी का परिष्कार करते हुए काव्य-स्वरूप निरूपण किया और लिखा कि—अभिलषित अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदावली का नाम काव्य है।[3] किन्तु भामह और दण्डी के उक्त काव्य-स्वरूपों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अभिलषित अर्थ और पदावली (शब्दावली) भामह के शब्द और अर्थ हैं। अतः दण्डीकृत काव्य-स्वरूप भी उक्त अतिव्याप्ति दोष से मुक्त न हो सका। सम्भवतः शब्द और अर्थ को काव्य मानने वाले इन्हीं आचार्यों की ओर आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्'[4] इस पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत पंक्ति द्वारा संकेत किया है।

इस समय तक विद्वानों का ध्यान केवल काव्य के शरीर तक ही सीमित था। चूँकि शरीर है, इसलिए उसकी आत्मा भी होनी चाहिए। यही सोचकर उत्तरवर्ती विद्वानों ने काव्य की आत्मा पर भी विचार करना प्रारम्भ किया। वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[5] और आनन्दवर्धन का 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति[6]' इसी दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। आनन्दवर्धन का ध्वनि-स्वरूप[7]

१. केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति। केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति।

—वक्रोक्तिजीवित, १।७ वृत्ति।

२ काव्यालंकार, १।१६।

३ शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। —काव्यादर्श, १।१०।

४ ध्वन्यालोक, १।१। वृत्ति।

५. काव्यालंकारसूत्र, १।२।६।

६. ध्वन्यालोक, १।१।

७ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ —वही, १।१३।

[illegible] ही एक उल्लेखनीय काव्य की ओर संकेत करता है। तत्पश्चात् काव्य-स्वरूप पर व्यापक दृष्टि से विचार करने वाले संभवतः आचार्य मम्मट हैं। उन्होंने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण-सहित और कहीं-कहीं (स्पष्ट) अलंकार रहित (साधारणतः अलंकार सहित) शब्द और अर्थ के समूह का नाम काव्य है[1]। इस स्वरूप में मम्मट ने शब्द और अर्थ के 'अदोषौ' आदि विशेषण प्रस्तुत कर निश्चय ही प्रशंसनीय कार्य किया है। यद्यपि परवर्ती आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने उनके काव्य-स्वरूप की कड़ी आलोचना की है तथापि यह उतना त्रुटि-पूर्ण नहीं है, जितना उसे बतलाया गया है। विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि स्वतंत्र चिन्तक आचार्यों को छोड़कर शेष आचार्यों के काव्य-स्वरूपों पर प्रायः मम्मट का प्रभाव लक्षित होता है। समस्त जैनाचार्य प्रायः मम्मट के अनुगामी हैं।

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि—सुन्दर शब्द और अर्थों से युक्त, गुण और अलंकारों से भूषित, स्पष्ट रीति और रसों से युक्त काव्य कहलाता है[2]। इस स्वरूप में मम्मट की अपेक्षा सामान्यतः निम्न तीन विशेष बातें दिखलाई देती हैं—

१ वाग्भट-प्रथम द्वारा स्पष्ट रीति और रस का समावेश।

२ काव्य मे अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानना।

३ अदोषौ विशेषण का अभाव।

हेमचन्द्राचार्य ने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण और अलंकार सहित (कहीं-कहीं अलंकार रहित भी) शब्द और अर्थ काव्य है[3]। मम्मटोल्लिखित और हेमचन्द्रसम्मत काव्य-स्वरूप मे पूर्णतः साम्य है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट-सम्मत काव्य-स्वरूप में कुछ अपनी बात का समावेश करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण, अलंकार और व्यंजना-सहित काव्य कहलाता है[4]। इस स्वरूप मे 'सव्यंजनस्तथा' यह विशेषण दिया

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश, १।४।

२ साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं ·· ॥ —वाग्भटालंकार, १।२।

३. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। —काव्यानुशासन, १।११।

४. निर्दोषः सगुणः सालंकृतः सव्यंजनस्तथा।
शब्दार्थयोर्वैचित्र्यप्रापकता हि विद्यते ॥ —अलंकारमहोदधि, १।१३।

है, जो अत्यन्त [illegible] है। लेकिन [illegible] काव्य में सभी [illegible] है, [illegible] का समावेश होता है? यह विचारणीय है। क्योंकि भावदेवसूरि ने स्वयं काव्य के शब्द-वाक्य वाचक तृतीय भेद के प्रसंग में व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है, जिससे उनका यह काव्य-स्वरूप अव्याप्ति दोष से दूषित है। अतः उक्त विशेषण सदोष है। विनयचन्द्रसूरि ने गुण-सहित शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार किया है[1]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य में गुणों को अत्यधिक महत्त्व देते थे अर्थात् विनयचन्द्रसूरि के अनुसार काव्य में गुणों की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती है, जो वास्तविकता के अनुरूप है। विजयवर्णी ने काव्य-स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण-सहित, रीति, वृत्ति, शय्या और रस से युक्त तथा अलंकार और पाक सहित शब्दार्थ-रचना जिसमें उत्तम हो वह काव्य है।[2] प्रस्तुत स्वरूप में विजयवर्णी ने वृत्ति, शय्या और पाक का प्रथम बार समावेश किया है। इसके पश्चात् आचार्य अजितसेन का समय आता है, उनके समक्ष अनेक आचार्यों के काव्य-स्वरूप विद्यमान थे। अतः उनके मस्तिष्क में एक ऐसा स्वरूप बनाने का संकल्प था, जिसमें सभी प्रमुख आचार्यों के प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश हो, कोई भी तत्त्व उससे अछूता न रह जाए। इसी आकांक्षा को साकार रूप देते हुए उन्होंने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—सुख चाहने वाला, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता और प्रतिभाशाली कवि शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से युक्त शृङ्गारादि नौ रसों के सहित, वैदर्भी इत्यादि रीतियों के सम्यक् प्रयोग से सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थों से समन्वित, श्रुतिकटु इत्यादि दोषों से शून्य, प्रसाद और माधुर्यादि गुणों से युक्त, नायक के चरित्र वर्णन से सम्पृक्त, उभय-लोक हितकारी एवं सुस्पष्ट काव्य ही उत्तम काव्य होता है।[3] यदि प्रस्तुत काव्य-

---

१ शब्दार्थौ सगुणौ काव्यम् ।—काव्यशिक्षा, १।८ ।

२ अदोषः सगुणो रीतिवृत्तिशय्यारसान्वितः ।
सालंकारः सपाकश्च शब्दार्थरचनोत्तमः ॥—शृंगारार्णवचन्द्रिका, १।२३ ।

३. शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम् ।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ॥
लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी,
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम् ॥
—अलंकारचिन्तामणि, १।७ ।

स्वरूप का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व आलंकारिकों में प्रचलित जो रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि रूप पाँच सम्प्रदाय थे, उनका सम्यक्‌रूपेण समावेश किया गया है। इतना स्पष्ट और विस्तृत काव्य-स्वरूप अन्यत्र देखने में नहीं आया है, लेकिन इसका कलेवर इतना बृहत् हो गया है कि सामान्य काव्य-रचना इसके अन्तर्गत न आ सकेगी। वाग्भट-द्वितीय ने दोष-रहित, गुण-सहित तथा प्राय अलंकार जिसमें हों ऐसे शब्दार्थ-समूह को काव्य कहा है[1]। यह मम्मट के काव्य-स्वरूप की पुनरावृत्ति मात्र है। इसी प्रकार भावदेवसूरि सहृदयों के लिए इष्ट, दोष-रहित सद्‌गुणों और अलंकारो से युक्त शब्दार्थ-समूह को काव्य मानते हैं[2]। इस स्वरूप लेखन के मूल मे भी मम्मट के काव्य-स्वरूप की ही भावना प्रधान है। सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप का खण्डन करके साहित्यदर्पणकार के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस स्वरूप का समर्थन किया है[3]। मम्मट सम्मत काव्य-स्वरूप के खण्डन मे उन्होने साहित्य-दर्पणकार के तर्कों का ही सहारा लिया है, उसके सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं कही है।

उपर्युक्त काव्य-स्वरूपो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मम्मट के समय तक काव्य के समस्त अगो पर समान रूप से विचार किया जाने लगा था। चूँकि वाग्भटादि जैनाचार्य उनके परवर्ती है, अत उन्होने भामहादि प्रारम्भिक आचार्यों की तरह मात्र काव्य के शरीर पर ही विचार न कर उसके सम्पूर्ण अगों पर विचार किया है और यही कारण है कि जैनाचार्य-सम्मत काव्य-स्वरूपों पर प्राय मम्मट का प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने मम्मट के काव्य-स्वरूप मे एक-दो नवीन तत्त्वो का समावेश किया है, जिसमे रीति प्रमुख है। किन्तु सामान्यतया विद्वान् रीति को काव्य मे आवश्यक नही मानते हैं। हेमचन्द्राचार्य पूर्णत मम्मट के अनुयायी हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप मे 'सव्यञ्जनस्तथा' यह

---

१ शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय सालंकारौ काव्यम्।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १४।

२ शब्दार्थौ च भवेत्काव्यं तौ च निर्दोष सद्‌गुणौ।
सालंकारौ सतामिष्टावत एतन्निरूप्यते ॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह, १।१।

३. काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० ३।

एक नवीन विवेचन दिया है, जो [illegible] है। [illegible] विनयचन्द्रसूरि ने शब्द और अर्थ का एक 'अनुपम' मात्र विवेचन किया है और उसी से वे काव्य में आवश्यक सभी तत्त्वों का समावेश और अनावश्यक तत्त्वों का परिहार स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। विजयवर्णी ने अपने काव्य-स्वरूप में वृत्ति, शय्या और पाक का प्रथम बार समावेश किया है। अजितसेन ने पूर्व प्रचलित रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि रूप पांच सम्प्रदायों को अपने काव्य-स्वरूप में समान रूप से स्थान दिया है। वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि मम्मट के ही अनुयायी हैं। सिद्धिचन्द्रगणि मम्मट के काव्य-स्वरूप से असहमत हैं, इस प्रसंग में उन्होंने साहित्यदर्पणकार को ही आदर्श माना है।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने अपनी नवीन सूझ-बूझ के साथ काव्य-स्वरूप में कुछ नवीन तथ्यों का समावेश अथवा अनावश्यक का त्याग करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने प्रारम्भ से चली आई परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने का सफल प्रयास किया है तथा काव्य-स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर एक नवीन चेतना का संचार किया है।

काव्य-भेद

अलंकार शास्त्र में काव्य-भेदों का विभाजन विभिन्न आधारों को लेकर किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने चार आधार प्रस्तुत किये हैं[1]—

१—छन्द के आधार पर—गद्य और पद्य।

२—भाषा के आधार पर—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।

३—विषयवस्तु के आधार पर—देवता आदि का चरितवर्णन, कल्पितकथा-प्रसूत, कलाश्रित और शास्त्राश्रित।

४—स्वरूप विधान के आधार पर—सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेय (नाटक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक)।

दण्डी ने छन्द के आधार पर भामह-सम्मत गद्य और पद्य के अतिरिक्त एक मिश्र नामक तृतीय भेद भी स्वीकार किया है,[2] जिसके निदर्शन नाटक आदि हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने चम्पू को भी मिश्र के अन्तर्गत एक नवीन

१ काव्यालंकार, १।१६-१८।
२. काव्यादर्श, १।११।

और स्वतंत्र विधा के रूप में माना है,[1] जिसे परवर्ती हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त दण्डी ने पद्य के अन्तर्गत केवल महाकाव्य माना है, शेष मुक्तक, कुलक, कोश, और संघात को इसी का अंग माना है[2]। उन्होंने गद्य के दो भेद किए हैं—आख्यायिका और कथा।[3] भाषा के आधार पर मान्यता प्राप्त उक्त तीन के अतिरिक्त मिश्र नामक एक चतुर्थ भेद भी दण्डी को अभीष्ट है[4], जिसके उदाहरण नाटक हैं। वामन ने सर्वप्रथम छन्द के आधार पर काव्य के दो भेद माने हैं—गद्य और पद्य[5]। पुन गद्य के तीन भेद किए हैं—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय[6]। जिसमें पद्य भाग की तरह छन्द की गन्ध हो वह वृत्तगन्धि कहलाता है। यथा—'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इसमें वसन्ततिलका नामक छन्द की गन्ध मात्र है[7]। दीर्घ समास रहित ललित पदों का सन्निवेश जहाँ हो वह चूर्ण है और इससे ठीक विपरीत अर्थात् दीर्घ समास युक्त उद्धत पदों वाली रचना उत्कलिकाप्राय है[8]। पद्य के सम, अर्धसम और विषम आदि अनेक भेद किए हैं[9]। पुन वामन ने गद्य-पद्य रूप काव्य के दो भेद माने हैं—अनिबद्ध और निबद्ध। निबद्ध के अन्तर्गत उन्होंने नाटकादि को उत्तम माना है[10]। इस बीच रुद्रट ने एक लघु काव्य का भी उल्लेख किया है,[11] सम्भवत उसी को साहित्यदर्पणकार ने खण्डकाव्य नाम दिया है[12]। यह महाकाव्य का ही एक भेद है।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर भी काव्य-भेदों की गणना होने लगी, जिसका पृथक् विवेचन आगे किया जायेगा। आनन्दवर्धन ने काव्य की शारीरिक रचना को ध्यान में रखकर निम्न भेद किए हैं—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेय, आख्यायिका और कथा[13]। उन्होंने इन काव्य भेदों की रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

---

१. काव्यादर्श १।११।
२ वही, १।१३।
३. वही, १।२३।
४ वही, १।३२।
५. काव्यालंकारसूत्र, १।३।२१।
६. वही, १।३।२२।
७. वही, १।३।२३।
८. वही, १।३।२४-२५।
९. वही, १।३।२६।
१०. वही, १।३।२७,३०।
११ काव्यालंकार—रुद्रट, १६।२।
१२. साहित्यदर्पण, ६।३२९।
१३. ध्वन्यालोक, ३।७ वृत्ति।

भी स्वीकार की है,[1] जिससे उनके द्वारा काव्य के आकार सम्बन्धी काव्य-भेदों की ओर संकेत मिलता है।

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने भाषा को ध्यान में रखकर कुछ उदार दृष्टि अपनाई और उन्होंने काव्य रचना हेतु पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के अतिरिक्त भूतभाषा (पैशाची) को भी समान रूप से स्थान दिया है[2]। इसका कुछ-कुछ संकेत दण्डी के इस कथन से भी मिलता है कि विचित्र अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा में है[3]। वाग्भट-प्रथम ने छन्द के आधार पर तीन भेद किए हैं—गद्य, पद्य और मिश्र[4]। हेमचन्द्र ने इन्द्रियों की ग्राहकता को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम दो भेद किए हैं—प्रेक्ष्य और श्रव्य। प्रेक्ष्य के दो भेद हैं—पाठ्य और गेय। पुनः पाठ्य के १२ भेद हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक। गेय के १३ भेद हैं—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य आदि[5]। आदि पद से शम्या, छलित और द्विपदी आदि का ग्रहण किया गया है[6]। द्विपदी और शम्या का उल्लेख इससे पूर्व भामह ने भी किया है[7]। हेमचन्द्र ने श्रव्य के पाँच भेद किए हैं—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध[8]। इनका विस्तृत विवेचन तत्-तत् शीर्षकों में किया जायेगा। विजयवर्णी ने केवल तीन भेदों का उल्लेख किया है—गद्य, पद्य और मिश्र[9]। इसी प्रकार अजितसेन[10] और वाग्भट-द्वितीय[11] ने भी उक्त तीन भेदों का उल्लेख किया है। पुनः वाग्भट-द्वितीय ने पद्य के

---

१. ध्वन्यालोक, ३।७ वृत्ति।
२. वाग्भटालंकार, २।१।
३. काव्यादर्श, १।३८।
४. वाग्भटालंकार, २।४।
५. काव्यानुशासन, ८।१-४।
६. आदिग्रहणात् शम्याच्छलितद्विपद्यादिपरिग्रहः। —वही, ८।४ वृत्ति।
७. काव्यालंकार, १।२४।
८. श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूरनिबद्धं च।—काव्यानुशासन, ८।५।
९. तत् काव्यं त्रिविधं प्रोक्तं पद्यं गद्यं च मिश्रितम्।
—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, [illegible]।
१०. अलंकारचिन्तामणि, १।६७।
११. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० १५।

—महाकाव्य, मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक और कुलक ये छः भेद, गद्य का आख्यायिका नाम एक भेद तथा मिश्र के रूपक, कथा और चम्पू ये तीन भेद किए हैं[1]। पुनः रूपक के अभिनेय और गेय से दो भेद किए हैं। इसके अनुसार अभिनेय की संख्या दस है, जो हेमचन्द्र-सम्मत पाठ्य के १२ भेदों में से नाटिका और सट्टक को छोड़कर शेष दस हैं। गेय हेमचन्द्र-सम्मत ही हैं।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटकादि दृश्य-काव्यों का बृहद् रूप में उल्लेख किया है, अतः प्रस्तुत में केवल श्रव्य-काव्य के भेद—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध इन पाँच भेदों पर ही विचार किया जा रहा है।

महाकाव्य

सामान्यतः जीवन की समस्त घटनाओं का जहाँ एक साथ विस्तृत विवेचन किया जाता है, ऐसी पद्यमयी रचना का नाम महाकाव्य है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—जो सर्गबन्ध हो, जिसमें महापुरुषों का चरित निबद्ध हो, बड़ा हो, ऐसा ग्राम्य-शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव-सम्पन्न, अलंकार-युक्त, सज्जनाश्रित, मंत्रणा, दूतसम्प्रेषण, प्रयाण, युद्ध-नायक के अभ्युदय और पंचसंधियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय (अक्लिष्ट), वैभव-सम्पन्न, चतुर्वर्ग का निरूपण करने पर भी अधिकता अर्थोपदेश की हो तथा जो लोकाचार और समस्त रसों से युक्त हो, वह महाकाव्य कहलाता है[2]। दण्डीकृत महाकाव्य के स्वरूप[3] में कुछ अन्य नवीन बातों का भी समावेश है। यथा—इसका आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा कथावस्तु के निर्देश से होता है, इसमें सभी सर्गों के अन्त में छन्दों की भिन्नता और लोकानुरंजन आदि प्रमुख हैं। इस लक्षण की एक और अन्य सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ भामह ने महाकाव्य में वर्ण्य कुछ ही विषयों का उल्लेख किया है, वहाँ दण्डी ने निम्न अठारह विषयों का उल्लेख किया है—नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, जलक्रीडा, मधुपान, प्रेम, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मंत्रणा, दूत-प्रेषण, प्रयाण,

---

१. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० १५-१९।

२. काव्यालंकार, १।१९-२१।

३. काव्यादर्श, १।१४-१९।

मधुर और शब्दार्थानुरूप । वर्णन के अभिनव मार्ग का प्रवेश भामह ने इसके पूर्व किया है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यभाषा में निबद्ध, सर्ग के अन्त में भिन्न छन्दों से युक्त सर्ग, आश्वास, संधि और अवस्कन्धक बन्ध में निबद्ध, सत्सन्धि संधियों से युक्त तथा शब्दार्थ-वैचित्र्य सम्पन्न पद्यमयी रचना का नाम महाकाव्य है[1]। शब्दार्थ-वैचित्र्य की व्याख्या हेमचन्द्र ने निम्न प्रकार की है—

शब्दवैचित्र्य यथा—(महाकाव्य) छोटा न हो, विषम बन्ध न हो, अति विस्तृत न हो, सर्ग परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हों, आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण से प्रारम्भ हो, वर्णनीय वस्तु की प्रतिज्ञा तथा उसके प्रयोजनों का सन्निवेश, कवि-प्रशंसा, दुर्जन-सज्जन के स्वरूप की तरह अन्य वाक्यों का समावेश, दुष्कर चित्रादि सर्ग का निबन्धन, स्वाभिप्राय विशिष्ट अपना नाम, इष्टवस्तु का नाम अथवा मंगलकारी नाम का सर्ग के अन्त में कथन करना शब्दवैचित्र्य है[2]।

अर्थवैचित्र्य यथा—चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के उपाय, चतुरोदात्त नायक, रस और भावों की निरन्तरता, विधि और निषेध का ज्ञान कराने वाला, घटनाओं के क्रम का संक्षेप में निबन्धन, नगर, आश्रम, पर्वत, सेना का निवास-स्थान और समुद्र आदि का वर्णन, ऋतु, रात्रि, दिवस, सूर्यास्त और चन्द्रोदय आदि का वर्णन, नायक, नायिका, कुमार और वाहन आदि का वर्णन, मंत्र, दूत, अभियान, संग्राम और अभ्युदय आदि का वर्णन, वन-गमन, जलक्रीडा, मधुपान, मानविमोचन और रत्योत्सव आदि का वर्णन करना चाहिए[3]।

उभयवैचित्र्य यथा—रस के अनुरूप पदों की संरचना, अर्थानुरूप छंदों का नियोजन, समस्त लोकरंजकता, सुन्दर अलंकारपूर्ण वाक्य, देश, काल,

---

१. पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससंध्यवस्कन्धकबन्धं सत्सन्धि शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् ।

—काव्यानुशासन, ८।६ ।

२. काव्यानुशासन, ८।६ वृत्ति ।

३. वही, ८।६ वृत्ति ।

नगर, वेला और अवान्तर कथाओं से युक्त वर्णन तथा सर्गबन्ध का अनुसरण करना चाहिए[1] ।

इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र की मान्यता है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य में सर्ग के स्थान पर यदि आश्वासक का भी प्रयोग किया जाये तो कोई हानि नहीं है तथा सम्पूर्ण महाकाव्य मे प्रारम्भ से लेकर समाप्तिपर्यन्त एक ही छन्द का प्रयोग भी किया जा सकता है[2] । वाग्भट-द्वितीय का महाकाव्य स्वरूप आचार्य हेमचन्द्र के सूत्र रूप मे निबद्ध महाकाव्य के स्वरूप और वृत्ति मे किये गये व्याख्यान के सम्मिश्रण का पुन सूत्र रूप में निबद्ध परिष्कृत रूप है[3] । जैनाचार्य अजितसेन ने यद्यपि महाकाव्य का कोई स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया है तथापि उन्होने महाकाव्य मे वर्णनीय विषयों का बृहत् रूप मे उल्लेख किया है,[4] जो अन्यत्र अप्राप्य हैं । अत यहाँ उनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अजितसेन के अनुसार महाकाव्य मे राजा, रानी, पुरोहित, कुमार, अरिपुर, अमात्य, सेनापति, देश-ग्राम-शोभा, नगर, कमलाकर, धनुष, नद, उद्यान,

---

१ काव्यानुशासन, ८।६ वृत्ति ।

२ प्रायोग्रहणात् संस्कृतभाषयाऽप्याश्वासकबन्धो हरिप्रबोधादौ न दुष्यति । प्रायोग्रहणादेव रावणविजयहरिविजयसेतुबन्धेष्वादित: समाप्तिपर्यन्तमेकमेव छन्दो भवतीति ।

—काव्यानुशासन, ८।६ वृत्ति ।

३ तत्र प्राय संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसंध्यवस्कन्धकबन्धम्, मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणरूपसन्धिपञ्चकोपेतम्, असंक्षिप्तग्रन्थम्, अविषमबन्धम्, अनतिविस्तीर्णपरस्परसम्बद्धसर्गम्, आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशोपक्रमयुतम्, वक्तव्यवस्तुप्रतिज्ञातत्प्रयोजनोपन्यासकविप्रशंसासज्जनदुर्जनचिन्तादिवाक्योपेतम्, दुष्करचित्राद्येकसर्गाङ्कितम्, स्वाभिप्रेतवस्त्वङ्कितसर्गान्तम्, चतुर्वर्गफलोपेतम्, चतुरोदात्तनायकम्, प्रसिद्धनायकचरितम्, नगरनगरसागरर्तुचन्द्रार्कोदयास्तसम्भोगोद्यानजलकेलिमधुपानसुरतमन्त्रदूतसैन्यावासप्रयाणाजिनायकाभ्युदयविवाहविप्रलम्भजननादिवर्णनोपेतं महाकाव्यम् ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १५ ।

४. अलंकारचिन्तामणि, १।२५-६६ ।

[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] ([illegible]), [illegible], [illegible], [illegible], ऋतु, सूर्य, चन्द्र, आश्रम, युद्ध, [illegible], विवाह, वियोग, कुमार, [illegible], [illegible] और विविध [illegible] विषयों का वर्णन करना चाहिए। कुछ प्रमुख विषय के वर्णनीय [illegible] का निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है।

राजा के वर्णनीय गुण—[illegible], प्रताप, प्रजापालन, दुष्टों का निग्रह, सज्जनों का रक्षण, कीर्ति, [illegible], अभिमान, [illegible], नीति, क्षमा, अरि-षड्वर्ग का विजेता, धर्मानुराग, दयालुता, प्रजानुराग, शत्रुओं को जीतने का उत्साह, धीरता, उदारता, गम्भीरता, मित्रों की अनुकूलता, साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग, त्याग, सत्य, [illegible], शूरवीरता, ऐश्वर्य और पुरुषार्थ का वर्णन राजा के विषय में करना चाहिए।

रानी के वर्णनीय गुण—लज्जा, विनम्रता, सदाचरण, सुशीलता, प्रेम, चातुर्य, व्यवहार-कुशलता, लावण्य, मधुरालाप, दयालुता, शृंगार, सौभाग्य, मान, काम-चेष्टाएँ, पैर, तलवा, गुल्फ, [illegible], जंघा, सुन्दर घुटना, ऊरु, नितम्ब, सुन्दर रोमावली, त्रिवलि, नाभि, मध्यभाग, वक्षःस्थल, स्तन, ग्रीवा, बाहु, अंगुली, हाथ, दाँत, अधर, कपोल, नेत्र, भ्रू, ललाट, कान, सिर, वेणी, कबरी, गमन और जाति आदि का वर्णन रानी के विषय में करना चाहिए।

राजपुरोहित के वर्णनीय गुण—निमित्त आदि शास्त्रों का ज्ञाता, ऋजुता, विपत्तियों के प्रतिकार की क्षमता, सत्यवाणी और पवित्रता आदि का वर्णन राजपुरोहित के विषय में करना चाहिए।

राजपुत्र के वर्णनीय गुण—राजभक्ति, सुन्दरता, कलाओं का ज्ञान, विनम्रता, शस्त्र और शास्त्र का ज्ञान, विवेकशीलता, [illegible] तथा क्रीडाविनोद का वर्णन राजपुत्र के विषय में करना चाहिए।

राजमन्त्री के वर्णनीय गुण—पवित्र विचारों वाला, क्षमा-शील, शूर-वीर, विनम्र, बुद्धिमान्, राजभक्त, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं का ज्ञाता, व्यवहार-कुशल, स्वदेश में उत्पन्न और हितकारी पुरुषार्थ वाला ये राजमन्त्री के वर्णनीय गुण हैं।

सेनापति के वर्णनीय विषय—निर्भीक, अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास, सवारी करने में चतुर, राजभक्त, वीर-पराक्रमी, विद्वान् और युद्ध में विजय करने वाला ये सेनापति के वर्णनीय विषय हैं।

देश के वर्णनीय विषय—[illegible], [illegible], [illegible], धान्य-भंडार,

विशाल भूमि, धान्य, दुर्ग, लोगों की अधिकता और नहर आदि का वर्णन करना चाहिए।

ग्राम के वर्णनीय विषय—ग्राम में अन्न, सरोवर, लता, वृक्ष, गाय-बैलों की पुष्टता और उनकी विविध चेष्टाएँ, ग्रामीणों की सरलता, घटीयन्त्र और क्यारियों की शोभा का वर्णन करना चाहिए।

नगर के वर्णनीय विषय—नगर में चहार-दीवारी, उसका ऊपरी भाग, दुर्गप्राचीर, अट्टालिका, खाई, तोरण, ध्वजा, चूने से पुते हुए महल, राजमार्ग, वापी, उद्यान, और जिन-मन्दिर का वर्णन करना चाहिए।

सरोवर के वर्णनीय विषय—सरोवर में कमल तोड़ना, जलतरंग, गजक्रीड़ा, हंस, चक्रवाक, भ्रमर आदि तथा उसके किनारे उद्यान और लता आदि का वर्णन करना चाहिए।

समुद्र के वर्णनीय विषय—समुद्र में मूँगा, मोती, तरंग, जलपोत, जलगज, मगर आदि तथा नदियों का प्रवेश, संक्षोभ (चन्द्रोदयजन्य हर्ष), नीलकमल और गर्जन आदि का वर्णन करना चाहिए।

नदी के वर्णनीय विषय—नदी में (नदी का) समुद्र-गमन, हंस, मछली, कमल, पक्षियों का कलरव, तट पर उत्पन्न लताएँ, कमलिनी और कुमुदिनी की स्थिति का वर्णन करना चाहिए।

उद्यान के वर्णनीय विषय—उद्यान में कलिका, पुष्प, फल, लताओं से युक्त कृत्रिम पर्वतादि, कोयल, भ्रमर, मयूर, चक्रवाक तथा पथिक-क्रीड़ा आदि का वर्णन करना चाहिए।

पर्वत के वर्णनीय विषय—पर्वत में शिखर, गुफा, रत्न, वनवासी किन्नर (अथवा वनदेवता), झरना, सानु (शिखर), धातु, सुन्दर शिखरों पर निवास करने वाले मुनिजन और पुष्पों की अधिकता का वर्णन करना चाहिए।

अरण्य के वर्णनीय विषय—अरण्य में सर्प, सिंह, व्याघ्र, वराह, हरिण, वृक्ष, भालू, उल्लू, लता-कुंज, वल्मीक एवं पर्वत का वर्णन करना चाहिए।

मन्त्रणा के वर्णनीय विषय—मन्त्रणा में पाँच अंग, उपाय, शक्ति निपुणता और नीति आदि का वर्णन करना चाहिए।

दूत के वर्णनीय विषय—दूत में अपने और दूसरे दोनों पक्षों के वैभव एवं दोष के ज्ञाता तथा वाक्-पटुता आदि का वर्णन करना चाहिए।

प्रयाण के वर्णनीय विषय—प्रयाण में घोड़े के खुरों से उठी हुई धूलि,

रणभेरी, कोलाहल, खड्ग-कम्पन, भू-कम्पन, रथ, हाथी आदि की मुठभेड़ एवं सेना के गमन का वर्णन करना चाहिए।

मृगया के वर्णनीय विषय—मृगया में हरिणों का भयभीत होना, कुदृष्टि (कातरपूर्ण दृष्टि) से भागना, कहीं संसार में भय उत्पन्न करने के लिए वर्णन करना चाहिए।

अश्व के वर्णनीय विषय—अश्व में वेगशीलता, शुभलक्षण, गति, जाति और उच्चता आदि का वर्णन करना चाहिए।

हाथी के वर्णनीय विषय—हाथी में शत्रु-समूह का भेदन, गण्डस्थल, गजमुक्ता, मद और भ्रमर का वर्णन करना चाहिए।

वसन्त-ऋतु के वर्णनीय विषय—वसन्त-ऋतु में दोला, मलयानिल, भ्रमर-शोभा, झंकार, कलियों का उद्गम, आम्रवृक्ष, वटवृक्ष, पुष्प, मंजरी और लता का वर्णन करना चाहिए।

ग्रीष्म-ऋतु के वर्णनीय विषय—ग्रीष्म-ऋतु में मल्लिका, गर्मी, सरोवर, पथिक, शुष्कता, मरीचिका, प्याऊ और उसमें रहने वाली स्त्रियों का वर्णन करना चाहिए।

वर्षा-ऋतु के वर्णनीय विषय—वर्षा-ऋतु में बादल, मयूर, तत्कालीन सौन्दर्य, झंझावात, वृष्टि के जल-कण, हंस-निर्गमन, केतकी और कदम्ब की कलियों का वर्णन करना चाहिए।

शरद-ऋतु के वर्णनीय विषय—चन्द्रमा, सूर्य की स्वच्छ किरणें, हंसों का आगमन, वृषभादि पशुओं की प्रसन्नता, शुभ्र-मेघ, स्वच्छ जल, कमल, सप्तपर्ण और जलाशय का वर्णन करना चाहिए।

हेमन्त-ऋतु के वर्णनीय विषय—हेमन्त-ऋतु में हिमयुक्त लताओं, मुनियों की तपस्या तथा कान्ति का वर्णन करना चाहिए।

शिशिर-ऋतु के वर्णनीय विषय—शिशिर-ऋतु में सिरीष और कमल का विनाश तथा अत्यधिक शीत का वर्णन करना चाहिए।

सूर्य के वर्णनीय विषय—सूर्य के वर्णन में अरुणिमा, कमलविकास, चक्रवाक पक्षियों के नेत्रों की प्रसन्नता, अन्धकार का विनाश, कुमुदिनी का संकोचन, तारागण, चन्द्रमा और दीपक की प्रकाश-हीनता तथा कुलटाओं की पीड़ा का वर्णन करना चाहिए।

चन्द्रमा के वर्णनीय विषय—चन्द्रमा के वर्णन में मेघ, कुलटा, चक्रवाक

चाँदनी, घोर अन्धकार और चिंतामणियों की पीड़ा, उज्ज्वलता, समुद्र, कैरव, चन्द्र-कान्तमणि की प्रसन्नता आदि का वर्णन करना चाहिए ।

आश्रम के वर्णनीय विषय—आश्रम का वर्णन करते समय मुनिवरों के समीप में सिंह, हाथी और हरिण आदि का शान्त होना, समस्त ऋतुओं के फल-फूल आदि की शोभा और इष्टदेव की पूजा आदि का वर्णन करना चाहिए ।

युद्ध के वर्णनीय विषय—युद्ध के प्रसंग में तूर्य की ध्वनि, तलवार की चमक, बाण का सधान, छत्र-भंग, कवच-भेदन, हाथी, रथ, ध्वजा और सैनिकों आदि का वर्णन करना चाहिए ।

जन्म-कल्याणक के वर्णनीय विषय—जन्म-कल्याणक के प्रसंग में गर्भावतरण आदि का वर्णन, जन्माभिषेक में इन्द्र, ऐरावत हाथी, सुमेरु पर्वत, समुद्र, श्रेणी एवं देवताओं की जय-जय ध्वनि आदि का वर्णन करना चाहिए ।

विवाह के वर्णनीय विषय—विवाह के प्रसंग में स्नान, शरीर की स्वच्छता, अलंकार, शोभन-गीत, विवाह-मण्डप, वेदी, नाटक एवं वाद्यों की ध्वनि का वर्णन करना चाहिए ।

विरह के वर्णनीय विषय—विरह के प्रसग मे उष्ण-नि श्वास, मानसिक चिन्ता, अगो की कृशता, शिशिर मे उष्णता की अधिकता, रात्रि का बड़ा होना, जागरण और हास्य के अभाव का वर्णन करना चाहिए ।

सुरत के वर्णनीय विषय—सुरत के प्रसग में सीत्कार, कठालिंगन, नख और दन्तक्षत आदि, करधनी, कंकण और मंजीर की ध्वनि तथा स्त्री का पुरुष-वत् आचरण (विपरीत-रति) का वर्णन करना चाहिए ।

स्वयंवर के वर्णनीय विषय—स्वयंवर मे सुन्दर नगाड़ा, मंच, मण्डप, कन्या, उसमें उपस्थित राजाओ के वंश, प्रसिद्धि, सम्पत्ति, रूप-लावण्य और आकृति का वर्णन करना चाहिए ।

मधुपान के वर्णनीय विषय—मधुपान के प्रसग में भ्रमर को लक्ष्य कर भ्रान्ति और प्रेम आदि का वर्णन करना चाहिए । महापुरुष मदिरा के दोषपूर्ण होने से उसका सेवन नहीं करते हैं ।

पुष्पावचय के वर्णनीय विषय—पुष्पावचय के प्रसंग में पुष्प-चयन, वक्रोक्ति, गोत्र-स्खलन, आलिंगन और परस्पर अवलोकन का वर्णन करना चाहिए ।

जलक्रीड़ा के वर्णनीय विषय—जलक्रीड़ा के प्रसंग में जलसंचय, हंस और चक्रवाक पक्षियों का हटना, नूपुरों का गिरना, जलबिन्दुयुक्त कुच और जल में तैरने से उत्पन्न थकावट का वर्णन करना चाहिए।

इस प्रकार अजितसेन के द्वारा महाकाव्य में वर्णनीय विविध विषयों की सांगोपांग तालिका प्रस्तुत की गई है, जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

आख्यायिका :

आख्यायिका का तात्पर्य है ऐतिहासिक वृत्त। आचार्य भामह के अनुसार संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्यमयी रचना आख्यायिका कहलाती है। उसमें शब्द, अर्थ और समास अक्लिष्ट एवं श्रव्य हों, विषय उदात्त हो और उच्छ्वासों में विभक्त हो, इसमें नायक आत्मवृत्त स्वयं कहता है। समय-समय पर भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपरवक्त्र नामक छन्द रहते हैं। यह कवि के किन्हीं अभिप्रायपूर्ण कथनों से अंकित, कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ और अभ्युदय के वर्णन से युक्त होती है।[1] आख्यायिका में आत्मवृत्त नायक ही कहे इसे दण्डी आवश्यक नहीं मानते हैं। इसी प्रकार भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्द एवं उच्छ्वासों में विभाजन भी उन्हें अभीष्ट नहीं है, अपितु कथा और आख्यायिका को वे एक ही जाति के दो नाम मानते हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी के मत में कन्याहरण आदि भी कथा अथवा आख्यायिका के विशिष्ट गुण न होकर सर्गबन्ध की तरह सामान्य गुण ही हैं तथा कविस्वभावकृत चिह्न विशेष कहीं भी दूषित नहीं होते हैं।[2]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने आख्यायिका के लिए भामह-सम्मत पाँच बातों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार—जिसमें नायक आत्मवृत्त स्वयं कहता हो तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्रादि छन्दों से युक्त, उच्छ्वासों में विभक्त, संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्य-पद्यमयी रचना आख्यायिका कहलाती है।[3] वाग्भट-द्वितीय आख्यायिका में मित्रादि के मुख से वृत्तान्त कहलाने की छूट देते हैं तथा बीच-बीच में पद्य-रचना को भी आवश्यक मानते

---

१ काव्यालंकार, १।२५-२७।

२ काव्यादर्श, १।२४-३०।

३ नायकाख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका।

—काव्यानुशासन, ८।७।

है।[1] शेष बातें भामह-सम्मत ही उन्हें मान्य हैं। इस प्रकार जैनाचार्य प्रायः भामह के समर्थक हैं।

कथा

कथा मे सामान्यत कविकल्पना प्रसूत वर्णन किया जाता है। भामह के अनुसार इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में होती है, इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्दों तथा उच्छ्वासो का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त उसमे नायक अपना चरित स्वयं नहीं कहता है, अपितु किसी अन्य व्यक्ति से कहलाता है, क्योकि कुलीन व्यक्ति अपने गुण स्वयं कैसे कहेगा।[2] दण्डी कथा और आख्यायिका मे कोई मौलिक भेद न मानकर एक ही जाति के दो नाम मानते हैं।[3] उनके अनुसार कथा की रचना सभी भाषाओ तथा संस्कृत में भी होती है। अद्भुत अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा मे है।[4] आनन्दवर्धन ने काव्य के भेदो मे परिकथा, खण्डकथा और सकलकथा का उल्लेख किया है।[5] अग्निपुराणकार ने कथा के स्वरूप में कुछ नवीन बातों का समावेश किया है। यथा—कवि संक्षेप मे कुछ पद्यों द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है, मुख्य कथा के अवतरण [redacted] अवान्तर कथा का संयोजन करता है तथा विभाजन परिच्छेदों मे न होकर लम्बको मे होता है।[6]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने कथा का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि जिसमें धीर प्रशान्त नायक हो तथा जो सर्व-भाषाओ में निबद्ध हो ऐसी गद्य अथवा पद्यमयी रचना कथा कहलाती है।[7] इस स्वरूप मे हेमचन्द्र ने दण्डी की

---

१ यत्र नायिकाख्यातस्ववृत्तान्ताभाव्यर्थशंसिनी सोच्छ्वासा कन्यकापहारसमागमाभ्युदयभूषिता मित्रादिमुखाख्यातवृत्तान्ता अन्तरान्तराप्रविरलपद्यबन्धा आख्यायिका। —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १६।

२ काव्यालंकार, १।२८-२९।

३ तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता। —काव्यादर्श, १।२८।

४ वही, १।३८।

५ ध्वन्यालोक, ३।७ वृत्ति।

६. अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १।१५-१६।

७. धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।

—काव्यानुशासन, ८।८।

ताकि किसी भाषा विशेष का बन्धन नहीं रखा है। उसके अनुसार संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश में भी कथा का निबन्धन किया जा सकता है।[1] हेमचन्द्र ने कथा के दस भेद किए हैं—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और बृहत्कथा। प्रत्येक का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आख्यान—प्रबन्ध के मध्य में दूसरे को समझाने के लिए नलादि उपाख्यान की तरह उपाख्यान का अभिनय, पाठ अथवा गान करते हुए जो एक ग्रन्थिक (ज्योतिषी) कहता है, वह गोविन्द की तरह आख्यान कहलाता है।[2]

निदर्शन—पशु-पक्षियों अथवा तद्भिन्न प्राणियों की चेष्टाओं के द्वारा जहाँ कार्य अथवा अकार्य का निश्चय किया जाता है, वहाँ पंचतन्त्र आदि की तरह तथा धूर्त, विट, कुट्टनीमत, मयूर, मार्जारिका आदि की तरह निदर्शन कहलाता है।[3]

प्रवह्लिका—प्रधान नायक को लक्ष्य करके जहाँ दो व्यक्तियों में विवाद हो, वह आधी प्राकृत में निबद्ध चेटकादि की तरह प्रवह्लिका है।[4]

मतल्लिका—प्रेत (भूत)-भाषा अथवा महाराष्ट्री भाषा में रचित लघु-कथा, गोरोचना अथवा अनंगवती आदि की तरह मतल्लिका कहलाती है, जिसमें पुरोहित, अमात्य अथवा तापस आदि का आरम्भ किये गये कार्य को समाप्त न कर पाने के कारण उपहास होता है, वह भी मतल्लिका कहलाती है।[5]

---

१. काव्यानुशासन, ८।८ वृत्ति।

२. प्रबन्धमध्ये परप्रबोधनार्थं नलाद्युपाख्यानमिवोपाख्यानमभिनयन् पठन् गायन् यदेको ग्रन्थिकः कथयति तद् गोविन्दवदाख्यानम्।

—वही, ८।८ वृत्ति।

३. तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत् पंचतन्त्रादिवत्, धूर्तविटकुट्टनीमतमयूरमार्जारिकादिवच्च निदर्शनम्।

—वही, ८।८ वृत्ति।

४. प्रधानमधिकृत्य यत्र द्वयोर्विवादः सार्धप्राकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवह्लिका।

—वही।

५. प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोचना अनंगवत्यादिवन्मतल्लिका। यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां प्रारब्धनिर्वाहे उपहासः सापि मतल्लिका।

—वही।

मणिकुल्या—जिसमें पहले तो वस्तु दिखाई नहीं देती है, किन्तु बाद में प्रकाशित होने लगती है, वह मत्स्यहसित आदि की तरह मणिकुल्या कहलाती है।[1]

परिकथा—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से किसी एक को लक्ष्य करके विभिन्न प्रकार से अनन्त वृत्तान्त-वर्णन-प्रधान शूद्रकादि की तरह परिकथा कहलाती है।[2]

खण्डकथा—अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध इतिवृत्त को मध्य से अथवा अन्त से ग्रहण कर जिसमें वर्णन किया जाता है, वह इन्दुमती आदि की तरह खण्डकथा कहलाती है।[3]

सकलकथा—चतुर्पुरुषार्थों को लेकर जहाँ इतिवृत्त का वर्णन हो, वह समरादित्य की तरह सकलकथा कहलाती है।[4]

उपकथा—प्रसिद्ध कथान्तर का किसी एक पात्र से उपनिबन्ध उपकथा कहलाती है।[5] यथा—चित्रलेखा आदि।

बृहत्कथा—लम्भों से अंकित अद्भुत अर्थों वाली नरवाहनदत्त आदि के चरित की तरह बृहत्कथा कहलाती है।[6]

कथा के इतने अधिक उपभेदों का उल्लेख किसी भी अन्य आचार्य ने नहीं किया है।

---

१ यस्यां पूर्वं वस्तु न लक्ष्यते पश्चात्तु प्रकाश्यते सा मत्स्यहसितादिवन्मणिकुल्या। —काव्यानुशासन, ८।८ वृत्ति।

२ एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रधाना शूद्रकादिवत्परिकथा। —वही, ८।८ वृत्ति।

३ मध्यादुपान्ततो वा ग्रन्थान्तरप्रसिद्धमितिवृत्तं यस्यां वर्ण्यते सा इन्दुमत्यादिवत् खण्डकथा। —वही, ८।८ वृत्ति।

४ समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना समरादित्यादिवत् सकलकथा। —वही, ८।८ वृत्ति।

५ एकतरचरिताश्रयेण प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्ध उपकथा। —वही, ८।८ वृत्ति।
(इसके उदाहरण का उल्लेख विवेक टीका में किया गया है।)

६ लम्भांकिताद्भुतार्था नरवाहनदत्तादिचरितवद् बृहत्कथा। —वही, ८।८ वृत्ति।

चम्पू

चम्पू-काव्यों की एक लम्बी परम्परा है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य दण्डी ने किया है। उनके अनुसार गद्य-पद्यमय मिश्र शैली में निबद्ध रचना चम्पू कहलाती है।[1] जैनाचार्य हेमचन्द्र ने चम्पू का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—सांक और उच्छ्वासों में विभक्त गद्य-पद्यमयी रचना चम्पू है।[2] इसके उदाहरण वासवदत्ता अथवा दमयन्ती हैं। वाग्भट-द्वितीय ने चम्पू का हेमचन्द्र-सम्मत स्वरूप ही प्रस्तुत किया है।[3] चम्पू-काव्यों को देखते हुए उसके स्वरूप में अन्य बहुत सी नवीन बातों का समावेश किया जा सकता है, यथा—नायक, रस अथवा उसके वर्णनीय विषय आदि।

अनिबद्ध

अनिबद्ध का अर्थ है जो निबद्ध न हो, अर्थात् स्वतंत्र। भामह ने इसे अनिबद्ध की संज्ञा ही दी है, किन्तु परवर्ती आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धन, अग्नि-पुराणकार और विश्वनाथ आदि ने इसे मुक्तक कहा है। मुक्तक शब्द मुक्त में (अल्पार्थे कन्) कन् प्रत्यय करने से बना है, जिसका अर्थ होता है पूर्वापर निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र। अत अनिबद्ध और मुक्तक दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। भामह वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति से युक्त गाथा अथवा श्लोक मात्र को अनिबद्ध मानते हैं।[4] दण्डी ने इसे (मुक्तक) और इसके अन्य भेद कुलक, कोश और संघात को भी सर्गबन्ध के अंग रूप में स्वीकार किया है।[5] इसी प्रकार वामन अग्नि के एक परमाणु की तरह अनिबद्ध रचना को शोभायमान नहीं मानते हैं,[6] किन्तु आनन्दवर्धन ने मुक्तक को विशेष महत्ता प्रदान की है। उनके अनुसार प्रबन्ध की तरह मुक्तक में भी रस का सन्निवेश करने वाले कवि दिखलाई देते हैं। यथा—अमरुक कवि के मुक्तक शृंगार रस को प्रवाहित

---

१ काव्यादर्श, १।३१।

२ गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः। —काव्यानुशासन, ८।९।

३ गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १९।

४ काव्यालंकार, १।३०।

५ काव्यादर्श, १।१३।

६. काव्यालंकारसूत्र, १।३।२९।

करने वाले प्रबन्ध की तरह प्रसिद्ध ही हैं।[1] आनन्दवर्धन ने अनिबद्ध के मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, और पर्यायबन्ध इन छः भेदों का उल्लेख किया है।[2]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि मुक्तक आदि अनिबद्ध हैं।[3] आनन्दवर्धन-सम्मत अनिबद्ध के उक्त छः भेद इन्हें भी मान्य हैं। हेमचन्द्र ने वाक्य-समाप्ति को ध्यान में रखकर प्रत्येक का लक्षण करते हुए लिखा है कि एक छन्द में वाक्य समाप्त होने पर मुक्तक, दो में सदानितक, तीन में विशेषक, चार में कलापक और पाँच से चौदह पर्यन्त छन्दो मे वाक्य समाप्त होने पर कुलक कहलाता है।[4] अपने और दूसरे के द्वारा रचित सूक्तियों का संग्रह कोश है।[5] वाग्भट द्वितीय पाँच से बारह छन्दो पर्यन्त वाक्य समाप्त होने पर कुलक मानते हैं।[6] शेष भेदो के लक्षण हेमचन्द्र-सम्मत हैं।

ध्वनि के आधार पर काव्य-भेद

ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं—ध्वनि-काव्य,[7] गुणीभूतव्यंग्य[8] और चित्र-काव्य।[9] इन्हे परवर्ती आचार्यों ने उत्तम, मध्यम और अधम (अथवा अवर)

---

१ मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका शृंगाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव।

—ध्वन्यालोक, ३।७।

२ वही, ३।७ वृत्ति।

३ काव्यानुशासन, ८।१०।

४ वही, ८।१२।

५ वही, ८।१३।

६ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १६।

७. यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

—ध्वन्यालोक, १।१३।

८ प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत्॥ —वही, ३।३४।

९. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते॥ —वही, ३।४२।

काव्य के नाम से भी संबोधित किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि-काव्य को भेद-प्रभेद एवं उदाहरण-प्रत्युदाहरण के माध्यम से विविध रूपों में प्रस्तुत किया है, मध्यम-काव्य का सामान्य विवेचन किया है तथा चित्र-काव्य के दो भेद किये हैं—शब्द-चित्र और अर्थचित्र।[1] आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यार्थ जिसमें अधिक चमत्कारजनक हो वह उत्तम काव्य है, वैसा चमत्कारजनक न होने पर गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम-काव्य और व्यंग्यार्थ-रहित शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र इन दो भेदों वाला अधम-काव्य है।[2] मम्मट के अनुसार मध्यम-काव्य के आठ भेद हैं—अगूढ, अपरांग, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुट, सन्दिग्ध-प्राधान्य, तुल्य-प्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर[3]।

जैनाचार्य हेमचन्द्र,[4] नरेन्द्रप्रभसूरि,[5] विजयवर्णी,[6] और अजितसेन[7] ने मम्मट-सम्मत उक्त उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन काव्य-भेद ही किए हैं। हेमचन्द्र के अनुसार व्यंग्य की प्रधानता होने पर उत्तम काव्य होता है। व्यंग्य के असत्प्राधान्य, सन्दिग्ध-प्राधान्य और तुल्यप्राधान्य होने पर उक्त नामों वाला मध्यम काव्य तीन प्रकार का होता है। पुनः असत्काव्य के चार उपभेद किये हैं—क्वचित्वाच्यादनुत्कर्ष, क्वचित्परांगता, क्वचिदस्फुटता और क्वचिदतिस्फुटता।[8] सन्दिग्ध-प्राधान्य और तुल्य-प्राधान्य के उपभेद नहीं किये हैं। यहाँ हेमचन्द्र ने स्वसम्मत मध्यम-काव्य के तीन भेदों का मण्डन और मम्मट-सम्मत आठ भेदों का खण्डन किया है।[9] नरेन्द्रप्रभसूरि ने मध्यम-काव्य के मम्मट-सम्मत आठ उपभेदों का उल्लेख किया है।[10] अजितसेन ने सर्वप्रथम मध्यम पुनः

---

१ ध्वन्यालोक, ३।४१।
२ काव्यप्रकाश, १।४-५।
३ वही, ५।४५-४६।
४ काव्यानुशासन, २।५६-५८।
५ अलंकारमहोदधि, ३।१५-१७।
६ शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।३१।
७ अलंकारचिन्तामणि, ५।१७३।
८ काव्यानुशासन, २।५७ वृत्ति।
९ इति नयो मध्यमकाव्यभेदा न त्वष्टौ। —वही, २।५७ वृत्ति।
१० अगूढत्वास्फुटत्वाभ्यामसुन्दरतया तथा।
सिद्ध्यंगत्वेन वाच्यस्य काक्वाक्षिप्ततयाऽपि च॥
संदिग्धतुल्यप्राधान्यतयाऽन्यांगतयाऽपि च।
गुणीभूतमपि व्यंग्यं वसु किञ्चिच्चारिमास्पदम्॥
—अलंकारमहोदधि, ३।१-२।

उत्तम और तत्पश्चात् अधम-काव्य यह क्रम रखा है, किन्तु इसमें कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। सभी आचार्यों ने प्राय अधम काव्य के दो भेद किए हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र। किन्तु अजितसेन ने इन दो के अतिरिक्त शब्दार्थ चित्र नामक एक तृतीय भेद का भी निरूपण किया है,[1] जिसमे शब्द और अर्थ दोनों की समान रूप से प्रधानता रहती है। उनकी यह मान्यता एक सीमा के अन्तर्गत् स्वीकार की जा सकती है। क्योंकि शब्दचित्र मे जहाँ एक ओर शब्दों की प्रधानता रहती है, वहीं दूसरी ओर अर्थचित्र मे अर्थों की प्रधानता। किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ऐसी रचना का भी निरूपण मिलता है, जहाँ दोनो की प्रधानता लक्षित होती है।

यथा—अरिष्टहर्म्यस्य सवज्रवेदेर्वालाग्रनीलद्युतिपूरितस्य।
मध्ये विरेजुर्नवदीपमाला मालामणीनामिव वारिराशे ॥[2]

प्रस्तुत पद्य मे एक साथ अनुप्रास और उपमालंकार की छटा द्वारा शब्द और अर्थ दोनो की प्रधानता को चित्रित किया गया है, अत यहाँ शब्दार्थ-चित्र का उदाहरण ठीक-ठीक घटता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन ने काव्य के जिन तीन भेदो का निरूपण किया है, उन्हें परवर्ती आचार्य विश्वनाथ[3] और पण्डितराज जगन्नाथ[4] को छोड़कर प्राय अन्य सभी आचार्यों ने समान रूप से मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम-काव्य के आठ भेद किए हैं, किन्तु हेमचन्द्र ने उनमें से केवल तीन भेद ही स्वीकार किये हैं तथा वाच्यादनुत्कर्ष, परांगता, अस्फुटता और अतिस्फुटता इन चार को असत्प्राधान्य के उपभेद माना है। अजितसेन ने अधम-काव्य के शब्दचित्र और अर्थचित्र के अतिरिक्त शब्दार्थचित्र नामक उभयप्रधान भेद की भी कल्पना की है, जो सयुक्ति ग्राह्य है।

---

१ चित्र शब्दार्थोभयभेदेन त्रिधा। —अलंकार-चिन्तामणि, ५।१७५ वृत्ति।

२ अलंकार-चिन्तामणि, ५।१७८।

३ विश्वनाथ ने काव्य के दो भेद माने हैं—
काव्य ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्य चेति द्विधा मतम्। —साहित्यदर्पण, ४।१।

४. पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद माने हैं—
तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा—रसगंगाधर, पृ० १६।

३ रस-विचार

भारतीय वाङ्मय में रस शब्द का उल्लेख वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, आयुर्वेद और कामसूत्र आदि विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। वहाँ उनका अर्थ भी भिन्न-भिन्न प्रकार से लिया गया है। सामान्यतः रस शब्द का प्रयोग शृंगार आदि काव्य-रस, कषाय, तिक्त, कटु आदि चखने योग्य पदार्थ, घृत आदि चिकने पदार्थ तथा विष, जल, निर्यास (वृक्षों से चूने वाला तरल पदार्थ) पारद, राग और वीर्य में होता है।[1] काव्यशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में हुआ है, अतः 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जो आस्वादित हो वह रस है। विभिन्न आचार्यों ने साहित्य में रसास्वाद के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार उपस्थित किये हैं।

रस स्वरूप

अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समस्त अलंकार-शास्त्री दो पक्षों में विभक्त हैं। प्रथम पक्ष में वे लोग आते हैं, जिन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'[2] इस सूत्र को लेकर साहित्य में रस की अपरिहार्यता को स्वीकार किया है तथा द्वितीय पक्ष में वे लोग आते हैं, जिन्होंने रस की इस भूमिका को स्वीकार नहीं किया है, परन्तु उसे केवल काव्य का शोभाधायक तत्त्व माना है।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में चार आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त। क्रमशः इन्हीं आचार्यों ने सर्वप्रथम रस-सिद्धान्त को काव्यशास्त्र में गरिमा के अनुरूप पद पर प्रतिष्ठित किया है। उक्त चार आचार्यों में जहाँ अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत भरत-रस-सूत्र

---

१. शृङ्गारादौ कषायादौ घृतादौ च विषे जले।
निर्यासे पारदे रागे वीर्येऽपि रस इष्यते॥

—अनेकार्थ नाममाला, पद्य २९।

२. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० ७१।

की व्याख्या को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वहीं भट्टलोल्लट की व्याख्या को पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने हेय-दृष्टि से देखा है। किन्तु वास्तविकता यह है कि रस-सूत्र की व्याख्या और रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का मार्ग भट्टलोल्लट ने ही खोला है, जिससे अन्य आचार्यों को उस दिशा में सोचने का एक नया अवसर प्राप्त हुआ है।

भरत-रस-सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर ही आचार्यों में मतभेद है, क्योंकि इसी को आधार मानकर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की हैं। तदनुसार उनके मत को एक विशेष वाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। भट्टलोल्लट विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग से रस की उत्पत्ति मानते हैं, अतः उनका मत उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इस मत को मानने वाले भट्टलोल्लट के अतिरिक्त अन्याचार्य भी हैं।[१] भरत-रस-सूत्र के दूसरे व्याख्याकार हैं—शंकुक। इनका मत अनुमितिवाद के नाम से जाना जाता है। इनके अनुसार सामाजिक अनुमान के द्वारा रसास्वादन करता है। भरत-रस-सूत्र के तीसरे व्याख्याकार हैं—भट्ट-नायक। इनका मत भुक्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति और संयोग का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध किया है।[२] भरत-रस-सूत्र के चौथे व्याख्याकार हैं—अभिनवगुप्त। इनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से जाना जाता है, जो प्रायः मान्य है। अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में सामाजिक को रसानुभूति का आश्रय स्वीकार किया है तथा रस को अलौकिक-आनन्द रूप कहा है।[३] मम्मट ने रस-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—लोक में जो रति आदि स्थायीभावों के कारण, कार्य और सहकारिभाव पाये जाते हैं, वे ही यदि नाट्य अथवा काव्य में प्रयुक्त हो जाते हैं तो वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहलाते हैं और उन्हीं विभावादि भावों से अभिव्यक्त होने वाला स्थायिभाव रस कहलाता है।[४]

जैनाचार्यों के रस-स्वरूप का उपजीव्य प्रायः भरत-रस-सूत्र ही रहा है। वाग्भट-प्रथम ने रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि जिस

---

१ काव्यप्रकाश, पृ० १०१।
२ वही, पृ० १०२-१०३।
३ वही, पृ० १०६-१०७।
४ वही, पृ० १०८-१०९।
५ वही, ४।२७-२८।

प्रकार अच्छी तरह पकाया हुआ, किन्तु लवणविहीन भोजन स्वादिष्ट नहीं लगता है, उसी प्रकार नीरस काव्य भी आस्वाद्य नहीं होता है।[1] पुनः रस की परिभाषा करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावों से परिपोष को प्राप्त हुआ स्थायिभाव रस कहलाता है।[2] रस की प्रस्तुत परिभाषा में भरत-रस-सूत्र के भावों को ग्रहण कर सात्त्विक-भावों का भी समावेश किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहा है।[3] उनका यह कथन भरत-रस-सूत्र और उसके (श्रेष्ठ) अन्तिम व्याख्याकार अभिनवगुप्त के मत की पुष्टि करता है। हेमचन्द्र ने अपने रस-सूत्र की वृत्ति में लिखा है कि—वाचिक आदि अभिनय सहित जिनके द्वारा स्थायी और व्यभिचारिभाव विशेष रूप से जाने जाते हैं, वे काव्य और नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध ललना आदि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन स्वभाव वाले विभाव कहलाते हैं। स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव रूप चित्तवृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए सामाजिक लोग जिन कटाक्ष और भुजाक्षेप आदि के द्वारा साक्षात्कार करते हैं तथा जो कार्यरूप में परिणत होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। विविध रूप से रस की ओर उन्मुख होकर विचरण करने वाले धृति, स्मृति आदि व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये विभावादि स्थायिभाव के अनुमापक होने से लोक में कारण, कार्य और सहचारी शब्दों से सम्बोधित किये जाते हैं। ये मेरे हैं, ये दूसरे के हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये दूसरे क नहीं हैं—इस प्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले तथा विभावादि से अभिव्यक्त होने वाले सामाजिकों में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव हैं। यह स्थायिभाव नियत प्रमाता (सहृदय विशेष) में स्थित होने पर भी साधारणीकरण के कारण सभी सहृदय हृदयों में युगपद अनुभूत होने वाला, आस्वाद मात्र स्वरूप, विभावादि भावनापर्यन्त रहने वाला, अलौकिक चमत्कारोत्पादक होने से परब्रह्मास्वाद सहोदर तथा (भाव-विभोर) निमीलित-नेत्रों से कवि और सहृदयों के द्वारा आस्वाद्यमान, स्वसंवेदन सिद्धरस कहलाता है।[4]

---

१ वाग्भटालंकार, ५।१।

२. वही, ५।२।

३ काव्यानुशासन, २।१।

४. वही, २।१ वृत्ति।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस-स्वरूप विषयक मान्यता अन्य सभी आचार्यों से विलक्षण है। उनके अनुसार विभाव और व्यभिचारिभाव आदि के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होने वाला तथा स्पष्ट अनुभावों के द्वारा ज्ञात होने वाला स्थायिभाव रस कहलाता है।[1] प्रस्तुत स्वरूप की व्याख्या में प्रतिक्षण उदय और अस्त धर्म वाले अनेक व्यभिचारिभावो मे जो अनुगत रूप से अवस्थ रहता है, उसे स्थायिभाव कहा गया है, अर्थात् स्थायिभाव के रहने पर ही उसके रहने और उसके न रहने पर व्यभिचारिभावो के न रहने से व्यभिचारिभाव रूप ग्लानि के प्रति रत्यादि निश्चित रूप से स्थायिभाव होता है। उपर्युक्त व्यभिचारिभाव आदि सामग्री के द्वारा परिपाक को प्राप्त कर रस रूप रत्यादि 'भवतीति भाव' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव कहलाता है। विभावों अर्थात् ललना और उद्यान आदि आलम्बन और उद्दीपन विभाव रूप बाह्य कारणों द्वारा पहले से विद्यमान स्थायिभाव का ही आविर्भाव होने से तथा सहृदयो के मन मे विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारिभावो के द्वारा परिपोषण से उत्कर्ष को प्राप्त अथवा साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्था को प्राप्त, यथासम्भव दु ख-सुख स्वभाव वाला, 'रस्यते—आस्वाद्यते इति रस' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आस्वाद्यमान वही स्थायिभाव रस कहलाता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यदर्पणकार रस को सुख-दु ख रूप उभयात्मक मानते हैं। अब यहाँ एक साथ दो प्रश्न उठते हैं कि—क्या नाट्यदर्पणकार सम्पूर्ण नौ रसो को सुख-दु खात्मक मानते हैं ? अथवा कुछ रसो को सुखात्मक मानते हैं और कुछ को दु खात्मक। इस प्रसग मे नाट्यदर्पणकार की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

तत्रेष्टविभावादिग्रथितस्वरूपसम्पत्तय शृ गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ता सुखात्मान । अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मान करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दु खात्मान ।[3]

अर्थात् इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृ गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त—ये पाँच सुखात्मक रस हैं और अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार दु खात्मक रस हैं।

---

१ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७। २ वही, ३।७ वृत्ति।
३ वही, ३।७ वृत्ति।

नाट्यदर्पणकार ने कुछ आचार्यों द्वारा स्वीकृत रस की सुखात्मकता का खण्डन करते हुये लिखा है कि—सभी रसों को सुखात्मक मानना प्रतीति के विपरीत है। क्योंकि वास्तविक करुणादि विभावों की तो बात ही छोड़ो, उनसे तो दुःख होगा ही, किन्तु काव्य (नाटक) आदि में नटों के द्वारा (अवास्तविक रूप से) प्रदर्शित अभिनय में प्राप्त विभावादि से उत्पन्न भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस का आस्वादन करने वाला व्यक्ति अवर्णनीय कष्ट का अनुभव करता है। अतएव भयानकादि दृश्यों से सामाजिक उद्विग्न हो जाते हैं। जबकि सुखास्वादन मे उद्विग्नता की कोई बात ही नहीं है। चूँकि लोग करुणादि रसों से भी चमत्कृत प्रतीत होते हैं, अत उसी का समाधान करते हुये पुन लिखा है कि—जो करुणादि चार रसों से भी सामाजिकों में चमत्कार दिखाई देता है, वह रसास्वाद के समाप्त हो जाने पर यथा-स्थित वस्तु के प्रदर्शन से कवि और नट के शक्ति-कौशल से होता है। क्योंकि शिरश्छेदकारी शत्रु की प्रहार कुशलता से वीरता के अभिमानी भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं, और इसी सर्वांग आनन्दानुभूति से कवि और नटगत शक्ति से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा ठगे हुए से विद्वान् दुःखात्मक करुणादि रसों में भी परमानन्द रूपता का अनुभव करते हैं। इसी आस्वाद के लोभ से दर्शक भी इनमे प्रवृत्त होते हैं[1] और जिस प्रकार पानक-रस का माधुर्य तीक्ष्ण आस्वाद से और अधिक अच्छा लगता है, उसी प्रकार (सुखास्वाद के साथ) दुःखास्वाद में अत्यधिक सुखानुभूति होती है। अन्यथा सीताहरण, द्रौपदी के केश और वस्त्राकर्षण आदि अभिनयों को देखने वाले सहृदय को सुखास्वाद कैसे सम्भव है ?[2] इसी के समर्थन मे दूसरी युक्ति देते हुए लिखा है कि नट के द्वारा करुणादि प्रसगों में किया जाने वाला अभिनय दुःखात्मक ही है। यदि अनुकरण मे उसे सुखात्मक मानेंगे तो वह सम्यक् अनुकरण नही होगा। अपितु विपरीत होने से आभास हो जायेगा। जो इष्ट जनों के वियोग से दुःखी व्यक्तियों के सामने करुणादि के वर्णन अथवा अभिनय से सुखानुभूति होती है, वह भी यथार्थ में दुःखानुभूति ही है। क्योंकि दुःखी व्यक्ति दुःखियों की वार्ता से सुख जैसा अनुभव करता है और प्रमोदकारी वार्ता से दुःखित होता है। अतः करुणादि रस दुःखात्मक ही हैं।[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले रत्यादि स्थायिभाव को रस कहा है।[4] पुन भरत-रस-सूत्र को प्रस्तुत

१-३ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७ विवृति। ४. अलंकारमहोदधि, ३।१२।

करते हुए आचार्य मम्मट की तरह भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव-गुप्त के रस विषयक मतों का प्रतिपादन किया है।[1] विजयवर्णी ने नीरस काव्य को नमकविहीन सब्जी की तरह अरुचिकर बतलाते हुये वाग्भट-प्रथम की तरह विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव और व्यभिचारिभावो से अभिव्यक्त होने वाले स्थायि-भाव को रस कहा है।[2] इसी प्रकार अजितसेन ने भी विभावादि चारों भावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस स्वीकार किया है।[3] विभाव आदि कैसे रस रूप मे परिणत हो जाते हैं ? इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार नवनीत परिपाक को प्राप्त कर घी रूप को धारण करता है, उसी प्रकार विभावादि के द्वारा परिपाक को प्राप्त स्थायिभाव रस रूप को प्राप्त करता है।[4] वाग्भट-द्वितीय ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहा है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अन्याचार्यों के समान जैनाचार्यों ने भी प्राय भरत-रस-सूत्र को आधार मानकर अपना रस-स्वरूप निरूपण किया है। किसी किसी आचार्य ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावो की तरह सात्त्विक-भावो को भी रसाभिव्यक्ति मे समान रूप से कारण स्वीकार किया है, जिनमे वाग्भट प्रथम, विजयवर्णी और अजितसेन का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने काव्य मे रस की स्थिति को सुख-दुःखात्मक स्वीकार किया है।

रस-भेद

रस भेदो को लेकर आचार्यों मे वैमत्य है। कुछ आचार्य शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत इन आठ रस-भेदो को स्वीकार करते हैं। अन्य आचार्य उपर्युक्त रस के आठ भेदो म शान्तरस का समावेश करते हुए रसो की संख्या नौ मानते हैं। कुछ लोग नाटक मे शान्तरस की स्थिति नहो मानते हैं।

---

१ अलंकार-महोदधि, ३।१२ वृत्ति।

२ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१, ३।५।

३ अलंकारचिन्तामणि, ५।८३।

४ वही, ५।८४।

५ काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० ५३।

आचार्य भरत ने शृंगार-हास्य आदि आठ रसों को नाट्य में स्वीकार किया है।[1] ये आठ रस उन्हें ब्रह्मा द्वारा परम्परा से प्राप्त हुए हैं।[2] दण्डी को भी रसों की उक्त संख्या अभीष्ट है।[3] किन्तु आनन्दवर्धन ने शान्त रस का समावेश करते हुए नौ रसों को स्वीकार किया है।[4] आचार्य मम्मट भरतमुनि के अनुगामी हैं, अतः उन्होंने सर्वप्रथम आठ रसों का ही उल्लेख किया है,[5] पुनः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए 'शान्तोऽपि नवमो रसः'[6] इस प्रकार कहकर निर्वेद स्थायिभाव वाले शान्त रस को भी स्वीकार किया है।

भरत मुनि के समकालीन जैनाचार्य आर्यरक्षित ने भी काव्य-रसों का उल्लेख किया है—(१) वीर, (२) शृंगार, (३) अद्भुत, (४) रौद्र, (५) व्रीडनक, (६) बीभत्स, (७) हास्य, (८) करुण और (९) प्रशान्त।[7] इनमें भरतमुनि-सम्मत रस-भेदों से दो नवीन बातें दृष्टिगोचर होती हैं—प्रथम यह कि जहाँ भरतमुनि ने आठ रस-भेदों का उल्लेख किया है, वहीं आर्यरक्षित ने नौ रसभेदों का। द्वितीय यह कि जहाँ भरतमुनि ने भयानक रस का उल्लेख किया है, वहाँ आर्यरक्षित ने भयानक के स्थान पर व्रीडनक रस का। शेष दोनों आचार्यों में साम्य है।

---

१ (क) शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
—नाट्यशास्त्र, ६।१५।

(ख) कुछ लोग 'संज्ञाश्चेत्यष्टौ शान्तश्च नव नाट्यरसाः' इस प्रकार पाठ भेद मानकर भरतमुनि के अनुसार रसों की संख्या नौ मानते हैं।

२. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना। —नाट्यशास्त्र, ६।१६।

३ इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। —काव्यादर्श, २।२९२।

४. आनन्दवर्धन, पृ० १६४-१६५।

५. काव्यप्रकाश, ४।२९।

६. वही, ४।३५।

७. वीरो सिंगारो अब्भुओ अ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ॥
—अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८२८।

वाग्भट-प्रथम ने शृंगार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त इन नौ रसो को स्वीकार किया है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र को भी उक्त नौ रस अभीष्ट हैं, किन्तु उनका क्रम उपर्युक्त से भिन्न निम्न प्रकार है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत एव शान्त।[2] इस क्रम को अपनाने मे उनका एक विशेष प्रयोजन है। उनका कहना है कि—काम सम्पूर्ण जाति के लिए सुलभ है तथा उससे अत्यन्त परिचित होने से सभी के लिए मनोहर प्रतीत होता है, अत. शृंगार को पूर्व मे ग्रहण किया गया है। शृंगार का अनुगामी हास्य होने से शृंगार के पश्चात् हास्य को ग्रहण किया गया है। हास्य के ठीक विपरीत स्थिति करुण की है, अत निरपेक्ष भाव होने से उसके पश्चात् करुण-रस की गणना की गई है। तत्पश्चात् करुण-रस का कारणभूत तथा अर्थ-प्रधान रौद्र रस है, अत उसकी गणना की गई है। पुन काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से धर्म-प्रधान वीर रस को ग्रहण किया गया है। उस वीररस का लक्ष्य भयभीतो को अभयदान देना है, अत उसके बाद भयानक-रस को ग्रहण किया गया है। भयानक-रस के समान ही बीभत्स-रस के विभाव होने से भयानक के पश्चात् बीभत्स-रस को ग्रहण किया गया है, जो वीररस के द्वारा आक्षिप्त है। वीररस के अन्त मे अद्भुत-रस की प्राप्ति होती है, अत अद्भुत-रस को ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्गात्मक प्रवृत्ति धर्मों के विपरीत और निवृत्ति-धर्मप्रधान मोक्षफल का प्रदाता शान्तरस आता है, अत. उसका ग्रहण किया गया है।[3] ठीक इसी प्रकार का विवेचन हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त ने भी किया है।[4]

---

१ वाग्भटालंकार, ५।३। २ काव्यानुशासन, २।२।
३ वही, २।२ वृत्ति।
४ द्रष्टव्य—तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृंगार। तदनुगामी च हास्य। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्तत करुण। ततस्तन्निमित्त रौद्र। स चार्थप्रधान। तत कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद् वीर। स हि धर्मप्रधान। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदनन्तर भयानक। तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो बीभत्स इति। वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुत। यद्वीरेणाक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्। ——————ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीत-निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफल शान्त।

—अभिनवभारती, पृ० ४१२।

हेमचन्द्र के अनुसार ये नौ रस परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अत आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाला स्नेहरस मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसका रति आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। उसी प्रकार युवकों का मित्र के प्रति स्नेह रति में, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति स्नेह धर्मवीर में और बालकों का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह का भयानक-रस में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्रादि के प्रति स्नेह के विषय में समझना चाहिए तथा गर्ध स्थायिभाव वाले लौल्यरस का हास्य, रति अथवा अन्यत्र अन्तर्भाव समझना चाहिए। इसी प्रकार भक्तिरस का अन्तर्भाव भी अन्य रसों में किया जा सकता है।[1]

उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग स्नेह, लौल्य एवं भक्ति-रस को भी मानते थे, किन्तु इन रसों का अलग से मानना हेमचन्द्र के लिए अभीष्ट नहीं है। अत उन्होंने उक्त रसों का खंडन करके शृंगारादि रसों में ही उनका अन्तर्भाव किया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नौ रसों का उल्लेख किया है।[2] उन्होंने शृंगारादि रसों को उसी क्रम से प्रस्तुत किया है, जो क्रम हेमचन्द्र ने अपनाया है तथा इनके रखने में भी वही [illegible] प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें हेमचन्द्र ने स्वीकार किया है।[3] इसके अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि शृंगारादि नौ रस विशेष रूप से मनोरंजक एवं पुरुषार्थों में उपयोगी होने से पूर्वाचार्यों द्वारा कहे गये हैं। किन्तु कुछ लोग अन्य रसों की भी सम्भावना करते हैं। यथा—तृष्णा (लालच) रूप स्थायिभाव वाला लौल्यरस, आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाला स्नेहरस, आसक्ति रूप स्थायिभाव वाला व्यसन-रस, अरति रूप स्थायिभाव वाला दुःख-रस एवं संतोष रूप स्थायिभाव वाला सुख-रस। जिनका अन्तर्भाव पूर्वरसों में ही कहा गया है।[4]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने शृंगारादि नौ रसों को स्वीकार किया है।[5] ये रसक्रम निरूपण में हेमचन्द्र के अनुगामी हैं तथा उनके इस क्रम को अपनाने का हेतु

---

१ काव्यानुशासन, २।२ वृत्ति।   २. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।६।

३ वही, ३।६ वृत्ति।   ४. वही, ३।८ वृत्ति।

५. शृंगार-हास्य-करुणा रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा अमी॥
—अलंकारमहोदधि, ३।१३।

हेमचन्द्र-सम्मत ही है।[1] उन्होंने आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाले स्नेह आदि सभी रसों का रत्यादि (शृंगारादि) रसों में ही अन्तर्भाव किया है।[2] नरेन्द्र-प्रभसूरि के 'नवनाट्ये रसा अमी' इस कथन से स्पष्ट है कि उन्हें शान्तरस की स्थिति नाट्य में भी स्वीकार थी। विजयवर्णी,[3] अजितसेन,[4] वाग्भट-द्वितीय,[5] भावदेवसूरि[6] और पद्मसुन्दरगणि[7] को भी नौ रस-भेद मान्य हैं। भावदेवसूरि ने यद्यपि रसों की गणना स्पष्ट रूप से नहीं की है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित नौ विभावों की गणना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें नौ रस-भेद ही मान्य हैं।

सिद्धिचन्द्रगणि ने प्राचीनों (मम्मटादि) के अनुसार यद्यपि नौ रसों का उल्लेख किया है[8] तथापि नवीनों के अनुसार शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत इन चार रसों को ही स्वीकार किया है[9] और नवीनों का मत वस्तुतः उनका अपना ही है। करुणादि क्यों रस नहीं हैं, इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—इष्ट वस्तु के नाश होने पर चित्त में होने वाली विकलता को शोक कहते हैं। रौद्र शक्ति से उत्पन्न होता है, मन की विकलता का नाम भय है, दोष—दर्शनादि से होने वाली निन्दा को जुगुप्सा कहते हैं और तत्त्वज्ञान से उत्पन्न ईर्ष्या आदि के प्रति अनादर निर्वेद कहलाता है। अतः शोकादि प्रकृति वाले करुणादि रसों का निषेध किया गया है।[10]

अब प्रश्न उठता है कि जब करुणादि रस नहीं हैं तब कवियों के द्वारा अज-विलापादि का वर्णन क्यों किया जाता है ? इसके उत्तर में सिद्धिचन्द्रगणि का कहना है कि अज आदि राजाओं का अपनी-अपनी प्रिया के प्रति अनु-रागाधिक्य का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है और यही कारण है कि कालिदास ने राजा अज का अपनी प्रिया इन्दुमती के प्रति अनुराग के कारण देहत्याग का वर्णन किया है। इसी प्रकार शान्तरस का विवेचन मुमुक्षुओं के वैराग्यातिशय के ज्ञान हेतु किया जाता है। इसी प्रकार भय के आधिक्य का वर्णन उन-उन व्यक्तियों की कोमलता का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है

---

१ अलंकारमहोदधि, ३।१३ वृत्ति।
२ वही, ३।१३ वृत्ति।
३ शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।६-७।
४ अलंकारचिन्तामणि, ५।८५।
५ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५३।
६ काव्यालंकारसारसंग्रह, ८।३।
७ अकबरसाहिशृंगारदर्पण, १।११।
८ काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० १६।
९ वही, पृ० १६।
१० वही, पृ० २१।

और यथार्थ बात तो यह है कि कवियों के द्वारा अपनी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए ही पद्यबन्ध आदि काव्य के निर्माण की तरह यहाँ-वहाँ प्रवृत्ति होती है।[1]

सिद्धिचन्द्रगणि का यह विवेचन नवीन होते हुए भी सर्वथा युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्न तथ्य सामने आये हैं। यथा—जैनाचार्य आर्यरक्षित ने भरतमुनि-सम्मत भयानक-रस के स्थान पर एक नवीन व्रीडनक रस की कल्पना की है। शेष जैन आचार्य वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी, अजितसेन, वाग्भट-द्वितीय, भावदेवसूरि एवं पद्मसुन्दरगणि भी रस भेदों के समर्थक हैं। किन्तु सिद्धिचन्द्रगणि का मत इस विषय में सर्वथा विलक्षण है। हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने रस क्रम-निरूपण में वे ही हेतु स्वीकार किए हैं, जिन्हें अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है। इन्हीं तीन आचार्यों ने स्नेहादि रसों का उल्लेख करते हुए उनका शृंगारादि-रसों में अन्तर्भाव किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्पष्ट रूप से शान्त रस की स्थिति नाट्य में स्वीकार की है। इस प्रकार जैन आचार्यों द्वारा किया गया रस-भेद विवेचन भरत-परम्परा का अनुसरण करते हुए भी अनूठा है।

शृंगार-रस

इसका स्थायिभाव रति है। भरतमुनि के अनुसार यह उत्तम प्रकृति वाले युवक नायक-नायिका में होता है। उन्होंने इसके दो भेद किए हैं—संभोग-शृंगार और विप्रलम्भ-शृंगार। संभोग-शृंगार ऋतु, माला, अनुलेपन, अलंकार धारण, इष्टजन-सामीप्य, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, वनगमन तथा अनुभव करने, सुनने, प्रिय के देखने, तथा क्रीड़ा और लीलादि विभावों से उत्पन्न होता है।[2] किन्तु जब नायक-नायिका एक दूसरे से बिछुड़कर दुःखानुभूति करते हैं तब विप्रलम्भ-शृंगार की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार शृंगार-रस, रति-संयोग की कामना का उत्पादक है। मंडन (अलंकारों से शरीरांगों को सुसज्जित करना), विलास (हाव-भाव प्रदर्शन), विब्बोक (अहंकार के वशीभूत होकर अभिमत वस्तु प्राप्ति के प्रति अनादर का भाव), हास्य, लीला (सकाम चेष्टाएँ) और रमण (क्रीड़ा)

---

1. काव्यप्रकाशखंडन, पृ० ५२। 2. नाट्यशास्त्र, ६।४५।

ये शृंगार रस के चिह्न हैं। यथा—युवती अपने मधुर-विलासों से सुन्दर युवकों के हृदय को उन्मत्त करने वाला, शब्दों से मुखरित मेखला-सूत्र दिखा रही है। आयरक्षित ने साधुओं को इससे बचने का उपदेश देते हुए कहा है कि ऐसे शृंगार को धिक्कार है—धिक्कार है, यह साधुओं के लिए त्याज्य है। यह शृंगार-रस मोक्ष रूपी गृह के लिए अगला के समान है, यह मुनियों द्वारा असेवनीय है।[1]

धनजय ने शृंगार के तीन भेद किये हैं—अयोग, विप्रयोग और संयोग। जब नायक-नायिका मे परस्पर अनुराग होने पर भी परतन्त्रता अथवा दैव के कारण मिलन नही होता है, तब वह अयोग कहलाता है।[2] मम्मट ने शृंगार रस के भरत-सम्मत ही उक्त दो भेद करके संयोग-शृंगार के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधर-पान, चुम्बनादि अनन्त भेद होने से अगणनीय एक ही भेद गिना है तथा विप्रलम्भ-शृंगार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के कारण पाँच भेद माने हैं।[3]

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने लिखा है कि स्त्री और पुरुष का परस्पर प्रेम-भाव शृंगार है। यह दो प्रकार का होता है—संयोग और विप्रलम्भ। स्त्री-पुरुष का मिलन संयोग शृंगार है और उनका वियोग विप्रलम्भ शृंगार है। पुन प्रच्छन्न और प्रकाश के भेद से यह दो प्रकार का होता है।[4] हेमचन्द्र के अनुसार सुखमय धृति आदि व्यभिचारिभावों और रोमांच आदि अनुभावों वाला संभोग-शृंगार है, यह परस्पर अवलोकन आदि के भेद से अनन्त प्रकार का है तथा शंकादि व्यभिचारिभावों और संताप आदि अनुभावों वाला विप्रलम्भ-शृंगार है। यह अभिलाष, मान और प्रवास के भेद से तीन प्रकार का है। पुन अभिलाष के दैववशात् एवं परतन्त्रतावशात् ये दो भेद, मान के प्रणय एवं ईर्ष्या ये दो भेद तथा प्रवास के कार्यहेतुक, शापहेतुक एवं सभ्रम ये तीन भेद किये हैं।[5] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने करुण-विप्रलम्भ को करुण-रस ही स्वीकार किया है।[6] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सर्वप्रथम शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ ये दो भेद माने हैं। पुन संभोग को अनन्त भेदो वाला कहकर

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८३६।

२ हिन्दी दशरूपक, ४।५०–५१। ३ काव्यप्रकाश, पृ० १२१, १२३।

४ वाग्भटालंकार, ५।५–६। ५ काव्यानुशासन, २।४–८।

६. करुण विप्रलम्भस्तु करुण एव। वही, २।५ वृत्ति।

विप्रलम्भ के मान, प्रवास, शाप, ईर्ष्या और विरह ये पाँच भेद किये हैं। तत्पश्चात् शृंगार के विभावादि का उल्लेख किया है।[1] नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्व-प्रथम शृंगार के दो भेद किये हैं—संयोग और विप्रलम्भ। पुनः सम्भोग के परस्पर अवलोकन आदि अनन्त भेद माने हैं। विप्रलम्भ के पाँच भेद किये हैं—स्पृहा, शाप, वियोग, ईर्ष्या और प्रवासजन्य।[2] यद्यपि नरेन्द्रप्रभसूरि ने संयोग-शृंगार के अनन्त भेद स्वीकार किये हैं तथापि पाँच प्रकार के विप्रलम्भ के पश्चात् होने वाले सम्भोग के कारण संयोग-शृंगार भी पाँच प्रकार का माना है—स्पृहानन्तर, शापानन्तर, वियोगानन्तर, ईर्ष्यानन्तर एवं प्रवासानन्तर।

'एवं च यद्यपि चुम्बनालिंगनादिभिः सम्भोगस्यानन्त्यमुक्तम्, तथापि पञ्चप्रकारविप्रलम्भानन्तरभावित्वात् तस्यापि पंचविधत्वमेव।'[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने करुण-विप्रलम्भ को हेमचन्द्र की तरह करुण रस ही माना है।[4] विजयवर्णी का शृंगार-रस-भेद निरूपण वाग्भट-प्रथम के समान है।[5] अजितसेन ने सर्वप्रथम शृंगार के दो भेद किए हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। पुन आलम्बन के भेद से सम्भोग के दो भेद किए हैं—प्रच्छन्न-संभोग और प्रकाश-संभोग। विप्रलम्भ को अभिलाष आदि के भेद से अनेक प्रकार का माना है।[6] वाग्भट-द्वितीय का शृंगार-रस-भेद विवेचन हेमचन्द्र के समान है।[7] भेद केवल इतना है कि हेमचन्द्र ने प्रवास के तीन भेद किए हैं—कार्य-हेतुक, शाप-हेतुक और सम्भ्रम। किन्तु वाग्भट-द्वितीय ने कार्यहेतुक, शापहेतुक दैववशात् और परवशात् ये चार प्रवास के भेद माने हैं।[8] पद्मसुन्दरगणि का शृंगारभेद-निरूपण वाग्भट-प्रथम के समान है।[9]

जैनाचार्यों द्वारा किया गया उपर्युक्त शृंगार-रस विवेचन प्रायः भरत-परम्परा का अनुगमन करता है। किन्तु हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा करुण-विप्रलम्भ को करुण-रस स्वीकार करना आदि नवीनता के द्योतक हैं।

---

१ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१०-११। २. अलंकारमहोदधि, ३।१५-१६।
३ वही, ३।१६ वृत्ति। ४. वही, ३।१६ वृत्ति।
५ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।६६, ९९।
६ अलंकारचिन्तामणि, ५।८६, ८९, ९५।
७. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५३-५४। ८. वही, पृ० ५४।
९. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, १।१६-१७, ३।१।

हास्य-रस :

इसका स्थायिभाव हास है। भरतमुनि ने इसकी उत्पत्ति विकृत वेष, अलंकारादि विभावों से मानी है।[1] उनके अनुसार हास्य छः प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। प्रथम दो प्रकार का हास्य उत्तम पुरुषों में, मध्यम दो प्रकार का हास्य मध्यम पुरुषों में तथा अन्तिम दो प्रकार का हास्य अधम पुरुषों में पाया जाता है।[2] वह आत्मस्थ और परस्थ के भेद से भी दो प्रकार का होता है। जब किसी भी वस्तु के दर्शनादि से स्वयं हँसता है, तब आत्मस्थ कहलाता है और जब दूसरे को हँसाता है, तब वह परस्थ कहलाता है।[3]

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार रूप, वय (अवस्था), वेश और भाषा की विडम्बना से उत्पन्न रस हास्य है। मन के हर्षित होने से भ्रू, नेत्र आदि का विकसित होना इस रस के चिन्ह (अनुभाव) हैं। यथा—कज्जल की रेखा से युक्त सोये हुए देवर को जागा हुआ देखकर स्तन के भार से कम्पित और जिसकी कमर झुकी हुई है, ऐसी श्यामा खिलखिला कर हँस रही है।[4] वाग्भट-प्रथम ने वेश आदि की विकृति से हास्य की उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार यह उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के भेद से तीन प्रकार का है। महापुरुषों के हास्य में केवल कपोलों और नेत्रों में हास्य रहता है तथा ओष्ठ बन्द रहते हैं। मध्यम पुरुषों के हास्य में मुख खुल जाता है और अधमों का हास्य शब्द-पूर्वक होता है।[5] हेमचन्द्र ने लिखा है कि स्मित, विहसित और अपहसित के भेद से आत्मस्थ हास्य तीन प्रकार का होता है, तथा क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति में पाया जाता है। इसी प्रकार हसित, उपहसित, और अतिहसित के भेद से परस्थ भी तीन प्रकार का होता है, जो क्रमशः उत्तमादि प्रकृतियों में पाया जाता है।[6] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विकृत आचरण और आश्चर्यकारी चेष्टाओं से हास्य-रस की उत्पत्ति मानी है तथा उन्हें हास्य के भरत-सम्मत भेद ही मान्य हैं।[7] नरेन्द्रप्रभसूरि ने आत्मस्थ और परस्थ के

---

१ नाट्यशास्त्र, ६।४८, पृ० ७४।

२ वही, ६।५२-५३। ३ वही, ६।४८, पृ० ७४।

४ अनुयोगद्वार सूत्र (द्वितीय भाग), पृ० ३।

५. वाग्भटालंकार, ५।२३-२४।

६ काव्यानुशासन, २।१०-११। ७ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१२-१३।

भेद से हास्य दो प्रकार का माना है।[1] विजयवर्णी ने सर्वप्रथम हास्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। पुनः स्मित और हसित को उत्तम, विहसित और उपहसित को मध्यम तथा अपहसित और अतिहसित को अधम माना है।[2] अजितसेन ने हास्य के केवल तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।[3] वाग्भट-द्वितीय ने हास्य के तीन भेद माने हैं—स्मित, विहसित और अपहसित।[4] पद्मसुन्दरगणि ने अजितसेन की तरह हास्य के उत्तमादि तीन भेद किए हैं।[5] सिद्धिचन्द्रगणि ने स्मित, हसित और अतिहसित को उत्तम-मध्यम पुरुषों में अनुभाव स्वीकार किया है।[6]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने हास्य-रस की उत्पत्ति विकृत वेश आदि से ही स्वीकार की है तथा उन्हें हास्य के वे ही भेद स्वीकार हैं, जिन्हें अन्य आलंकारिकों ने स्वीकार किया है।

करुण-रस

इष्ट के विनाश और अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होने वाला करुण-रस कहलाता है। इसका स्थायिभाव शोक है। भरतमुनि ने शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-वियोग, विभव-नाश, वध, बन्ध, विद्रव, उपघात और व्यसन आदि विभावों से करुण-रस की उत्पत्ति मानी है।[7]

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने लिखा है कि प्रिय के वियोग, बन्धन, ताड़न, रोग, मरण और संभ्रम आदि से करुण रस की उत्पत्ति होती है। शोक, विलाप, मुख की म्लानता और रुदन आदि इसके चिह्न (अनुभाव) हैं। यथा—प्रिय विषयक चिन्ता से मलिन-चित्त और आँसुओं से भरी आँखों वाली हे पुत्री! उसके वियोग में तेरा मुख कृश हो गया है।[8] वाग्भट-प्रथम ने शोक से उत्पन्न रस को करुण कहा है।[9] हेमचन्द्र के अनुसार इष्ट-विनाश आदि विभाव, दैवोपालम्भ आदि अनुभाव, निर्वेद-ग्लानि आदि दुःखमय व्यभिचारिभाव और शोक रूप स्थायिभाव वाला करुण रस है।[10] रामचन्द्र-गुणचन्द्र,[11] नरेन्द्रप्रभ-

---

१ अलंकार-महोदधि, ३।१७ वृत्ति। २. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।६९-७० ।
३. अलंकार-चिन्तामणि, ५।९९-१०० । ४ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५ ।
५. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।२३, २४ ।
६ काव्यप्रकाशखंडन, पृ० १९ । ७. नाट्यशास्त्र, ६।६१, पृ० ७५ ।
८. अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ९ । ९. वाग्भटालंकार, ५।२२ ।
१०. काव्यानुशासन, २।१२ । ११. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१४ ।

सूरि,[1] विजयवर्णी,[2] अजितसेन,[3] वाग्भट-द्वितीय[4] और पद्मसुन्दरगणि[5] ने समान रूप से करुण रस का विवेचन किया है, जिसमें करुण रस के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का उल्लेख करते हुए उसके स्थायिभाव पर प्रकाश डाला है। यह विवेचन भरत-परम्परा का पोषक है।

रौद्र-रस .

इसका स्थायिभाव क्रोध है। इसकी उत्पत्ति शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि के द्वारा होती है। भरत ने इसे राक्षस, दानव और उद्धत पुरुषों के आश्रित माना है। यह रौद्ररस क्रोध, धर्षण, अधिक्षेप, अपमान, झूठ वचन, कठोर वाणी, द्रोह और मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[6]

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने रौद्र रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि—भयोत्पादक रूप, शब्द और अन्धकार के स्वरूप-चिन्तन से तथा तद्विषयक कथाओं के स्मरण से उत्पन्न समोह, सभ्रम विषाद और मरण रूप चिह्नों (अनुभावों) वाला रौद्ररस है। यथा—पशुहिंसा मे प्रवृत्त किसी हिंसक से कोई धर्मात्मा कह रहा है—भृकुटि से भयावह मुख वाले, अधरोष्ठ को चबाने वाले, खून से लथपथ, भयंकर शब्दों वाले राक्षसों के सदृश तुम पशु की हिंसा कर रहे हो। अत तुम अति रौद्र-परिणामी रौद्र हो।[7] वाग्भट-प्रथम के अनुसार रौद्र रस क्रोधात्मक होता है और क्रोध शत्रु द्वारा किये गये पराभव से होता है। इसका नायक भीषण स्वभाव वाला, उग्र और विरोधी होता है। अपने कन्धों को पीटना, आत्म-प्रशंसा, अस्त्र फेंकना, भृकुटि चढ़ाना, शत्रुओं की निन्दा तथा मर्यादा का उल्लंघन ये उसके अनुभाव हैं।[8] हेमचन्द्र ने स्त्रियों का अपमान आदि विभाव, नेत्रों की लालिमा आदि अनुभाव और उग्रता आदि व्यभिचारिभावों से युक्त क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्र रस कहा है।[9] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का रौद्र रस विवेचन भरत का अनुगामी है।[10] इसी प्रकार

---

१ अलंकारमहोदधि, ३।१८। २ शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ८।७४-७७।
३ अलंकारचिन्तामणि, ५।१०१। ४ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५।
५ अकबरसाहिशृंगार दर्पण, ४।२६-३१।
६ नाट्यशास्त्र, ६।६३, पृ० ७५।
७ अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८४१।
८. वाग्भटालंकार, ५।२९-३०।
९ काव्यानुशासन, २।१३। १० हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१५।

नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।[1] विजयवर्णी के अनुसार रौद्र दो प्रकार का होता है—मात्सर्य और द्वेष से उत्पन्न। इसके अतिरिक्त उन्होंने रौद्ररस के विभावादि का भी उल्लेख किया है।[2] अजितसेन विभावादि से परिपुष्ट क्रोध को रौद्ररस मानते हैं।[3] वाग्भट-द्वितीय ने रौद्र के विभाव आदि का उल्लेख हेमचन्द्र की तरह किया है।[4] पद्मसुन्दरगणि का रौद्ररस विवेचन वाग्भट-प्रथम से प्रभावित है।[5] इस प्रकार रौद्ररस का सभी आचार्यों का विवेचन एक ही सरणी पर आधारित है।

वीर-रस

इसका स्थायिभाव उत्साह है। भरत ने उत्साह नामक स्थायिभाव को उत्तम प्रकृतिस्थ माना है। उनके अनुसार वीररस की उत्पत्ति असंमोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, अत्यधिक पराक्रम, शक्ति, प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है।[6]

जैनाचार्य आर्यरक्षित का वीररस विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण को लिए हुए है, उनके अनुसार परित्याग और तपश्चरण करने पर तथा शत्रु का विनाश होने पर अननुशय (अहंकार-रहित) धृति और पराक्रम पूर्ण चिह्नों (अनुभावों) से युक्त वीररस कहलाता है। यथा—जो राज्य का त्याग करके दीक्षित होता है तथा काम, क्रोध-रूप महाशत्रु पक्ष का विनाश करता है, वह महावीर कहलाता है।[7] वाग्भट-प्रथम ने उत्साह नामक स्थायिभाव वाले वीररस के नायक को समस्त श्लाघनीय गुणों से युक्त माना है तथा इसके तीन भेद किए हैं—धर्मवीर, युद्धवीर और दानवीर।[8] हेमचन्द्र के अनुसार नीति आदि विभाव, स्थिरता आदि अनुभाव और धृति आदि व्यभिचारिभावों से युक्त उत्साह नामक स्थायिभाव वाला वीररस है। इसके धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ये तीन भेद हैं।[9] रामचन्द्र-गुणचन्द्र पराक्रम, बल, न्याय, यश और तत्त्वविनिश्चय से वीररस की उत्पत्ति मानते हैं, इसका अभिनय धैर्य, रोमाञ्च और दान से

---

१. अलंकारमहोदधि, ३।१९।
२. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।८०-८३।
३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०५।
४. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५।
५. अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण, ४।२२।
६. नाट्यशास्त्र, ६।६६।
७. अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८२३।
८. वाग्भटालंकार, ५।२१।
९. काव्यानुशासन, २।१७।

किया जाता है।[1] उन्होंने वीररस के निश्चित भेद नहीं माने हैं, अपितु युद्ध, धर्म, दान आदि गुणों तथा प्रतापाकथन आदि उपाधि-भेदो से इसके अनेक भेद स्वीकार किए हैं।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि का वीररस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।[3] विजयवर्णी ने वीररस के विभावादि का उल्लेख करते हुए दानवीर, दयावीर और युद्धवीर ये तीन भेद माने हैं।[4] अजितसेन के अनुसार विभावादि से परि-पुष्ट उत्साह नामक स्थायिभाव वीररस है, वह दानवीर, दयावीर और युद्धवीर के भेद से तीन प्रकार का होता है।[5] वाग्भट-द्वितीय का वीररस विवेचन हेमचन्द्र सम्मत है।[6] पद्मसुन्दरगणि ने वीररस के तीन भेद किये हैं—दयावीर दानवीर और युद्धवीर।[7] इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया विवेचन अपने आप मे पूर्ण है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सामान्यतया वीररस के चार भेद माने जाते हैं—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर। किन्तु जैनाचार्यों ने केवल तीन भेदो का ही उल्लेख किया है, चार का नही। कुछ आचार्यों ने दयावीर का उल्लेख न कर शेष तीन भेदो का उल्लेख किया है, जिनमे वाग्भट-प्रथम, हेम-चन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि और वाग्भट-द्वितीय आते हैं। ये आचार्य भरत-परम्परा के पोषक हैं।[8] कुछ आचार्यों ने धर्मवीर का उल्लेख न कर शेष तीन भेदों का उल्लेख किया है, जिनमे विजयवर्णी, अजितसेन और पद्मसुन्दरगणि आते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को वीररस के कोई निश्चित भेद मान्य नही हैं।

भयानक रस

इसका स्थायिभाव भय है। इसकी उत्पत्ति भयानक दृश्यों को देखने से होती है। आचार्य भरत ने विकृत ध्वनि, भयानक प्राणियों के दर्शन, सियार और उल्लू के द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य-गृह, अरण्य-प्रवेश, मरण, स्वजनों के वध अथवा बन्धन के देखने-सुनने या कथन करने आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी है।[9]

---

१ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१६। २ वही, ३।१६ विवृति।

३ न्यायादिविषयः स्थैर्यादिहेतुयुक्त्यायुपस्कृतः।
उत्साहो दान-युद्ध-धर्मभेदो वीररसः स्मृतः॥ —अलंकारमहोदधि, ३।२०।

४ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।८६-९०। ५. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०९।

६ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६। ७. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।३५।

८ नाट्यशास्त्र, ६।७९। ९ वही, ६।६८।

वाग्भट-प्रथम ने भयानक वस्तुओं के दर्शन से भयानक रस की उत्पत्ति मानी है। यह रस प्रायः स्त्रियों, नीच व्यक्तियों और बालकों में वर्णित किया जाता है।[1] हेमचन्द्र के अनुसार विकृत-स्वर-श्रवण आदि विभावों, कर-कम्पन आदि अनुभावों और शंका आदि व्यभिचारिभावों से युक्त भय नामक स्थायिभाव भयानक रस है।[2] हेमचन्द्र का यह कथन भरत से प्रभावित है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र पताका, कीर्ति, रौद्र-कार्य, युद्ध, शून्य स्थान, तस्कर और बड़े लोगों के प्रति किये गये अपराध से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। स्तम्भ, रोमांच और कम्पन से इसका अभिनय करना चाहिये।[3] नरेन्द्रप्रभसूरि का भयानक रस विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।[4] विजयवर्णी ने चतुर्विध भा ो के संयोजनपूर्वक इस रस की उत्पत्ति मानी है।[5] अजितसेन ने विभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट भय नामक स्थायिभाव को भयानक रस स्वीकार किया है।[6] इस प्रसंग में वाग्भट-द्वितीय ने हेमचन्द्र-सम्मत विवेचन ही प्रस्तुत किया है।[7] पद्मसुन्दरगणि ने शब्दादि की विकृति अथवा भीषण वस्तु के दर्शन से भयानक रस की उत्पत्ति मानी है। यह बालक, स्त्री और कातर व्यक्ति में पाया जाता है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों द्वारा किया गया भयानक रस का विवेचन भरत-परम्परा का सर्वथा पोषक है। यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य आर्यरक्षित ने भयानक रस को स्वीकार नहीं किया है।

बीभत्स रस

इसका स्थायिभाव जुगुप्सा है। बीभत्स दृश्यों के दर्शन से इसकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने अहृद्य और अप्रिय पदार्थों को देखने, अनिष्ट वस्तु के श्रवण, दर्शन और परिकीर्तन आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी है।[9]

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार कुणप (शव) और घृणित वस्तुओं के दर्शन तथा उसकी गन्ध से उत्पन्न होने वाला रस बीभत्स है। निर्वेद और अविहिंसा

---

१ वाग्भटालंकार, ५।२७। २ काव्यानुशासन, २।१५।

३ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१७।

४ कम्पादिकार्यः कृत्स्वरश्रुत्याद्युद्भवः।
भयं भवति शङ्कादिव्यभिचारि भयानकः॥ —अलंकारमहोदधि ३।२१।

५. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।९४-९७।

६. अलंकार चिन्तामणि, ५।११४। ७. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६।

८. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।४१। ९. नाट्यशास्त्र, ६।७२।

इसके अनुभाव हैं। यथा—अशुचि, मल से युक्त, निर्झर (बहने) स्वभाव वाले प्रत्येक समय दुर्गन्ध से युक्त, अत्यधिक मल से पूरित, शरीररूपी कलि को त्यागने वाले धन्य हैं।[१] यह विवेचन वैराग्य प्रधान है। वाग्भट-प्रथम ने इसकी उत्पत्ति जुगुप्सा नामक स्थायिभाव से मानी है। उनके अनुसार अहृद्य वस्तु का श्रवण अथवा दर्शन उसके विभाव तथा थूकना और मुख विकृति आदि उसके अनुभाव है। उत्तम व्यक्तियो मे इन अनुभावो का वर्णन नहीं करना चाहिए।[२] हेमचन्द्र ने अहृद्य वस्तु के दर्शन आदि विभावो, अग सकोचन आदि अनुभावों और अपस्मार आदि व्यभिचारिभावो से युक्त जुगुप्सा नामक स्थायिभाव को बीभत्स-रस कहा है।[३] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसकी उत्पत्ति जुगुप्सा-जनक वस्तुओं के दर्शन अथवा शत्रु-प्रशसा से मानी है। इसका अभिनय थूकने, नाक-भौं सिकोडने और निन्दा के द्वारा करना चाहिए।[४] नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।[५] विजयवर्णी ने बीभत्स रस के विभावादि भावों का विवेचन करते हुए जुगुप्सा नामक स्थायिभाव से इसकी उत्पत्ति मानी है, उनके अनुसार यह दो प्रकार का होता है—घृणित पदार्थों के दर्शन से उत्पन्न और वैराग्य-जन्य।[६] अजितसेन विभावादि के द्वारा परिपुष्ट जुगुप्सा नामक स्थायिभाव को बीभत्स-रस मानते हैं। उन्हें विजयवर्णी सम्मत उक्त दो भेद ही मान्य हैं।[७] वाग्भट-द्वितीय का बीभत्स रस विवेचन हेमचन्द्र सम्मत है।[८] इसी प्रकार पद्मसुन्दरगणिकृत विवेचन भी पूर्वाचार्य सम्मत है।[९]

उपर्युक्त जैनाचार्यों द्वारा किया गया बीभत्सरस विवेचन बहुमान्य परम्परा का पोषक है।

अद्भुत-रस

इसका स्थायिभाव विस्मय है। इसकी उत्पत्ति आश्चर्यजनक वस्तुओं के दर्शन से होती है। आचार्य भरत ने इसकी उत्पत्ति दिव्य वस्तुओं के दर्शन,

१ अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० १।
२ वाग्भटालकार, ५।३१।
३ काव्यानुशासन, २।१५।
४ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१८।
५ अलकारमहोदधि, ३।२२।
६ शृ गारार्णवचन्द्रिका, ३।९९-१०२।
७ अलंकार-चिन्तामणि, ५।११८।
८. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६-५७।
९. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।४६।

इच्छित वस्तु की प्राप्ति, उत्तम वन एवं देवालय में जाने, सभाभवन, विमान, माया तथा इन्द्रजाल के दर्शन आदि विभावों से मानी है।[1]

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार विस्मयकारी, अपूर्व और जिसका पहले कभी अनुभव न हुआ हो वह अद्भुत रस है। यह हर्ष-विषाद की उत्पत्ति से युक्त लक्षणों वाला होता है। यथा—इस जीवलोक में इससे अद्भुत और क्या है, जो जिन-वचन में स्थित भूतानागत-वर्तमान युक्त अर्थ जानते हैं।[2] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आर्यरक्षित द्वारा प्रतिपादित उक्त अद्भुत रस सभ्यता का प्रतीक है, इसमें छल-कपट आदि को कोई स्थान नहीं है। वाग्भट-प्रथम ने विस्मय स्थायिभाव वाले अद्भुत रस की उत्पत्ति असम्भाव्य वस्तु के दर्शन अथवा श्रवण से मानी है।[3] हेमचन्द्र के अनुसार दिव्य-दर्शन आदि विभावों, नयन विस्तार आदि अनुभावों और हर्ष आदि व्यभिचारिभावों से युक्त विस्मय नामक स्थायिभाव वाला अद्भुत-रस कहलाता है।[4] रामचन्द्र-गुणचन्द्र दिव्य विभूतियों, इन्द्रजाल अथवा सुन्दर वस्तुओं के दर्शन तथा अभीष्ट सिद्धि से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानते हैं। इसका अभिनय प्रशंसा, रोमाञ्च और हर्ष के द्वारा करना चाहिए।[5] नरेन्द्रप्रभसूरि का अद्भुत-रस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।[6] विजयवर्णी ने विभावादि भावों से युक्त विस्मय नामक स्थायिभाव से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानी है।[7] अजितसेन के अनुसार विभावादि से परिपुष्ट विस्मय नामक स्थायिभाव अद्भुत-रस है।[8] वाग्भट-द्वितीय का अद्भुत-रस विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।[9] पद्मसुन्दरगणि असम्भाव्य वस्तु के दर्शन से ही प्रस्तुत रस की उत्पत्ति मानते हैं।[10]

जैनाचार्यों द्वारा किया हुआ प्रस्तुत अद्भुत रस का विवेचन अपने आप में पूर्ण तथा शास्त्रीय परम्परा का पोषक है।

---

१ नाट्यशास्त्र, ६।७४ चौखम्बा प्रकाशन, १९७२ के हिन्दी नाट्यशास्त्र, ६।७५ में पाठान्तर है।

२ अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८२९।

३ वाग्भटालंकार, ५।२५।

४ काव्यानुशासन, २।१६।

५ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।११।

६ अलंकारमहोदधि, ३।२१।

७ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१०५-१०७।

८ अलंकारचिन्तामणि, ५।१२४।

९ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५७।

१० अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।७६।

शान्त-रस :

इसके स्थायिभाव के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इसका स्थायिभाव शम मानते हैं और कुछ लोग निर्वेद। एक प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार आचार्य भरत ने शम नामक स्थायिभाव वाले शान्तरस को मोक्षप्रवर्तक कहा है। इसकी उत्पत्ति तत्त्व-ज्ञान, वैराग्य और चित्त-शुद्धि आदि विभावों के द्वारा होती है।[१]

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने इसे प्रशान्त रस के नाम से सम्बोधित किया है। उनके अनुसार हिंसादिक दोषों से रहित, एकाग्रचित्त से उत्पन्न और विकार-रहित लक्षणवाला प्रशान्त रस है। यथा—स्वभाव से निर्विकार, शान्तचित्त और सौम्यदृष्टि से युक्त मुनि का मुख कमलश्री से शोभायमान हो रह है, यह आश्चर्य की बात है।[२] वाग्भट-प्रथम सम्यग्ज्ञान से शान्तरस की उत्पत्ति मानते हैं। इसका नायक निःस्पृही होता है, वह रागद्वेष के परित्याग से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति मे हेतु है।[३] आचार्य हेमचन्द्र ने वैराग्य आदि विभावों, यम आदि अनुभावों और धृति आदि व्यभिचारिभावों से युक्त शम नामक स्थायिभाव वाला शान्तरस कहा है।[४] उनके अनुसार शम का तात्पर्य तृष्णाक्षय है।[५] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने ससार भीरुता, वैराग्य, तत्त्व-चिन्तन और शास्त्रों के परि-शीलन स शान्त रस की उत्पत्ति मानी है। इसका अभिनय क्षमा, ध्यान और उपकार से किया जाता है।[६] नरेन्द्रप्रभसूरि का शान्तरस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।[७] विजयवर्णी ने विभावादि चतुष्टय से अभिव्यक्त होने वाले शम नामक स्थायिभाव को शान्त रस कहा है।[८] इसी प्रकार का विवेचन अजितसेन ने भी किया।[९] वाग्भट-द्वितीय का विवेचन हेमचन्द्र के समान है।[१०] पद्मसुन्दर-

---

१ हिन्दी नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, पृ० ३५०-३५१।

२ अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ८। ३ वाग्भटालंकार, ५।३२।

४ काव्यानुशासन, २।१७।

५ तृष्णाक्षयरूप शम।—वही, २।१७ वृत्ति।

६ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२०।

७ वैराग्यादिविभावोत्थो यमप्रभृतिकार्यकृत्।
निर्वेदप्रमुखोजस्वी, शमः शान्तत्वमश्नुते ॥ —अलंकारमहोदधि, ३।२४।

८ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१०९-११२।

९ अलंकारचिन्तामणि, ५।१२९। १० काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५७।

व्यक्ति ने शान्तरस की उत्पत्ति सम्यग्ज्ञान से मानी है, इसका नेता रागद्वेष से रहित निःस्पृही होता है।[1]

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त शान्तरस विवेचन में सभी आचार्यों ने शम नामक स्थायिभाव को ही शान्तरस में स्वीकार किया है, जबकि आचार्य मम्मट ने शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद स्वीकार किया है।[2]

व्रीडनक-रस

इसका स्थायिभाव लज्जा है। इसका विवेचन एक मात्र जैनाचार्य आर्यरक्षित ने किया है। उनके अनुसार माता-पिता आदि गुरुजनों के प्रति विनय का उल्लंघन करने, गुप्त-वार्ता प्रकट करने तथा गुरु-पत्नी आदि के प्रति मर्यादा का उल्लंघन करने से उत्पन्न होने वाला रस व्रीडनक है। लज्जा, शंका आदि इसके चिह्न हैं। यथा—इस लोक-व्यवहार से अधिक लज्जास्पद और क्या हो सकता है ? मैं तो लजाती हूँ, जो वर-वधू के प्रथम मिलन के समय धारण किए गये वधू के (रक्त से युक्त) वस्त्र की गुरुजन प्रशंसा करते हैं।[3]

भरतादि आचार्यों ने भयानक रस का उल्लेख किया है, किन्तु आर्यरक्षित ने भयानक के स्थान पर व्रीडनक का प्रतिपादन किया है, जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता है। यद्यपि नवीनता की दृष्टि से यह रस हो सकता है, किन्तु इसकी सत्ता में सन्देह है। क्योंकि न तो इसे परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त हुई है और न ही यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त है। इसीलिये डॉ० वी० राघवन् आदि आधुनिक काव्यशास्त्री व्रीडनक को स्वतन्त्र रस की संज्ञा नहीं देते हैं।[4] जबकि भयानक रस की सत्ता असंदिग्ध है, जिसे सभी आचार्यों ने एक मत से स्वीकार किया है।

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त रस विवेचन से ज्ञात होता है कि जैना-

---

१. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।५२। २. काव्यप्रकाश, ४।३५।

३ विणओवयारगुज्झगुरुदारमेरावइक्कमुप्पण्णो।
वेलणओ नाम रसो, लज्जासंकाकरणलिंगो॥
वेलणओ रसो जहा—किं लोइयकरणीओ लज्जणीअतरं ति लज्जामु त्ति ?
वारिज्जम्मि गुरुयणो परिवंदइ जं वहूपोत्तं॥
—अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८४५।

४ दी नम्बर ऑफ रसाज, वी० राघवन, पृ० १४१।

चार्यों ने प्राय. प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विक-भाव और स्थायिभावों पर विचार किया है। इसके साथ ही उनके भेदो का भी यथा सम्भव उल्लेख किया है। आचार्य हेमचन्द्र प्रस्तुत रस-विवेचन मे भरत-मुनि के ऋणी हैं, क्योंकि उनका विवेचन प्राय भरतमुनि का अनुगमन करता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र मूलत नाट्याचार्य हैं, अत उन्होंने अपने रस-विवेचन मे प्रत्येक रस के अभिनय का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु ये उस रस के अनु-भाव मात्र हैं। सामान्यतया हेमचन्द्र और वाग्भट-द्वितीय तथा विजयवर्णी और अजितसेन का रस-विवेचन समान है अर्थात् हेमचन्द्र की छाया वाग्भट-द्वितीय पर पड़ी है और विजयवर्णी की छाया अजितसेन पर। इसके अतिरिक्त नरेन्द्र-प्रभसूरि भी हेमचन्द्र से प्रभावित हैं।

आर्यरक्षित द्वारा मान्य क्रीडनक रस का स्वतन्त्र विवेचन किया गया है, क्योंकि इसका न तो किसी रस मे अन्तर्भाव किया जा सकता है और न ही इसे अन्य किसी आचार्य ने मान्यता प्रदान की है।

रसो के वर्ण और देवता

संस्कृत काव्यशास्त्रियो ने प्रत्येक रस के वर्ण (रग) और उसके देवताओं पर विचार किया है। रसों के वर्णों और देवताओं के चयन मे बडी सूझ-बूझ से काम लिया है। यदि आधुनिक दृष्टि को ध्यान मे रखकर इनका मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि काव्य के पाठकों, श्रोताओं अथवा (रूपक के) दर्शको के हाव-भाव, मुख मुद्रा अथवा मनोभावो की कसौटी पर कस कर वर्णों और देवताओ का निर्णय किया गया है। जिस आचार्य ने सर्वप्रथम इनका प्रतिपादन किया है, वह आज के किसी सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक से कम नही है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के बहुमान्य आचार्य भरत ने रसो के वर्णों का प्रतिपादन करते हुये लिखा है कि—शृ गार का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का कृष्ण, बीभत्स का नील और अद्भुत का पीत वर्ण होता है।[1] इसी प्रकार रसो के देवताओं के विषय में लिखा है कि शृ गार का देवता विष्णु, हास्य का प्रमथगण (रुद्रगण), रौद्र का रुद्र, करुण का यम, बीभत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव, वीर का इन्द्र और अद्भुत का ब्रह्मा देवता हैं।[2]

---

१ नाट्यशास्त्र, ६।४२-४३। २. वही, ६।४४-४५।

विजयवर्णी ने शृंगार रस का वर्ण इन्दीवर और देवता वासुदेव, हास्य रस का वर्ण श्वेत और देवता विघ्नराज (गणेश जी), करुण रस का वर्ण कपोत और देवता आद्रदेव, रौद्ररस का वर्ण जवाकुसुम के समान रक्त और देवता रुद्र, वीररस का वर्ण गौर और देवता शतमन्यु, भयानक रस का वर्ण धूम्र और देवता महाकाल, बीभत्स रस का वर्ण नीलमेघ के समान और देवता नन्दी, अद्भुत रस का वर्ण स्वर्ण (सुनहरा) और देवता विधाता (ब्रह्म) तथा शान्त रस का वर्ण शुद्ध स्फटिक मणि के समान और देवता परब्रह्म माना है।[1]

अजितसेन ने शृंगार रस का वर्ण श्याम और देवता विष्णु, हास्य रस का वर्ण चन्द्र के समान श्वेत और देवता गणेश, करुण रस का वर्ण कपोत और देवता यम, रौद्र रस का वर्ण रक्त और देवता रुद्र, वीर रस का वर्ण गौर और देवता इन्द्र, भयानक रस का वर्ण धूम्र और देवता महाकाल, बीभत्स रस का वर्ण नील और देवता काल, अद्भुत रस का वर्ण स्वर्ण (सुनहरा) और देवता ब्रह्मा, शान्त रस का वर्ण श्वेत और देवता परब्रह्म माना है।[2]

उपर्युक्त विवेचन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जहाँ आचार्य भरत ने आठ रसों के वर्णों और देवताओं का वर्णन किया है, वहीं भरत के परवर्ती जैनाचार्य विजयवर्णी एवं अजितसेन ने नौ रसों के वर्णों और देवताओं का विवेचन किया है। चूँकि भरत ने रस-भेद प्रसंग में केवल आठ रसों का वर्णन किया है, अतः आठों रसों के वर्णों और देवताओं पर ही विचार करना स्वाभाविक है। किन्तु विजयवर्णी एवं अजितसेन ने नौ रसों का विवेचन किया है, अतः तदनुसार उन्होंने रसों के नौ वर्णों एवं नौ देवताओं का विवेचन किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भरत ने हास्य का देवता प्रमथगण माना है, किन्तु विजयवर्णी एवं अजितसेन ने हास्य का देवता गणेश जी को माना है। इसी प्रकार भयानक और बीभत्स रस के देवताओं में भी मतभेद है, जहाँ भरत ने भयानक रस का देवता कालदेव माना है वहीं विजयवर्णी और अजितसेन ने महाकाल माना है। इसी प्रकार जहाँ भरत ने बीभत्स रस का देवता महाकाल माना है वहीं विजयवर्णी और अजितसेन ने क्रमशः नन्दी एवं काल को देवता माना है। शेष वर्णों एवं देवताओं में प्रायः समानता है।

---

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।११७-१२५।
२. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३१।

भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतानुसार रसों के वर्णों एवं देवताओं के बोध कराने में निम्न कोष्ठक सहायक होगा—

रसों के वर्णों एवं देवता बोधक-चक्र

	आचार्य भरत		विजयवर्णी		अजितसेन	
रस	वर्ण	देवता	वर्ण	देवता	वर्ण	देवता
शृंगार	श्याम	विष्णु	इन्दीवर	वासुदेव	श्याम	विष्णु
हास्य	श्वेत	रुद्रगण	श्वेत	गणेशजी	चन्द्रवत्शुभ्र	गणेशजी
करुण	कपोत	यम	कषाय	श्राद्धदेव	कपोत	यम
रौद्र	रक्त	रुद्र	जवाकुसुमवत् रक्त	रुद्र	रक्त	रुद्र
वीर	गौर	इन्द्र	गौर	शतमन्यु	गौर	इन्द्र
भयानक	कृष्ण	कालदेव	धूम्र	महाकाल	धूम्र	महाकाल
बीभत्स	नील	महाकाल	नीलमेघवत्	नन्दी	नील	काल
अद्भुत	पीत	ब्रह्मा	स्वर्ण	ब्रह्मा	स्वर्ण	ब्रह्मा
शान्त		•	स्फटिकमणिवत्	परब्रह्म	श्वेत	परब्रह्म

रसों का परस्पर सम्बन्ध

रसों का परस्पर सम्बन्ध दो प्रकार से सम्भव है—अविरोध रूप में और विरोध रूप में अर्थात् कुछ रसो का परस्पर अविरोध रूप सम्बन्ध है, अतः वे अविरोधी-रस कहलाते हैं और कुछ रसों का परस्पर विरोध रूप सम्बन्ध है, अत वे विरोधी रस कहलाते हैं।

अविरोधी रस : आचार्य भरत ने शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक-रस की उत्पत्ति मानी है।[1] अत इनका परस्पर उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है और ये परस्पर अविरोधी रस हैं अर्थात् इन रसों का एक साथ वर्णन किया जा सकता है। विजयवर्णी ने भी उपर्युक्त भरत सम्मत रसों के उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध को स्वीकार किया है,[2] किन्तु इनकी व्यवस्था में शान्त रस का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें कहा गया

१. नाट्यशास्त्र, ६।३९।   २ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१२६।

है कि शान्त रस शान्त होने से किसी अन्य रस से उत्पन्न नहीं होता है[1] अर्थात् शान्त रस उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध से रहित है। इसी प्रकार अजितसेन,[2] पद्मसुन्दरगणि[3] ने भी उक्त भरत-सम्मत व्यवस्था को ही स्वीकार किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अजितसेन ने विजयवर्णी के सदृश शान्त रस का सर्वोत्कृष्ट रस होने से अन्य किसी रस से मैत्री अथवा विरोध प्रदर्शित नहीं किया है।[4]

उपर्युक्त जैनाचार्यों का अविरोधी रस-विवेचन भरत-परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

विरोधी-रस काव्यशास्त्रियों ने तुल्य बल वाले परस्पर विरोधी-रसों का साथ-साथ वर्णन रसोद्बोधन में बाधक माना है। जो रस परस्पर एक दूसरे के बाधक हैं, उन्हे विरोधी रस की संज्ञा दी जाती है। यथा—शृंगार और बीभत्स ये दोनो विरोधी रस हैं। इन दोनों का एक ही स्थान पर समान रूप से वर्णन करना रस-विघातक माना गया है। इसी प्रकार भयानक और वीर, अद्‌भुत और रौद्र तथा करुण और हास्य-रस परस्पर विरोधी है। अत इसका भी एक साथ समान रूप से वर्णन करना उचित नहीं है।

जैनाचार्य अजितसेन ने शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र और अद्‌भुत तथा हास्य और करुण इन रसो को परस्पर विरोधी रस कहा है।[5] इसी प्रकार पद्मसुन्दरगणि ने भी उक्त रसो मे परस्पर विरोध स्वीकार किया है,[6] जो मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है।

आचार्य विश्वनाथ ने विरोधी-रसों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शृंगार के करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक ये विरोधी रस हैं। इसी प्रकार हास्य के भयानक और करुण; करुण के हास्य और शृंगार; रौद्र के हास्य, शृंगार और भयानक, वीर के भयानक और शान्त, भयानक के शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त, शान्त के वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक तथा बीभत्स का शृंगार-रस विरोधी है।[7] इन परस्पर विरोधी रसों का जिस परिस्थिति में एक साथ वर्णन करना रस-विघातक नहीं माना

---

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१२७।
२. अलंकारचिन्तामणि, ५।२२१।
३. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।१५७।
४. अलंकारचिन्तामणि, ५।२२२।
५. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३०।
६. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।१५६।
७. साहित्यदर्पण, ३।२५४-२५८।

जाता है। इसका विवेचन चतुर्थ अध्याय के दोष-परिहार विवेचन के अन्तर्गत किया गया है।

भाव -

मन में उठने वाले विभिन्न विकारों को भाव कहते हैं। भरत मुनि ने भाव की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जो वाणी, अंग और सत्त्व से युक्त काव्यार्थों का भावन कराते हैं, वे भाव कहलाते हैं।[1] इसी प्रकार धनंजय सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा उस ही भाव से भावित होना भाव मानते हैं[2] अर्थात् जब सामाजिक का हृदय नट के द्वारा अभिनीत भावों से तद्गत चित्त-वृत्ति वाला हो जाता है, तब वह भाव कहलाता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र के अनुसार चित्तवृत्तियाँ ही भावन कराती हैं और अलौकिक वाचिकादि अभिनय रूप प्रक्रिया द्वारा आरूढ़ लौकिक दशा में अनास्वाद्य भी अपनी आत्मा को आस्वाद कराते हैं अथवा भावन कराते हैं अर्थात् सामाजिकों का मन तद्गत (नट रूप) हो जाता है, तब वह भाव कहलाता है।[3]

इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र भरत और विश्वनाथ के अनुगामी हैं।

विभाव -

विशेष प्रकार के भाव का नाम विभाव है। यह रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति में कारण है। आचार्य भरत ने विभाव का अर्थ विज्ञान किया है तथा कारण, निमित्त और हेतु को विभाव का पर्यायवाची कहा है।[4] जिसके द्वारा वाचिक, कायिक तथा सात्त्विक अभिनय विभावित किये जाते हैं, वह विभाव कहलाता है। विभावित और विज्ञात ये दोनों एकार्थक हैं।[5] अतः ठीक ही कहा है—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥[6]

---

१ नाट्यशास्त्र, पृ० ७९। २ हिन्दी दशरूपक, ४।४।

३ भावयन्ति चित्तवृत्तय एवालौकिकवाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढतया स्वात्मानं लौकिकदशायामनास्वाद्यमप्यास्वाद्यं कुर्वन्ति, यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावाः। —काव्यानुशासन, २।१८ वृत्ति।

४. नाट्यशास्त्र, पृ० ८०। ५ वही, पृ० ८०।

६ वही, ७।४।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने विभाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वाचिक, कायिक और सात्त्विक अभिनयो के द्वारा जो स्थायी और व्यभिचारी चित्त-वृत्तियों को विशेष रूप से भावित करते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव। ललना आदि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन-विभाव हैं।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभावो को विशेष रूप से भावित कराने वालों को विभाव कहा है।[2] इस प्रसग मे नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि युवक और युवती के सामने उपस्थित होने पर जिसको आलम्बन करके स्थायी और व्यभिचारी रूप भावो का जो क्षण भर में अनुभव कराते हैं, वे आलम्बन विभाव कहलाते हैं।[3] इसी प्रकार ज्योत्स्ना, उद्यान आदि समृद्धि को आश्रय करते हुए स्थायी और व्यभिचारिरूप भावो को जो अत्यधिक उद्दीपित करते हैं, वे उद्दीपन-विभाव कहलाते हैं।[4] विजयवर्णी ने विभाव की परिभाषा करते हुए लिखा है—'भावयन्ति विशेषेण ये रस ते विभावका' अर्थात् जो विशेष रूप से रस का अनुभव कराते हैं, वे विभाव कहलाते हैं, यह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार है, जिसको आलम्बन करके रसानुभूति होती है, वह आलम्बन विभाव कहलाता है और जिसके द्वारा रस उद्दीपित होता है, वह उद्दीपन विभाव कहलाता है।[5] भावदेवसूरि ने विभाव को रस का कारण बतलाते हुए नौ विभावों का एक पद्य मे संग्रह करके विभावो का सकेत मात्र किया है।[6]

इसके अतिरिक्त वाग्भट-प्रथम ने कुछ रसों के विभावो की गणना की है। अजितसेन ने रसो के आलम्बन और उद्दीपन विभावों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। वाग्भट-द्वितीय ने प्रत्येक रस के लक्षण प्रसग में तत्तत् रस विषयक विभावों का उल्लेख मात्र किया है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया विभाव-विवेचन अपने आप में पूर्ण और भरत-परम्परा का निर्वाह करने वाला है।

---

१ काव्यानुशासन, २।१ वृत्ति।

२. वासनात्मतया स्थित स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति आविर्भावना-विशेषण प्रयोजयन्ति इति आलम्बन-उद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावा.।
—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।८ विवृति।

३. अलंकारमहोदधि, ३।२६।   ४ वही, ३।२७।

५ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।१४-१५।   ६ काव्यालंकारसारसंग्रह, ७।२-३।

अनुभाव

अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है—भाव के पश्चात् उत्पन्न होने वाला। यह विभाव के पश्चात् उत्पन्न होता है अतः रस का कार्य है। आचार्य भरत ने लिखा है कि—ये अभिनय को वाणी, अंग और सात्त्विक भावों के द्वारा अनुभव के योग्य बनाते हैं, अतः अनुभाव कहलाते हैं—'अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग-सत्त्वकृतोऽभिनय इति।'[1] धनञ्जय ने रत्यादि स्थायिभावों के संसूचक विकारों को अनुभाव कहा है।[2]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अनुभाव का लक्षण करते हुए लिखा है कि—स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव रूप सामाजिक सहृदय की चित्तवृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए जिनके द्वारा साक्षात्कार किया जाता है, वे कटाक्ष-पात और भुजाक्षेपादि अनुभाव कहलाते हैं।[3] इस प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि—"अनुलिंगनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्तिगमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः, स्तम्भादयः"[4]—अनु अर्थात् लिंग के निश्चय के बाद (रस को) भावित अर्थात् बोधित करने वाले होने से (कार्य रूप) स्तम्भ आदि (रस का कार्य) अनुभाव कहलाते हैं। अन्यत्र उन्होंने रसों के स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों के कार्यभूत अनुभावों का प्रतिपादन करते हुये लिखा है—वे पथु (कम्प), स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद और वैवर्ण्य आदि रस से उत्पन्न होने के कारण अनुभाव कहलाते हैं।[5] तत्पश्चात् प्रत्येक का लक्षण उपस्थित किया है।

वेपथु—भय आदि के द्वारा शरीर का हिलना वेपथु है, इससे वाणी में विकलपन आ जाता है।[6]

स्तम्भ—यत्न करने पर भी हर्ष आदि के कारण हाथ-पैर आदि अंगों की क्रिया का न होना तथा विषाद सूचक 'हा' इत्यादि शब्दों का होना स्तम्भ है।[7]

---

१ हिन्दी नाट्यशास्त्र, पृ० ३७४।

२ हिन्दी दशरूपक, ४।३।

३ काव्यानुशासन, २।१ वृत्ति।

४ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।८ विवृति।

५ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।४५।

६ भयादेर्वेपथुर्गात्रस्पन्दो वाचादिविक्रिया। —वही, ३।४६।

७ यत्नेऽप्यंगाऽक्रिया स्तम्भो हर्षादेः, हा! विषादतः। —वही, ३।४६।

रोमांच—प्रिय के स्पर्शादि से, रोमों का खड़ा होना तथा अंगों का स्पर्शादि करना रोमांच है।[1]

स्वरभेद—मदादि के कारण स्वर का अन्यथा हो जाना स्वरभेद है, यह हर्ष और हास्य को उत्पन्न करने वाला होता है।[2]

अश्रु—शोकादि के कारण नेत्रों में जल का उत्पन्न होना अश्रु है, यह नथुने के फड़कने और नेत्रों के पोंछने के द्वारा अभिनेय है।[3]

मूर्च्छा—घात (प्रहार) और कोप आदि के द्वारा इन्द्रियों की शक्ति का क्षीण हो जाना मूर्च्छा है। इसमें व्यक्ति भूमि पर गिर जाता है।[4]

स्वेद—परिश्रम आदि के कारण रोम-कूपों से होने वाला जल-स्राव स्वेद है। पंखा झलने आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।[5]

वैवर्ण्य—तिरस्कार आदि के द्वारा मुख की कान्ति का विकृत हो जाना वैवर्ण्य है, इधर-उधर देखने के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।[6]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव भी कहीं अनुभाव हो सकते हैं।[7] नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुभावों की गणना करते हुए कहा है कि—जो कटाक्ष-पात, भुजाक्षेप, भ्रूभ्रमण, मुख-भ्रमण आदि और भावलीला आदि रूप जो स्तम्भादि सात्त्विक-भाव हैं तथा जिनके द्वारा सामाजिक स्थायिभाव और संचारिभावों का अनुभव करते हैं, वे (मेखला-स्खलन, श्वास, सन्ताप, जागरण, नथुनों का फड़कना और देवोपालम्भ आदि) सभी अनुभाव हैं।[8]

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने उन्हीं आठ सात्त्विक-भावों को गिनाया है, जो रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा पूर्वोल्लिखित हैं। अन्तर केवल इतना है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने प्रत्येक सात्त्विकभाव (अनुभाव) का केवल

---

१ रोमांच. प्रियस्पर्शादे रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः । —हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१४७ ।

२ स्वरभेद स्वरान्यत्वं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् । —वही, ३।१४७ ।

३. अश्रु नेत्राम्बु शोकादेर्नासास्पन्दाक्षिमार्जनैः । —वही, ३।१४८ ।

४ मूर्च्छा घात-कोपाद्यैरक्षाणां भूमिपातकृत् । —वही, ३।१४८ ।

५ स्वेदो रोमजलस्राव श्रमादेर्व्यजनग्रहैः । —वही, ३।१४९ ।

६ छायाविकारो वैवर्ण्यं क्षेपादेर्दिक् निरीक्षणैः । —वही, ३।१४९ ।

७. क्वचित् स्थायिनो व्यभिचारिणश्च । —वही, ३।१४९ विवृति ।

८ अलंकारमहोदधि, ३।२८-२९ ।

उदाहरण प्रस्तुत किया है लक्षण नहीं, जबकि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल लक्षण प्रस्तुत किया है, उदाहरण नहीं।

विजयवर्णी ने अनुभाव का लक्षण निरूपण करते हुए लिखा है कि—हृदय में स्थित जिन भावों के द्वारा उत्पन्न हुए रस की सहृदय भावना करते हैं, उसके शरीर में उत्पन्न होने वाले अनुभाव कहलाते हैं।[1]

वाग्भट-प्रथम ने कुछ रसों के अनुभावों का वर्णन किया है। इसी प्रकार अजितसेन ने भी कहीं-कहीं रसों के अनुभावों का उल्लेख किया है। वाग्भट-द्वितीय ने प्रत्येक रस-लक्षण प्रसंग में तत्-तत् रसों के अनुभावों का उल्लेख किया है। भावदेवसूरि ने भी रसों के अनुसार नौ अनुभावों का नामोल्लेख किया है। पद्मसुन्दरगणि ने प्रत्येक रस के अनुभावों का पृथक्-पृथक् संयोजन किया है और सिद्धिचन्द्रगणि की स्थिति अजितसेन और पद्मसुन्दरगणि के समान है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया अनुभावों का उक्त सम्पूर्ण विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

व्यभिचारिभाव

लौकिक जगत् में जो स्थिति सहकारिभावों की होती है, वही स्थिति काव्य जगत् में व्यभिचारिभावों की होती है। व्यभिचारिभावों का दूसरा नाम संचारिभाव है। चूँकि इनका स्वभाव संचरणशील है, अतः इनका संचारिभाव नाम युक्तियुक्त है। आचार्य भरत ने व्यभिचारिभाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः। धात्वर्थवाग्ङ्गसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः'।[2] तात्पर्य यह है कि जो विशेष रूप से रसों के चारों ओर उन्मुख होकर गतिशील होते हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं, इनका संचरण वाणी, अंग और सत्त्वादि के द्वारा होता है। उनके अनुसार व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस है—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[3]

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१६। २ नाट्यशास्त्र, २।२७।
३. वही, ६।१८-२१।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने व्यभिचारिभाव की परिभाषा करते हुए लिखा है—विविधमाभिमुख्येन स्थायिधर्मोपजीवकत्वे व्यभिचारित्वेन चरन्तीति व्यभिचारिणः।[1] तात्पर्य यह है कि विविध रसों की ओर उन्मुख होकर उपस्थापित होने के कारण तथा अपने धर्म का अर्पण करके स्थायिभावों का उपकार करने वाले व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। हेमचन्द्र ने सूत्र में तैंतीस व्यभिचारिभावों का ही उल्लेख किया है,[2] किन्तु उन्हें व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस से अधिक अभीष्ट है। उन्होंने मुनि-वचनों को प्रमाण मानकर अन्य व्यभिचारिभावों का अन्तर्भाव भरत-मुनि-सम्मत उक्त तैंतीस व्यभिचारिभावों में ही कर दिया है। यथा—दम्भ का अवहित्था में, उद्वेग का निर्वेद में, क्षुधा-तृष्णा आदि का ग्लानि में।[3] हेमचन्द्र ने तैंतीस व्यभिचारिभावों के सोदाहरण पृथक्-पृथक् लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं।[4] इस प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि—रसोन्मुख स्थायिभाव के प्रति विशेष रूप से अनुकूल आचरण करने वाले (स्थायिभाव के पोषक) व्यभिचारिभाव कहलाते हैं अथवा स्थायिभाव के विद्यमान रहने पर कभी कोई नहीं होता है, अतः व्यभिचारी होने से व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।[5] उनके अनुसार व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस है।[6] किन्तु यह मुनि-वचनों का परिपालन मात्र है। अन्यथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अन्य व्यभिचारिभावों की सम्भावना करते हुए लिखा है कि—क्षुधा, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, संतोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव और दाक्षिण्य आदि तथा स्थायिभाव और अनुभाव भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं।[7] आचार्य भरत ने व्यभिचारिभावों की गणना के प्रसंग में सर्व-

१ काव्यानुशासन, २।१६ वृत्ति। २ वही, २।१९।

३. सप्रपञ्चमेव निबन्धार्थं तेनान्येषामप्येषामन्तर्भावः। तद्यथा—दम्भस्यावहित्थे, उद्वेगस्य निर्वेदे, क्षुत्तृष्णादेर्ग्लानौ। —वही, २।१९ वृत्ति।

४. वही, २।२०-५२।

५. रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्ते इति व्यभिचारिणः। यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः। —हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।८ विवृति।

६. वही, ३।२५-२७।

७. अन्येऽपि (व्यभिचारिभावाः) पुनः सम्भवन्ति। यथा, क्षुत्-तृष्णा-मैत्री-मुदिता-श्रद्धा-दया-उपेक्षा-रति-संतोष-क्षमा-मार्दव-आर्जव-दाक्षिण्य प्रभृतयः, तथा स्थायिनोऽनुभावाश्चेति। —वही, ३।२७ विवृति।

प्रथम निर्वेद का उपादान किया है।[1] मम्मट ने उसका औचित्य बताते हुए लिखा है कि—अमंगल सूचक होने से यद्यपि निर्वेद का सर्वप्रथम ग्रहण अनुपादेय है तथापि व्यभिचारिभाव होने पर भी उसके स्थायित्व के कथन के लिए सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है,[2] जो शान्तरस का स्थायिभाव है।[3] तात्पर्य यह कि मम्मट को निर्वेद का व्यभिचारित्व तो स्वीकार है ही, किन्तु साथ ही वे उसे शान्तरस का स्थायिभाव भी स्वीकार करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने मम्मट के इस कथन का खण्डन किया है। उनका कहना है कि—'मम्मट ने व्यभिचारिभाव-कथन-प्रसंग में निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव माना है तथा रस-दोष प्रसंग में प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण करना दोष है' इस प्रकार कहकर शान्तरस के प्रति निर्वेद रूप व्यभिचारिभाव का ग्रहण करके स्ववचन-विघात किया है।[4] यहाँ रामचन्द्र-गुणचन्द्र के इस कथन का अभिप्राय केवल इतना है कि स्थायिभाव के लिए स्थायित्व अपेक्षित है और व्यभिचारिभाव के लिए नहीं। अतः जो स्थायिभाव है वह व्यभिचारिभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि स्थायित्व व्यभिचारिभाव का लक्षण नहीं है और जो व्यभिचारिभाव है वह स्थायिभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि अस्थायी रहना स्थायिभाव का लक्षण नहीं है। पुनः मम्मट के द्वारा शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद को कहना कहाँ तक उचित है। इसीलिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शान्तरस का स्थायिभाव शम स्वीकार किया है।[5] नरेन्द्रप्रभसूरि को हेमचन्द्र-कृत व्यभिचारिभाव की व्याख्या अभीष्ट है।[6] उन्होंने तैंतीस व्यभिचारिभावों

---

१. नाट्यशास्त्र, ६।१८।

२ निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम्। —काव्यप्रकाश, पृ० १३८।

३ वही, ४।३५, पृ० १३८।

४. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे। निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, 'प्रतिकूलविभावादिपरिग्रह' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२८ पूर्वार्द्ध, विवृत्ति।

५. वही, ३।२४।

६. विविधमाभिमुख्येन स्थायिधर्माणामुपजीवनेन स्वधर्माणां समर्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः। —अलंकार-महोदधि, ३।१३ वृत्ति।

का नामोल्लेख करते हुए प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है ।[1] विजयवर्णी ने व्यभिचारिभाव का स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है कि—स्थायिभाव रूप समुद्र में भाव तरंगों की तरह घूमते हैं, उनमें जो अनियत भाव हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ।[2] पुनः तेंतीस व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख मात्र किया है ।[3] इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती हैं, उसी प्रकार आत्मा में अनेक प्रकार से सञ्चरण करने वाले भाव संचारिभाव (व्यभिचारिभाव) कहलाते हैं ।[4] इन्होंने भी तेंतीस व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख करते हुए प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है ।[5] वाग्भट-द्वितीय ने तेंतीस व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख किया है ।[6] भावदेवसूरि ने 'निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद् भावास्तु व्यभिचारिणः' मात्र कहकर व्यभिचारिभावों का उल्लेख किया है ।[7] इसी प्रकार पद्मसुन्दरगणि ने 'निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद् विज्ञेया व्यभिचारिणः' मात्र कहा है ।[8] इसके अतिरिक्त पद्मसुन्दरगणि ने प्रत्येक रस के व्यभिचारिभावों का पृथक्-पृथक् निर्देश भी किया है ।[9]

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उक्त व्यभिचारिभाव-विवेचन में कुछ नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं । यथा—आचार्य हेमचन्द्र और रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भरत-मुनि-सम्मत तेंतीस व्यभिचारिभावों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यभिचारिभाव भी स्वीकार हैं । आचार्य मम्मट ने जो निर्वेद को व्यभिचारिभाव के अतिरिक्त स्थायिभाव भी स्वीकार किया है, वह रामचन्द्र-गुणचन्द्र को अभीष्ट नहीं है ।

विजयवर्णी और अजितसेन के व्यभिचारिभाव स्वरूप पर धनञ्जय की छाया प्रतीत होती है ।[10] शेष सम्पूर्ण विवेचन प्रायः भरत-परम्परा के पोषक हैं ।

---

१ अलंकार-महोदधि, ३।३१-५० ।
२ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१९ । ३. वही, ३।२०-२२ ।
४ अलंकारचिन्तामणि, ५।२६ । ५. वही, ५।२७-६२ ।
६ काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० ५७ । ७. काव्यालंकारसार-संग्रह, ८।६ ।
८ अकबरसाहिशृंगारदर्पण, १।९४ । ९ वही, ४।६२-७० ।
१० विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥ —हिन्दी दशरूपक, ४।७ ।

सात्त्विकभाव :

रस विवेचन प्रसंग में कहा गया है कि कुछ आचार्यों ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से तथा कुछ आचार्यों ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विक-भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। अतः प्रस्तुत में सात्त्विक-भावों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

आचार्य भरत ने मन से उत्पन्न होने वाले को सत्त्व कहा है और वह समाहित (एकनिष्ठ) मन से उत्पन्न होता है तथा मन की एकनिष्ठता से सत्त्व की निष्पत्ति होती है।[1] अतः जिसकी उत्पत्ति में सत्त्व कारण हो, वह सात्त्विक-भाव कहलाता है। ये आठ प्रकार के होते हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।[2] इन सात्त्विक-भावों में अनुभावत्व भी है, क्योंकि अनुभावों के सदृश ये भी नायक-नायिकादि आश्रय के विकार हैं। फिर भी इनकी गणना पृथक् की गई है। जिसका स्पष्ट संकेत धनंजय ने भी किया है।[3]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सात्त्विक-भाव की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है 'सीद-त्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम् तत्र भवाः सात्त्विकाः'।[4] अर्थात् इसमें मन खिन्न होता है तथा सत्त्व गुणों के उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होने से प्राणात्मक वस्तु सत्त्व है, उससे उत्पन्न होने वाले सात्त्विक-भाव कहलाते हैं। उन्होंने सात्त्विकभाव के भरत-सम्मत आठ भेदों को स्वीकार किया है।[5] इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भी सात्त्विकभाव के उक्त आठ भेद अभीष्ट हैं, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इन आठ भेदों को अनुभाव कहा है।[6] अतः इनका उल्लेख अनुभावों के प्रसंग में किया गया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने सात्त्विक-भाव के हेमचन्द्रादि-सम्मत उक्त आठ भेद ही स्वीकार किए हैं।[7] विजयवर्णी के अनुसार रसिकों की मनोवृत्ति को सत्त्व कहते हैं और सत्त्व से उत्पन्न भाव सात्त्विकभाव कहलाते हैं।[8] पुनः उसके आठ भेदों का उन्होंने पूर्ववत् स्वीकार किया है।[9] इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि—चित्त की वृत्ति का नाम सत्त्व

१ नाट्यशास्त्र, ७।९२।

२ वही, ७।९३।

३ हिन्दी दशरूपक, ४।४ अवतरण।

४ काव्यानुशासन, २।५३ वृत्ति।

५ वही, २।५३।

६ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१६५।

७ अलंकारमहोदधि, ३।१०।

८ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।१७।

९ वही, ३।१८।

है और उनसे उत्पन्न होने वाले सात्त्विकभाव कहलाते हैं, जो नायक-नायिका के स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन के अनुभवों आदि में होते हैं।[१] यहाँ पर अजितसेन द्वारा जो सात्त्विकभाव का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उसमें वे विश्वनाथ एवं विद्याचक्रवर्ति के ऋणी हैं, क्योंकि दोनों में स्पष्ट साम्य प्रतीत होता है। अजितसेन ने भी उक्त आठ सात्त्विकभावों का सलक्षणोदाहरण उल्लेख किया है।[२] वाग्भट-द्वितीय ने केवल आठ सात्त्विकभावों की गणना की है।[३] पद्मसुन्दरगणि ने 'अष्टौ स्तम्भादयो भावाः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः' मात्र कहा है।[४]

इसी प्रकार ज्ञात होता है कि प्रत्येक आचार्य को सात्त्विकभावों के उक्त आठ प्रकार ही मान्य हैं, इनसे न्यूनाधिक नहीं। साथ ही उनके द्वारा प्रतिपादित सात्त्विकभाव और उसके भेदों के स्वरूप में भी प्रायः साम्य प्रतीत होता है। केवल रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अपनी एक विशेष मान्यता है, जिसमें उन्होंने उक्त सात्त्विकभावों को अनुभावों की कोटि में स्थान दिया है। यद्यपि उक्त आठ भावों को बहुआचार्यों ने सात्त्विकभावों की ही संज्ञा दी है तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो इनमें अनुभावों की ही परिभाषा पूर्णतः घटती है। क्योंकि नायक-नायिका में परस्पर होने वाले दर्शनादि के पश्चात् ही उक्त भावों के चिह्न प्रतीत होते हैं। अतः अनुभावों के प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा यदि उक्त भावों की गणना की जाती है तो यह उनकी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टि का ही प्रतिफल है।

रसाभास, भावाभास

जहाँ रस का आभास मात्र हो, वह रसाभास कहलाता है। वहाँ वास्तविक रस का अभाव होता है। इसी प्रकार जहाँ भाव का आभास मात्र हो, वह भावाभास कहलाता है। वहाँ वास्तविक भाव का अभाव होता है। आचार्य मम्मट ने देव आदि विषयक रति को भाव कहा है[५] तथा कान्ता विषयक रति की अभिव्यक्ति को शृंगार कहा है।[६] पुनः उन रस तथा भावों का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास तथा भावाभास है।[७]

---

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।२६। २. वही, ५।२७-२९।
३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५८। ४. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, १।२४।
५. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः। —काव्यप्रकाश, ४।३५।
६. कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः। —वही, ४।३५ वृत्ति।
७. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। —वही, ४।३६।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इन्द्रिय रहित तथा तिर्यंच आदि में क्रमशः संभोगादि-रस तथा भाव का आरोप करना रसाभास तथा भावाभास कहा है।[1] इसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से भी रसाभास और भावाभास स्वीकार किया है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि का रसाभास-भावाभास विवेचन हेमचन्द्र के ही समान है।[3]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मम्मट तथा जैनाचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनौचित्य पद का प्रयोग किया है, जो निश्चय ही आनन्दवर्धन के 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभगस्य कारणम्' इस कथन से प्रभावित है। अतः उक्त आचार्य, आनन्दवर्धन के अनुजीवी हैं।

स्थायिभाव

सामान्य रूप से स्थायिभाव वे कहलाते हैं, जो सहृदय के हृदय में हमेशा विद्यमान रहते हैं अर्थात् स्थायी रूप से निवास करते हैं तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का संयोग पाकर रसानुभूति कराते हैं। अन्य भावों से स्थायिभावों की यही महती विशेषता है कि अन्य सभी भावों का आगमन (उदय) होता है और एक निश्चित समय तक उपस्थित रहकर पुनः विलीन हो जाते हैं, किन्तु स्थायिभाव सदैव सहृदय के हृदय में विद्यमान रहते हैं। उनका यह स्थायित्व ही उन्हें स्थायिभाव की संज्ञा से विभूषित कराता है। आचार्य भरत के अनुसार जिस प्रकार मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार समस्त भावों में स्थायिभाव महान् (प्रमुख) होता है।[4] उनके अनुसार स्थायिभावों की संख्या आठ है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय।[5] धनंजय ने समुद्र की उपमा द्वारा स्थायिभाव का लक्षण सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि—जो भाव अपने विरोधी अथवा अविरोधी भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है, अपितु लवणाकार की तरह अन्य भावों को अपने सदृश बना लेता है, वह

१ निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ। —काव्यानुशासन, २।५४।

२ वही, २।५५।

३ आभासा रस-भावानामनौचित्यप्रवर्तनात्।
आरोपात् तिर्यगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियैरपि॥
—अलंकारमहोदधि, ३।५३।

४. नाट्यशास्त्र, ७।८।

५. वही, ६।१७।

स्थायिभाव कहलाता है।[1] उन्होंने उपर्युक्त भरत-सम्मत आठ स्थायिभावों को स्वीकार किया है तथा अन्यों के द्वारा कहे गये शम को नाट्य में पुष्टि न होने से स्वीकार नहीं किया है।[2] इसी प्रकार निर्वेद को भी स्थायिभाव मानना उन्हें अभीष्ट नहीं है।[3]

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने नौ स्थायिभावों का उल्लेख किया है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम।[4] ये नौ स्थायिभाव हेमचन्द्र,[5] रामचन्द्र-गुणचन्द्र,[6] नरेन्द्रप्रभसूरि,[7] विजयवर्णी,[8] अजितसेन,[9] वाग्भट-द्वितीय[10] और पद्मसुन्दरगणि[11] को भी समान रूप से मान्य हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उक्त स्थायिभावों का स्वरूप निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है[12]—

रति—स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम, जिसका पर्यायवाची आस्थाबन्ध भी है, को रति कहते हैं। यह (रति) कामावस्था से युक्त, अभिलाष मात्र व्यभिचारात्मक रति तथा देवता, बन्धु और मनोहर वस्तु में होने वाली प्रीति रूप रति से विलक्षण है।

हास—अनुरंजन और उन्माद से युक्त चित्त का विकास हास कहलाता है।

शोक—निर्वेद से युक्त दुःख शोक है।

क्रोध—अपकार करने की इच्छा और घृणा का कारण तथा परिताप का आवेश क्रोध है।

उत्साह—धर्म, दान और युद्धादि कार्यों में आलस्य न करना उत्साह है।

भय—(मन की) विकलता का नाम भय है।

जुगुप्सा—कुत्सित का निश्चय हो जाना जुगुप्सा है।

विस्मय—उत्कृष्ट का निश्चय हो जाना विस्मय है।

शम—कामना का अभाव शम है।

---

१. हिन्दी दशरूपक, ४।३४।
२ वही, ४।३५।
३. वही, ४।३६।
४ वाग्भटालंकार, ५।४।
५. काव्यानुशासन, २।१८।
६. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२४।
७ अलंकारमहोदधि, ३।२५।
८ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।४।
९ अलंकारचिन्तामणि, ५।३।
१० काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५३।
११. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, १।१२।
१२. हिन्दीनाट्यदर्पण, ३।२४ विवृत्ति।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, औपमानिकी, आध्यात्मिकी, आभियोगिकी, साम्प्रयोगिकी, आभिमानिकी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध इन पांच भेदों वाली वैषयिकी रति का सोदाहरण उल्लेख किया है।[1] रति का इस प्रकार सभेद विवेचन अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी प्रकार उन्होंने हास आदि स्थायिभावों के भी स्मित, विहसित, अपहसित आदि भेदों की सम्भावना की है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—अपने-अपने रस से अन्यत्र (दूसरे रस में) न जाने से तथा प्रत्येक समय (सर्वकाल) अपने (रस) में रहने से और अव्यभिचारि होने से रत्यादि भाव स्थायित्व की संज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थायिभाव कहलाते हैं तथा हर्षादि भाव इससे विपरीत स्वभाव वाले होने से व्यभिचारिभाव कहलाते हैं—

स्वस्वरसादन्यत्रानभिगामित्वात् सर्वकालसात्मन सब्रह्मचारित्वाच्च रत्यादीनां स्थायित्वम्, हर्षादीनां तु तद्विपरीतत्वाद् व्यभिचारित्वम्।[3]

विजयवर्णी ने स्थायिभाव की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—चित्त की वृत्तियों का जो भेद परिणमन को प्राप्त न होकर, स्थिरता को प्राप्त करता है, उसी को स्थायिभाव कहते हैं।[4] इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि—इन्द्रिय ज्ञान से संवेद्य-मान, मोहनीय कर्म से उद्भूत, रस का अभिव्यञ्जक, चित्तवृत्ति रूप पर्याय स्थायिभाव कहलाता है।[5] यह इन्द्रिय ज्ञान क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि—ज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) से जीव में इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है।[6]

जैनाचार्यों द्वारा किया गया स्थायिभाव का प्रस्तुत विवेचन महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उन्होंने शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद को स्वीकार न कर शम को माना है, जो यथार्थता के सन्निकट है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के जिन नैसर्गिकी

---

१ अलंकारमहोदधि, ३।२५ वृत्ति।

२ एवं हासादीनामपि स्मित—विहसितापहसितादयः कतिचिद् भेदाः सम्भवन्ति। —वही, ३।२५ वृत्ति।

३ वही, ३।२५ वृत्ति।

४ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।२। ५. अलंकारचिन्तामणि, ५।२।

६ वही, ५।१।

यद्यपि बारह भेदों को स्वीकार किया है, वे अन्यत्र अनुपलब्ध हैं, अतः उनका विशेष महत्त्व बढ़ जाता है। नरेन्द्रप्रभसूरि और विजयवर्णी के स्थायिभाव का स्वरूप धनञ्जय के सदृश है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आर्यरक्षित ने स्वतन्त्र व्रीडनक-रस का स्थायिभाव व्रीडा स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख रस प्रसंग में किया गया है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा रस के प्रत्येक अंग पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है, जो भरत-परम्परा का निर्वाह करते हुए भी अपने आप में पूर्ण और विलक्षण है।

४ | दोष-गुण विवेचन

अलंकार-शास्त्र मे गुणो और भेदों का समान रूप से विवेचन पाया जाता है। अत काव्य का जितना गुणो से युक्त होना आवश्यक है उससे अधिक कहीं निर्दोष होना भी आवश्यक है। इसलिए गुणों से पूर्व दोषों पर विचार कर लेना अनुचित न होगा, क्योंकि दोषो का विवेचन आलंकारिकों ने गुणो से पूर्व ही किया है तथा काव्य के स्वरूप मे सर्वप्रथम दोषाभाव को स्वीकार किया गया है।

दोषों का विवेचन सबसे पहले आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र मे मिलता है।[1] इसके पश्चात् अनुयोगद्वार-सूत्र के कर्ता जैनाचार्य आर्यरक्षित ने दोषो का विवेचन किया है। दोष की महत्ता को बताते हुए उन्होने भी काव्य-रसों की उत्पत्ति बत्तीस सूत्र-दोषो से मानी है।[2] भामह ने सदोष काव्य को कुपुत्र की तरह निन्दनीय कहा है[3] और दण्डी ने काव्य मे अल्प-दोष को भी मानव-शरीर मे कुष्ठ के दाग के समान बतलाया है।[4] इसी प्रकार जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने अदुष्ट काव्य को यश और स्वर्ग-प्राप्ति का साधन कहा है।[5] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कुछ आचार्य काव्य में अल्प-दोष को भी स्वीकार नहीं करते हैं, जिनमे भामह और दण्डी के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु इस सम्बन्ध मे आचार्य भरत का कथन है कि ससार की कोई भी वस्तु दोष रहित नहीं है। अत. (अल्प) दोषो पर ध्यान नहीं देना चाहिए।[6]

दोष-स्वरूप

दोष का स्वरूप-वर्णन विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से किया है।

---

१ नाट्यशास्त्र, १७।८८-९५।

२ एए नवकव्वरसा बत्तीसदोसविहि समुप्पण्णा।—अनुयोगद्वार सूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ३।

३ काव्यालंकार, १।११।

४. काव्यादर्श, १।७।

५. वाग्भटालंकार, २।५।

६. नाट्यशास्त्र, २७।८७।

आचार्य भरत गुण को दोष का विपर्यय मानते हैं।[1] किन्तु आचार्य वामन उससे ठीक विपरीत दोष को गुण का विपर्यय मानते हैं।[2] आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को ही काव्य में दोष स्वीकार किया है।[3] मम्मट और विश्वनाथ दोष-निरूपण के विषय में आनन्दवर्धन के ऋणी हैं। मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्ष को दोष माना है तथा रस को मुख्य।[4] यही दोष-स्वरूप परवर्ती आचार्यों के दोष-स्वरूपों का प्राय उपजीव्य रहा है। इस प्रसंग में जैनाचार्यों ने जिस प्रकार दोष-स्वरूप आदि का विवेचन किया है, वह निम्न प्रकार है—

आचार्य हेमचन्द्र ने गुण और दोष का एक साथ लक्षण प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहा है। ये दोष रस के ही आश्रित होते हैं, किन्तु गौण रूप से वे शब्द और अर्थ के भी अपकर्षक होते हैं।[5] अन्यत्र दोष का विशेष लक्षण उपस्थित करते हुए लिखा है—रस (आदि पद से स्थायि और व्यभिचारि भाव) का स्वशब्द से कथन दोष है, किन्तु कहीं-कहीं संचारिभाव का स्वशब्द से कथन भी दोष नहीं है।[6] नरेन्द्र-प्रभसूरि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं, वह विशेष रूप से रस की क्षति होने पर होता है और गौण रूप से शब्द और अर्थ की क्षति होने पर।[7] अजितसेन ने लिखा है कि—काव्य की हीनता का द्योतक शब्द और अर्थ में

---

१ एत एव विपर्यस्ता गुणा काव्येषु कीर्तिता । —नाट्यशास्त्र, १७।९५ ।

२ गुणविपर्ययात्मानो दोषा । —काव्यालंकारसूत्र, २।१।१ ।

आधुनिक विद्वान् डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि—'गुणों को ही दोषों का विपर्यय कहना वैज्ञानिक है, दोषों को गुणों का विपर्यय कहना एक विपरीत क्रिया है।' —आनन्दवर्धन, पृ० ४१६ ।

३ अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् । —ध्वन्यालोक, पृ० २६६ ।

४ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः——। —काव्यप्रकाश, ७।४९ ।

५ रसस्योत्कर्षापकर्षहेतु गुणदोषौ, भक्त्या शब्दार्थयो. ।

—काव्यानुशासन, १।१२ ।

६. रसादेः स्वशब्दोक्ति. क्वचित्सञ्चारिवर्जदोषः । —वही, ३।१ ।

७ वैचित्र्यस्यापहृतिर्दोषः सा च मुख्या रसक्षतेः ।

तद् भूत्व रस एवेह भक्त्या शब्दार्थयोः पुनः ॥

—अलंकारमहोदधि, ५।२।

दिखाई देने वाला हेतु दोष है।[1] इसी प्रकार सिद्धिचन्द्रगणि ने लिखा है कि—अलंकार और गुणों से युक्त होने पर भी जिनके योग से चमत्कार अच्छी तरह उत्पन्न नहीं होता है, वे दोष कहलाते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आनन्दवर्धन ने प्रारम्भ में जो दोषों को रस का विघातक स्वीकार किया है, उसी का अनुसरण मम्मट ने किया है। तदनन्तर हेमचन्द्र ने भी उसे पूर्ववत् स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि यद्यपि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं, किन्तु अन्ततः रस की क्षति होने पर ही उन्हें दोषोत्पत्ति मान्य है। अजितसेन का दोष-स्वरूप अन्याचार्यों से भिन्न है, क्योंकि वे शब्द और अर्थ में ही दोष मानते हैं। इसलिए उन्होंने रस-दोषों का विशेष उल्लेख भी नहीं किया है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता है। सिद्धिचन्द्रगणि चमत्काराभाव को ही दोष मानते हैं, चमत्काराभाव विभिन्न प्रकार का हो सकता है—शब्दगत, अर्थगत और रसगत आदि। चूँकि उन्होंने मम्मट के दोष-स्वरूप[2] का खण्डन किया है, अतः इतना तो निर्विवाद है कि उन्हें मम्मटकृत दोष-स्वरूप मान्य नहीं है अर्थात् सिद्धिचन्द्रगणि मम्मट की तरह केवल रस को मुख्य (रसश्च मुख्य) न मानकर, शब्द, अर्थ और रस इत्यादि में समान रूप से जहाँ भी चमत्कार का अभाव हो, उसे दोष मानते हैं। इस प्रसंग में यह कह देना आवश्यक है कि रस को मुख्य मानना अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि चमत्कारोत्पादन में भी रस ही सर्वश्रेष्ठ है। फिर भी नवीनता की दृष्टि से सिद्धिचन्द्रगणि का दोष-स्वरूप उल्लेखनीय है।

दोष-भेद

प्रारम्भिक अलंकार-शास्त्रों में दोषों का विवेचन अल्प मात्रा में मिलता है। किन्तु जैसे-जैसे आचार्यों में वाणी-विलास बढ़ता गया, नवीन दोषों की कल्पना की गई और पश्चाद्वर्ती अलंकार-शास्त्रों में उनका विवेचन किया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि प्रारम्भ में जो दोष उपेक्षित थे, वे पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा आलोचना के विषय बने और उनकी गणना दोषों के अन्तर्गत होने लगी। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने १० दोषों का उल्लेख किया

---

१ काव्यहीनत्वहेतुर्यो दोषः शब्दार्थगोचरः।—अलंकारचिन्तामणि, ५।१६० ।

२. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥

—काव्यप्रकाश, ७।४९ ।

है—(१) गूढार्थ, (२) अर्थान्तर, (३) अर्थहीन, (४) भिन्नार्थ, (५) एकार्थ, (६) अभिप्लुतार्थ, (७) न्यायादपेत, (८) विषम, (९) विसन्धि और (१०) शब्दच्युत।[1]

गूढार्थ—जहाँ क्लिष्ट पर्यायवाची शब्द का प्रयोग किया गया हो।

अर्थान्तर—जहाँ अवर्णनीय वस्तु का वर्णन किया गया हो।

अर्थहीन—जहाँ असम्बद्ध विवेचन हो अथवा अपूर्ण कथन हो।

भिन्नार्थ—जहाँ अर्थ भिन्न हों, असभ्य हों अथवा ग्राम्य हों अथवा जहाँ विवक्षित अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्तित हो।

एकार्थ—जहाँ एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया हो।

अभिप्लुतार्थ—जहाँ प्रत्येक पाद में अर्थ पूर्ति हो जावे (अर्थात् परस्पर अन्विति का अभाव)।

न्यायादपेत—जो प्रमाण से रहित हो।

विषम—जहाँ छन्दोभंग हो।

विसन्धि—जहाँ सन्धि योग्य शब्दों में सन्धि न हो।

शब्दच्युत—जहाँ अशब्द (व्याकरण नियम के विरुद्ध शब्द) का प्रयोग हो।[2]

तत्पश्चात् जैनाचार्य आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार-सूत्र में ३२ सूत्र दोषों का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार हैं—(१) अलीक, (२) उपघातजनक, (३) निरर्थक, (४) अपार्थक, (५) छल, (६) द्रुहिल, (७) निस्सार, (८) अधिक, (९) ऊन, (१०) पुनरुक्त, (११) व्याहत, (१२) अयुक्त, (१३) क्रमभिन्न, (१४) वचनभिन्न, (१५) विभक्तिभिन्न, (१६) लिंगभिन्न, (१७) अनभिहित, (१८) अपद, (१९) स्वभावहीन, (२०) व्यवहित, (२१) काल-दोष, (२२) यति-दोष, (२३) छवि-दोष, (२४) समय-विरुद्ध, (२५) वचनमात्र, (२६) अर्थापत्ति-दोष, (२७) असमास-दोष, (२८) उपमा-दोष, (२९) रूपक-दोष, (३०) निर्देश-दोष, (३१) पदार्थ-दोष और (३२) सन्धि-दोष।[3]

---

१. नाट्यशास्त्र, १७।८८।

२. वही, १७।८९-९४ तक दस दोषों के लक्षण दिये गये हैं।

३. अलियमुवघायजणयं निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं।
निस्सारमहियमूणं पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं॥

अलीक—जहाँ असत्य का प्रतिपादन हो।

उपघातजनक—जिस कथन से जीव-हिंसा आदि का विधान हो। जैसे : वेद विहित हिंसा, हिंसा नहीं है।

निरर्थक—अर्थ शून्य शब्दों का प्रयोग करना। जैसे . डित्थादि शब्द।

अपार्थक—ऐसा कथन, जिसके शब्द तो सार्थक हों, किन्तु जिसका सामूहिक सुसगत अर्थ न हो।

छल—जहाँ इष्ट अर्थ का विघात हो।

द्रुहिल—जीवो के लिए अहितकारी पापरूपी व्यापार का पोषक।

निस्सार—युक्ति रहित।

अधिक—जहाँ आवश्यकता से अधिक अक्षर, मात्रा, पद आदि का प्रयोग किया गया हो।

ऊन—जहाँ आवश्यकता से कम अक्षर, मात्रा, पद आदि रखे गये हों।

पुनरुक्त—जहाँ शब्द अथवा अर्थ का पुन' कथन किया गया हो।

व्याहत—जहाँ पूर्व मे कही गई बात का बाद मे विरोध किया गया हो।

अयुक्त—जिस कथन मे युक्ति का विरोध हो।

क्रमभिन्न—जहाँ क्रम का भंग किया गया हो।

वचनभिन्न—जहाँ वचनो की भिन्नता पाई जाती हो। जैसे एकवचन के स्थान पर द्विवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग आदि।

विभक्तिभिन्न—जहाँ विभक्ति का व्यत्यय पाया जाये, जैसे प्रथमा के स्थान पर द्वितीया विभक्ति आ दि का प्रयोग।

लिंग-भिन्न—जहाँ लिंग व्यत्यय पाया जाये। जैसे पुल्लिंग के साथ स्त्रीलिंगादि शब्दो का प्रयोग।

अनभिहित—जहाँ अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल बातो का इच्छानुसार कथन हो।

कमभिन्नवयणभिन्नं विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च।
अण भिहियमपयमेव य सभावहीणं ववहियं च॥
कालजतिच्छविदोसो समयविरुद्धं च वयणमित्तं च।
अत्थ वत्ती दोसो हवइ य असमासदोसो य॥
उवमारूवगदोसो निद्देसपयत्थसंधिदोसो य।
एए य सुत्तदोसा, बत्तीसा हुंति नायव्वा॥

—अनुयोगद्वार सूत्र, भाग २, पृ० ८९२-९३।

अपद—जहाँ सुप्-तिङादि रहित शब्दों का प्रयोग किया गया हो।

स्वभावहीन—जहाँ वस्तु के स्वभाव का अन्यथा प्रकार से वर्णन किया गया हो।

व्यवहित—जहाँ प्रकृत विषय को त्याग कर अप्रकृत का विवेचन विस्तार से करके पुनः प्रकृत विषय का कथन किया गया हो।

काल-दोष—जहाँ काल का अन्यथा प्रयोग किया गया हो। जैसे : भूत-काल के बदले भविष्यत् काल का प्रयोग।

यतिदोष—पद्य में यथास्थान यति का प्रयोग न करना।

छवि-दोष—छवि नामक अलंकार विशेष से रहित।

समय-विरुद्ध—स्वसिद्धान्त विरुद्ध वचन का कथन।

वचनमात्र—हेतु के अभाव मे इच्छानुसार कथन करना। जैसे . किसी स्थान विशेष मे कील गाड़कर उसे लोक का मध्य बतलाना।

अर्थापत्ति-दोष—जहाँ अर्थापत्ति से अनिष्ट का कथन किया गया हो।

असमास-दोष—नियमानुकूल समास प्राप्त होने पर भी समास न करना अथवा जहाँ समास प्राप्त न हो वहाँ समास कर देना।

उपमादोष—जहाँ हीन अथवा अधिक के साथ उपमा दी गई हो।

रूपकदोष—जहाँ आरोपित अवयव का वर्णन अवयवी में अथवा आरोपित अवयवी का वर्णन अवयव में किया गया हो।

निर्देशदोष—जहाँ निर्दिष्ट पदो मे एक वाक्यता न की गई हो।

पदार्थदोष—जहाँ एक ही वस्तु की भिन्न पर्याय का भिन्न पदार्थ के रूप मे ग्रहण किया गया हो।

सन्धिदोष—जहाँ सन्धि का विधान प्राप्त होने पर भी सन्धि न की गई हो अथवा दुष्ट सन्धि की गई हो।

आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में भिन्न-भिन्न चार स्थलों पर दोषों की चर्चा की है। सर्वप्रथम उन्होंने छः काव्य-दोषों को गिनाया है—(१) नेयार्थ (२) क्लिष्ट, (३) अन्यार्थ, (४) अवाचक, (५) अयुक्तिमत् और (६) गूढशब्दाभिधान।[1] पुनः श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट ये चार वाणी दोष कहे हैं।[2] इसी क्रम में मेधावी के अनुसार हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य और असादृश्य नामक सात दोषों का विवेचन

१. काव्यालंकार, १।३७। २. वही, १।४७।

किया है ।[1] तत्पश्चात् काव्य सौन्दर्य के घातक १८ निम्न दोषों का उल्लेख किया है—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी, आगमविरोधी, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन ।[2]

दण्डी ने दस दोषों का उल्लेख किया है—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि और देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम विरोधी ।[3] दण्डी-सम्मत इन दस दोषों का उल्लेख आचार्य भामह पहले ही कर चुके हैं । अतः इस प्रसंग में दण्डी की कोई नवीन देन नहीं है । आनन्दवर्धन ने श्रुतिदुष्टत्व,[4] ग्राम्यत्व[5] और असभ्यत्व[6] इन तीन दोषों का विभिन्न प्रसंगों में नामोल्लेख किया है तथा पाँच रस-दोषों[7] का भी विवेचन किया है, किन्तु अनौचित्य को उन्होंने रस-भंग का सबसे प्रमुख दोष माना है ।[8] अतः अनौचित्य को सामान्य दोष के नाम से अभिहित किया जा सकता है । इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के अनौचित्यों का समावेश हो जाता है । परवर्ती आचार्यों के दोष-विवेचन को भरत आदि आचार्यों ने तो प्रभावित किया ही है, किन्तु आनन्दवर्धन के मात्र अनौचित्य शब्द ने कितने नवीन दोषों की उद्भावना करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है अथवा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा परिगणित अनेक दोषों को एक ही शब्द में कह दिया है ।

आचार्य मम्मट यद्यपि अपने दोष-दर्शन के लिए बदनाम हैं तथापि उन्होंने एक सन्तुलित क्रम को अपनाकर वैज्ञानिक पद्धति से दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया है । उन्होंने सर्वप्रथम दोषों को तीन भागों में विभाजित किया है—(१) शब्ददोष, (२) अर्थदोष और (३) रसदोष । पुनः शब्द-दोष के तीन भेद किये हैं—पददोष, पदांशदोष और वाक्य-दोष । इस प्रकार मम्मट-सम्मत समस्त दोषों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) पददोष, (२) पदांशदोष, (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष और (५) रसदोष । इनमें से

१. काव्यालंकार, २।३६-४० ।
२. वही, ४।१-२ ।
३. काव्यादर्श, ३।१२५-१२६ ।
४. ध्वन्यालोक, २।११ ।
५. वही, पृ० २४१ ।
६. वही, पृ० २४१ ।
७. वही, ३।१८-१९ ।
८. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ —वही, पृ० २६९ ।

रस-दोष मुख्य हैं, क्योंकि मम्मट ने "रसाद्याः मुख्याः" कहकर रस दोषों की मुख्यता को स्वीकार किया है। यद्यपि परवर्ती जैनाचार्य मम्मट के अनुगामी हैं तथापि किसी-किसी जैनाचार्य ने पद और वाक्य में सम्मिलित उभय दोषों को भी स्वीकार किया है। अतः विवेचन की दृष्टि से निम्न प्रकार होंगे—(१) पद-दोष, (२) पदांश-दोष, (३) वाक्य-दोष, (४) उभय-दोष, (५) अर्थ-दोष और (६) रस-दोष।

पद-दोष .

सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय से युक्त शब्द पद कहलाता है[1] और उसमें रहने वाला दोष पद-दोष है। मम्मट ने १६ पद-दोषों का उल्लेख किया है—(१) श्रुतिकटु, (२) च्युतसंस्कृति, (३) अप्रयुक्त, (४) असमर्थ, (५) निहतार्थ, (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक, (८) अवाचक, (९) अश्लील, (१०) संदिग्ध, (११) अप्रतीत, (१२) ग्राम्य, (१३) नेयार्थ, (१४) क्लिष्ट, (१५) अविमृष्ट-विधेयांश और (१६) विरुद्धमतिकृत्।[2] वाग्भट-प्रथम ने केवल ८ पद-दोषों का उल्लेख किया है—अनर्थक, श्रुतिकटु, व्याहतार्थ, अलक्षण, स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य।[3] इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

अनर्थक—प्रस्तुत में जो पद अनुपयुक्त हो। यथा—मैं लम्बोदर गणेशजी को नमस्कार करता हूँ।[4] यहाँ लम्बोदर पद अनुपयुक्त है। अतः अनर्थक दोष है।

श्रुतिकटु—अत्यन्त कर्णकटु अक्षरों का प्रयोग। यथा—इस युवती को सृष्टा (ब्रह्मा) ने एकाग्र मन से बनाया है, ऐसा मैं मानता हूँ।[5] यहाँ सृष्टा पद कर्ण कटु होने से दोष है।

व्याहतार्थ—इष्टार्थ से भिन्न विपरीत अर्थ के बोधक पद का प्रयोग। यथा—हे राजन्! आज आप ही (भूतलोपकर्ता) पृथ्वी के उपकार में लगे हैं।[6] यहाँ 'भूतलोपकर्ता' पद 'जीवों के लोप करने में लगे हैं' इस विपरीत अर्थ का भी बोधक होने से व्याहतार्थ दोष है।

अलक्षण—व्याकरण-शास्त्र के विरुद्ध पद का प्रयोग। यथा—'मानिनी'

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्।
२. काव्यप्रकाश, ७।५०-५१।
३. वाग्भटालंकार, २।८-९।
४. वही, २।८।
५. वही, २।९।
६. वही, २।१०।

सामवंसतो ध्वनेर्मुविजयत्यसौ'[1] यहाँ 'विजयति' पद का प्रयोग व्याकरण-शास्त्र के विरुद्ध होने से असक्षण दोष है।

स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ—किसी प्रसिद्ध अर्थ से विपरीत स्वकल्पित अर्थ में किसी पद का प्रयोग। यथा—यह पर्वत पुष्पों से युक्त वानरध्वज (अर्जुन) वृक्षों के द्वारा सुशोभित हो रहा है।[2] यहाँ वानरध्वज का सर्वप्रसिद्ध अर्थ पाण्डुपुत्र अर्जुन है, किन्तु कवि द्वारा स्वकल्पित ककुभ नामक वृक्ष विशेष के लिये वानरध्वज का प्रयोग करने से स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ दोष है।

अप्रसिद्ध—जिस पद की जिस अर्थ में कवि प्रसिद्धि न हो, उस पद का उस अर्थ में प्रयोग। यथा—'राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन्'[3] यहाँ यद्यपि व्याकरण-शास्त्र में हन् धातु हिंसा और गमन (हन् हिंसागत्योः) इन दोनों अर्थों में पठित है, किन्तु कवियों द्वारा हन् धातु का प्रयोग हिंसा अर्थ में ही प्रसिद्ध होने से अप्रसिद्ध दोष है।

असम्मत—जो पद अर्थ को कहने में समर्थ होने पर भी सर्व सम्मत नहीं है, उस पद का प्रयोग। यथा—सूर्य की किरणें अन्धकार रूपी अम्भोज (कीचड़) को धोती हैं। यहाँ यद्यपि अम्भोज (जल से उत्पन्न) शब्द 'अम्भसो जातोऽम्भोज इति' इस व्युत्पत्ति से कीचड़ अर्थ को कहने में समर्थ है तथापि कवियों द्वारा कमल अर्थ में ही प्रयुक्त होने से असम्मत दोष है।[4]

ग्राम्य—अनुचित (ग्रामीण) पद का प्रयोग। यथा—मैं देवताओं को पुष्पों से ढाँककर सामने धान फेंक रहा हूँ।[5] यहाँ देवताओं को पुष्पों से ढाँकना और सामने धान्य फेंकना दोनों ग्राम्य प्रयोग होने से ग्राम्य-दोष है।

आचार्य हेमचन्द्र ने केवल दो पद दोषों का उल्लेख किया है—निरर्थक और असाधु।[6]

निरर्थक—पाद-पूर्ति हेतु 'च' 'हि' आदि निरर्थक पदों का प्रयोग।

असाधु—व्याकरणशास्त्र विरुद्ध 'आघ्नते' आदि पदों का प्रयोग।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने तीन पद-दोषों का विवेचन किया है—असंस्कार (व्याकरण-संस्कार रहित), असमर्थ और अनर्थक।[7] इनके लक्षण नाम से ही स्पष्ट हैं।

---

१. वाग्भटालंकार, २।११। २. वही, २।१२।

३ वही, २।१३। ४ वही, २।१४।

५ वही, २।१५।

६ निरर्थकासाधुत्वे पदस्य। —काव्यानुशासन, ३।४ ६.

७ अलंकारमहोदधि, ५।२। पूर्वार्द्ध।

विजयवर्णी ने १६ पद-दोषों का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया है।[1] मम्मट-सम्मत १६ पद-दोषों में से केवल निहतार्थ-दोष को छोड़कर शेष १५ पद-दोषों को विजयवर्णी ने स्वीकार किया है। अतः उनके नामों में भी मम्मट से समानता है।

असमर्थ—जो पद अंगीकृत अर्थ को कहने मे समर्थ न हो। यथा—'हन्' धातु का गमन अर्थ मे प्रयोग।

श्रुतिकटु—कठोर वर्णों से युक्त पद का प्रयोग।

निरर्थक—पादपूर्ति हेतु 'च' 'वै' 'खलु' 'तु' 'हि' आदि अर्थ रहित पदों का प्रयोग।

अवाचक—जो पद किसी अर्थ विशेष के लिये प्रयुक्त करने पर भी इष्टार्थ को नही कहता है।

च्युतसंस्कृति—व्याकरण विरुद्ध पद का प्रयोग।

अप्रयुक्त—शास्त्र मे प्रसिद्ध होने पर भी कवियों द्वारा अनादृत।

ग्राम्य—ग्रामीण जनों द्वारा श्लाघ्य पद का प्रयोग।

अश्लील—जिस पद के द्वारा असभ्य अर्थ का ज्ञान हो। यह तीन प्रकार का होता है—व्रीडा, अमंगल और जुगुप्साजनक।

नेयार्थ—मूलार्थ का ज्ञान कराने मे असमर्थ पद का कवि द्वारा स्वेच्छा से प्रयोग।

क्लिष्ट—व्यवधान पूर्वक अर्थ को कहने वाले पद का प्रयोग।

संदिग्ध—इस पद के प्रयोग से अन्यार्थ भी विवक्षित हो, ऐसे संदिग्ध पद का प्रयोग।

अनुचितार्थ—जिस पद का अर्थ अनौचित्य पूर्ण हो।

अविमृष्टविधेयांश—जो पद प्राधान्य रूप मे विधेयांश का कथन न करता हो।

विरुद्धार्थमतिकृत्—इष्टार्थ से भिन्न अन्य दुष्टार्थ की प्रतीति कराने में सक्षम पद का प्रयोग।

अप्रतीत—किसी आगम विशेष मे प्रसिद्ध अर्थ का प्रयोग।

अजितसेन ने १७ पद-दोषों को स्वीकार किया है—(१) नेयार्थ, (२) अपुष्टार्थ, (३) निरर्थक, (४) अन्यार्थ, (५) गूढार्थ, (६) विरुद्धाशय, (विरुद्धार्थमतिकृत्),

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।१२-१३।

(७) ग्राम्य, (८) क्लिष्ट, (९) अयुक्त (अप्रयुक्त), (१०) संदिग्ध, (११) अश्लील, (१२) अप्रतीत, (१३) च्युतसंस्कार, (१४) परुष (श्रुति कटु), (१५) अविमृष्टविधेयांश, (१६) अप्रयोजक और (१७) असमर्थ।[1] इनमें से १३ दोष वही हैं, जिन्हें मम्मट अथवा विजयवर्णी ने कहा है। शेष अपुष्टार्थ, अन्यार्थ, गूढार्थ और अप्रयोजक—इन ४ दोषों की अजितसेन की अपनी कल्पना है, जिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

अपुष्टार्थ—प्रस्तुत मे अनुपयोगी अर्थ अपुष्टार्थ है। यथा—बारह के आधे (छ.) के आधे (तीन) नेत्र महेश्वर मे कल्पित हैं। यहाँ तीन नेत्रों को बारह के आधे के आधे कहना अनुपयोगी है, अतः अपुष्टार्थ दोष है।[2]

अन्यार्थ—स्पष्ट रूढि से भ्रष्ट अर्थ अन्यार्थ है। यथा—श्रेष्ठ धर्म (विदग्ध धर्म) और सद्भावना वाला व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हो गया है। यहाँ विदग्ध शब्द विशेष रूप से दग्ध धर्म के अस्तित्व का अवचन होने से और विद्वान् की तरह धर्मवान् ऐसा अवचन होने से अन्यार्थ दोष है।[3]

गूढार्थ—अप्रसिद्ध अर्थ मे कहा गया पद गूढार्थ है। यथा—मित्र (सूर्य) का उदय समग्र रूप से कमल समूह को विकसित कर रहा है। मित्र शब्द का अर्थ सुहृद् में प्रसिद्ध है, किन्तु प्रस्तुत में सूर्य के लिये प्रयुक्त होने से दोष है।[4]

अप्रयोजक—जहाँ विशेषण के द्वारा विशेष कुछ न कहा गया हो। यथा—तत्त्वोपदेश से पूर्व मिथ्यादृष्टि जिन को नमस्कार हो। सुख प्रदाता जिन को नमस्कार हो। इस प्रकार प्रस्तुत में तत्त्वोपदेश सुनने से पूर्व 'मिथ्यादृष्टि' इस विशेषण से विशेष कुछ नहीं कहा गया है। इसलिये अप्रयोजक दोष है।[5]

वाग्भट-द्वितीय ने १६ शब्द-दोषों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार वे शब्द-दोष पद और वाक्य दोनों मे समान रूप से पाये जाते हैं।[6] ये १६ शब्द-दोष वे ही हैं, जिन्हें मम्मट ने केवल पद-दोष माना है। मम्मट के च्युतसंस्कृति नामक दोष के स्थान पर वाग्भट-द्वितीय ने निर्लक्षण नामक दोष माना है। इन दोषो में अन्तर यह है कि च्युतसंस्कृति दोष वहीं पर होता है जहाँ व्याकरण-विरुद्ध पद का प्रयोग किया गया हो, किन्तु वाग्भट-द्वितीय

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५।१९१। २ वही, ५।१९३।
३. वही, ५।१९५। ४. वही, ५।१९६।
५. वही, ५।२०७। ६. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० १९।

पद निरर्थक और व्याकरण-विरुद्ध पद के 'च्युत-संस्कार' को कहता है, साथ ही छन्दःशास्त्र आदि के विरुद्ध पद को 'प्रतीत-संस्कार' को कहता है।[1] यहाँ व्याकरण और छन्दःशास्त्र के अतिरिक्त आदि पद से अन्य, भिन्न-भिन्न शास्त्रों को ग्रहण किया गया है, यह उनकी स्वोपज्ञ अलंकार-तिलक नामक वृत्ति से भी स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि वृत्ति में व्याकरणशास्त्र-विरुद्ध और छन्द शास्त्र-विरुद्ध दोषों के ही उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।[2] अब तक विभिन्न स्थलों पर प्राय. सभी पद दोषों के लक्षण आ चुके हैं, किन्तु निहतार्थ दोष का लक्षण शेष है, अतः कहते हैं—

निहतार्थ—उभयार्थ वाचक शब्द रहने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष है।[3] यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिरभ्य चुम्बिता सहसा ॥[4]

यहाँ शोणित शब्द रुधिर अर्थ में प्रसिद्ध होने से दोष है। चूंकि वाग्भट-द्वितीय के अनुसार २६ शब्द दोष पद और वाक्य में समान रूप से पाये जाते हैं, अत उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति में प्रत्येक दोष का पद और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किया है।

पद-दोषों के इस क्रम में सर्वप्रथम मम्मट ने १६, वाग्भट-प्रथम ने ८, हेमचन्द्र ने २, विजयवर्णी ने १२, अजितसेन ने १७ और वाग्भट-द्वितीय ने १६ पद-दोषों का विवेचन किया है। वाग्भट-प्रथम और हेमचन्द्र आदि सभी जैनाचार्यों ने प्राय मम्मट द्वारा उल्लिखित दोषों को अपनाकर ही अपना दोष विवेचन प्रस्तुत किया है। अजितसेन ने मम्मट-सम्मत दोषों को तोड़-मरोड़ कर रखने का प्रयास किया है, किन्तु वे केवल दोषों के नामों में ही किंचित् परिवर्तन कर पाये हैं। यथा—विरुद्धार्थमतिकृत् को विरुद्धाशय, अप्रयुक्त को अयुक्त आदि। इसके अतिरिक्त अजितसेन ने अपुष्टार्थ, अन्यार्थ, गूढार्थ, और अप्रयोजक इन चार अन्य दोषों का उल्लेख किया है। जिनमें मम्मट-सम्मत

1. शब्दानुशासनच्छन्दोऽनुशासनाद्यभिधानरहितं निर्लक्षणम् ।
—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १९ ।
2. वही, वृत्ति, पृ० १९-२० ।
3. उभयार्थवाचकस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं निहतार्थम् । —वही पृ० २१ ।
4. वही, वृत्ति, पृ० २१ ।

निहतार्थ और अजितसेन-सम्मत गूढार्थ दोष में कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि पद दोषों के प्रसङ्ग में जैनाचार्यों द्वारा किये गये विविध प्रयासों के बाद भी प्राय मौलिकता का अभाव है।

पदांशगत-दोष

मम्मट ने पदांशगत दोषो का उल्लेख किया है यथा श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सदिग्ध और नेयार्थ इन पदांशगत दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[1] जैनाचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदैक-देश (पदांशगत) दोषो को पद-दोष ही स्वीकार किया है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदांशगत दोषो को पदगत दोष मानते हुए भी मम्मटोल्लिखित उक्त ७ पदांश-गत दोषों मे से अश्लील को छोडकर छ दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। वे उदाहरण वही हैं, जिन्हें मम्मट ने प्रस्तुत किया है।[3] विजयवर्णी ने श्रुतिकटु, निरर्थक, अश्लील सदिग्ध और अवाचक इन ५ पदांशगत दोषों का पृथक् सोदा-हरण उल्लेख किया है।[4]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विजयवर्णी ने यद्यपि पदांशगत दोषों का उल्लेख किया है तथापि अगले प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि 'पददोष निरूप्याह वाक्यदोष स्फुटेऽधुना' इससे स्पष्ट है कि उन्हें भी पदांश दोषो को पृथक् मानना अभीष्ट नहीं है।

मम्मट ने पदांशगत दोषो को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है, किन्तु उनके परवर्ती वाग्भट-द्वितीय आदि जैनाचार्यों ने उनका उल्लेख भी नहीं किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि उक्त जैनाचार्यों को पृथक् पदांशगत दोषों को मानना अभीष्ट नही है। आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि आदि जैनाचार्यों ने पदांश दोषो को स्पष्ट रूप से पद-दोष ही स्वीकार किया है। विजयवर्णी ने यद्यपि मम्मट आदि आचार्यों की तरह पदांश दोषो का सोदाहरण उल्लेख किया है तथापि उनके 'पददोष... ' इस बाद वाले कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भी पदांश दोष पृथक् मान्य नहीं हैं। इसी प्रकार जैनाचार्य प्राय. पदांश दोषो को पृथक् मानने के पक्ष में नहीं हैं।

१ काव्यप्रकाश, पृ० २९९-३०० ।

२ 'पदैकदेश' पदमेव'—काव्यानुशासन, पृ० २०० एवं 'पदैकदेशोऽपि पदमेव'—अलंकारमहोदधि, पृ० १५३ ।

३ अलंकारमहोदधि, पृ० १५३-१५४ । ४ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ९।२५-२९ ।

वाक्य-दोष

जिसमें एक क्रिया पायी जाय वह वाक्य कहलाता है और उसमें पाया जाने वाला दोष वाक्य-दोष है। वाक्य-दोषों को प्रायः सभी आचार्यों ने समान रूप से स्वीकार किया है। मम्मट ने २१ वाक्य दोषों का विवेचन किया है—(१) प्रतिकूलवर्णता, (२) उपहतविसर्गता, (३) लुप्तविसर्गता, (४) विसन्धि, (५) हतवृत्तता, (६) न्यूनपदता, (७) अधिकपदता, (८) कथितपदता, (९) पतत्प्रकर्ष, (१०) समाप्तपुनरात्तता, (११) अर्द्धान्तरैकवाचकता, (१२) अभवन्मत-सम्बन्ध, (१३) अनभिहितवाच्यता, (१४) अस्थानपदता, (१५) अस्थानसमासता, (१६) संकीर्णता, (१७) गर्भितता, (१८) प्रसिद्धि-विरोध, (१९) भग्नप्रक्रमता, (२०) अक्रमता और (२१) अमतपरार्थता।[1]

वाग्भट-प्रथम ने ८ वाक्य-दोषों का उल्लेख किया है—(१) खण्डित, (२) व्यस्तसम्बन्ध, (३) असम्मित, (४) अपक्रम, (५) छन्दोभ्रष्ट, (६) रीतिभ्रष्ट, (७) यतिभ्रष्ट और (८) असत्क्रिया (क्रिया पद रहित)।[2] इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

खण्डित—एक वाक्य के मध्य में अन्य वाक्य का प्रवेश। यथा—'पायात् सदा स्वामी यमिन्द्र स्तौति वो जिनः'[3] (भगवान् जिनेन्द्रदेव, जिनकी स्तुति इन्द्र भी करता है आपकी सदा रक्षा करें) यहाँ जिनकी स्तुति इन्द्र भी करता है, इस वाक्य के मध्य में प्रवेश करने से खण्डित-दोष है।

व्यस्तसम्बन्ध—जिस पद का जिस पद के साथ सम्बन्ध हो उनका परस्पर दूर स्थित रहना। यथा—'यत्राऽद्य सम्पदं ज्ञाता देयात् तत्त्वानि वोऽर्हताम्'[4] (अर्हतों में प्रथम तत्त्ववेत्ता जिनेन्द्रदेव आप लोगों को सम्पत्ति प्रदान करें) यहाँ 'आद्य' और 'अर्हताम्' इन दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी दूर-दूर स्थित होने से व्यस्तसम्बन्ध-दोष है।

असम्मित—जहाँ शब्द और अर्थ तराजू के तौल के समान संतुलित न हों। यथा—'मानसौक पतद्यानदेवासनविलोचन। हयोरिपुविपक्षारिप्रियो दिशतु वो जिनः'॥[5] [मानसरोवर में निवास करने वाला पक्षी (हंस) जिसका वाहन है उस देव (ब्रह्मा) के आसन (कमल) के समान नेत्रों वाले

---

१. काव्यप्रकाश, ७।५३-५५।
२. वाग्भटालंकार, २।१७।
३. वही, २।१८।
४. वही, २।१९।
५. वही, २।२०—२२।

भगवान् जिनेन्द्रदेव अन्धकार के शत्रु (सूर्य) के विपक्षी (राहु) के शत्रु (विष्णु) की प्रिया (लक्ष्मी—सम्पत्ति) प्रदान करें] यहाँ कमलनयन के लिये 'सरसीकपलाशविकासनविलोचन' और लक्ष्मी के लिये 'तमोरिपुविपक्षारिप्रिया' इन दो लम्बे-लम्बे पदों का प्रयोग होने से असम्मित-दोष है।

अपक्रम—जहाँ प्रसिद्ध क्रम का उल्लंघन किया गया हो। यथा—'यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरून् देवांश्च वन्दते।'[1] (वह भोजन करके स्नान किया हुआ गुरुओं और देवताओं की वन्दना करता है) यहाँ लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध सर्वप्रथम स्नान पुनः गुरुओं और देवताओं की वन्दना, तत्पश्चात् अन्य भोजनादि क्रिया—इस क्रम का उल्लंघन करने से अपक्रम नामक दोष है।

छन्दोभ्रष्ट—छन्द शास्त्र के विरुद्ध वाक्य का प्रयोग। यथा—

छन्दःशास्त्र विरुद्ध यत् छन्दोभ्रष्टं हि तद्यथा।

स जयतु जिनपतिः परब्रह्ममहानिधिः ॥[2]

(वे परब्रह्म महानिधि भगवान् जिनेन्द्रदेव जयवन्त हों) यहाँ 'श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र ।' इस छन्दःशास्त्र के नियमानुसार अनुष्टुप छन्द के प्रत्येक पाद में षष्ठ वर्ण गुरु होना आवश्यक है, किन्तु 'स जयतु जिनपतिः ...' इत्यादि में षष्ठ वर्ण नकार गुरु न होने से छन्दोभ्रष्ट-दोष है।

रीतिभ्रष्ट—जहाँ वाक्य में रीति का निर्वाह न किया गया हो। यथा—

'रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद् यथा।

जिनो जयति स श्रीमान् इन्द्राद्यमरवन्दितः ॥[3]

(इन्द्रादि देवताओं के द्वारा पूजित श्री सम्पन्न भगवान् जिनेन्द्रदेव की जय हो) यहाँ पूर्वार्द्ध में असमस्तपदी वैदर्भी और उत्तरार्द्ध में समस्त-पदी गौडी रीति का प्रयोग होने से रीतिभ्रष्ट-दोष है।

यतिभ्रष्ट—जहाँ पद के मध्य में यति हो। यथा—'नमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते।'[4] '(उन अर्हत् नेमिनाथ जिनेन्द्रदेव को सदा नमस्कार हो) यहाँ 'जिनस्वामिने' यह पूरा पद है, अतः इसके पश्चात् ही यति होनी चाहिये थी, किन्तु 'जिनस्वामि' के पश्चात् ही पद के मध्य में यति होने से यतिभ्रष्ट-दोष है।

असत्क्रिया—उचित क्रिया-पद रहित वाक्य का प्रयोग। यथा—'यथा

१ वाग्भटालंकार, २।२२। २. वही, २।२३।
३ वही, २।२४। ४. वही, २।२५।

सरस्वती श्रुतिः [illegible] ।[1] (श्रुति से, [illegible] से, [illegible] से, स्तोत्रों से सरस्वती को (पुष्ट करता हूँ) । यहाँ '[illegible]' का [illegible] क्रिया के अभाव में असत्क्रिया-दोष है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने १३ प्रकार के वाक्य-दोषों का उल्लेख किया है—१. विसन्धि, २. न्यूनपदता, ३. अधिकपदता, ४. उक्तपदता, ५. अस्थानस्थपदता, ६. पतत्प्रकर्षता, ७ समाप्तपुनरात्तता, ८. अविसर्गता, ९. अनन्वयता, १० संकीर्णता, ११ गर्भितता, १२. भग्नप्रक्रमता और १३. अक्रमता ।[2] जिनके लक्षण निम्न प्रकार है—

विसन्धि—पदों के मेल रूप (सन्धि) कार्य के क्रम और वर्णों की तरह स्वरों का समवाय सम्बन्ध सन्धि है अथवा क्रियाओं की तरह स्वरों और व्यंजनों का संयोग मात्र रूप सन्धि है । उस सन्धि का विश्लेषता, अश्लीलता और कष्टता से विरूपता को प्राप्त हो जाना, विसन्धि है । विश्लेषता यथा—

कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति [illegible] ।

यहाँ सन्धि न करूँ, इस प्रकार स्वेच्छा से एक बार भी सन्धि न करना दोष है और जहाँ प्रकृतिवद् भाव प्राप्त हो वहाँ बार-बार संधि न करना दोष है । इसी प्रकार अश्लीलता और कष्टता के भी उदाहरण दिये गये हैं ।[3]

न्यूनपदता—अवश्य कहने योग्य पद का न कहना । यथा—'[illegible] दृष्ट्वा' इत्यादि पद्य में '[illegible]' यह तथा '[illegible]' से पूर्व '[illegible]' यह पद अवश्य कहना चाहिए था, किन्तु नहीं कहा गया है, अतः दोष है ।[4] इसी प्रकार

त्वयि निबद्धरते: [illegible] [illegible] ।

किमपराधलव मम [illegible] [illegible] [illegible] ॥[5]

यहाँ [illegible] [illegible] (अपराध का लव-लेश भी) इस प्रकार [illegible] कहना चाहिये था ।

यहाँ हेमचन्द्र ने न्यूनपदता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें उपमान की न्यूनपदता का एक उदाहरण उल्लेखनीय है । यथा—

[illegible] ।

[illegible] ॥[6]

१. वाग्भटालंकार, २।२६ ।
२. काव्यानुशासन, ३।५ ।
३. वही, पृ० २०१-२०२ ।
४. वही, पृ० २०२ ।
५. वही, पृ० २०३ ।
६. वही, पृ० २०५ ।

यहाँ उपमान के रूप में कमल और मृणाल की उक्ति के होने पर भी उपमेयभूत मुख और भुजा का उल्लेख न होने से न्यूनपदता है।

अधिकपदता—अधिक पद का होना। यथा—

स्फटिकाकृतिनिर्मल प्रकाम प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः।
अनिरुद्धसमन्वितोक्तियुक्ति प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥[1]

यहाँ आकृति शब्द अधिक होने से दोष है।

उक्तपदता—किसी पद का दो बार प्रयोग करना। यथा—

अधिकरतलतल्प कल्पितस्वापलीला
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीला यौवराज्याभिषेकम् ॥[2]

यहाँ 'लीला' पद के दो बार प्रयोग होने से दोष है।

अस्थानस्थपदता—यथा—

प्रियेण सग्रथ्य विपक्षसंनिधो, निवेशिता वक्षसि पीवरस्तने।
स्रज न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥[3]

यहाँ 'स्रज काचिन्न जहौ' इस प्रकार प्रयोग करना उचित था।

पतत्प्रकर्ष—यथा—

क क कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकर,
क क क कमलाकर विकमल कर्तुं करी नोद्यत।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यत,
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसति पञ्चाननो वर्तते ॥[4]

यहाँ क्रम से अनुप्रास की घनता आवश्यक है। सिंह के प्रतिपादन में पूर्व की तुलना में अनुप्रास की अधिकतर कठोरवर्णता न होने से उक्त दोष है।

समाप्तपुनरात्ता—यथा—

ज्योत्स्ना लिम्पति चन्दनेन स पुमान् सिञ्चत्यसौ मालती-
माला गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादून्यसौ फाणितैः।
यस्तस्य प्रथितान् गुणान् प्रथयति श्रीवीरचूडामणे-
स्तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि ॥[5]

---

१ काव्यानुशासन, पृ० २०५।
२ वही, पृ० २०९। ३ वही, पृ० २१०।
४ वही, पृ० २१३। ५ वही, पृ० २१३।

यहाँ 'पूजाप्सवे.' पर वाक्य समाप्त हो जाने पर 'आरब्धम्' इत्यादि का पूँछ की तरह पुनः ग्रहण चमत्कारोत्पादक नहीं है।

अविसर्गता—उत्वादि के द्वारा रकार का लोप होने तथा विसर्ग का लोप प्राप्त होने पर विसर्ग का अभाव। यथा—

वीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र स.।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभान्विता॥[1]

यहाँ पर प्रथम पंक्ति में विसर्ग का लोप हो जाने से लुप्तविसर्गता और द्वितीय पंक्ति में विसर्ग का 'ओ' हो जाने से व्यस्त (उपहत) विसर्गता-दोष है।

हतवृत्तता—यह दोष ५ प्रकार से सम्भव है—(१) छन्द-शास्त्र के लक्षण से रहित, (२) यतिभ्रष्ट, (३) लक्षण का अनुसरण करने पर भी अश्रव्य, (४) अन्त लघु के गुरुभाव को प्राप्त न होना और (५) रसानुकूल छन्द न होना। छन्द शास्त्र लक्षणरहित यथा—

'अयि पश्यत सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालधारिणीम्।'[2]

यहाँ वैतालीय छन्द के युग्म पाद में ६ लघु अक्षरों का निरन्तर प्रयोग निषिद्ध होने से लक्षणहीन हतवृत्तता है। इसी प्रकार शेष ४ प्रकारों के भी उदाहरण हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किये हैं।[3]

सकीर्णता—एक वाक्य के पदों का दूसरे वाक्य के पदों में मिल जाना।

यथा—काअ खाअइ खुहिओ कूर चल्लेइ निब्भर रुट्ठो।
सुणय गेण्हइ कण्ठे हक्केइ अ नत्तिअ थेरो॥[4]

यहाँ 'काक क्षिपति कूर खादति कण्ठे नप्तार गृह्णाति श्वान प्रेषयति' इस प्रकार कहना उचित था।

गर्भितता—एक वाक्य के मध्य में अन्य वाक्य का प्रवेश। यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनै सह संगति।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन॥[5]

यहाँ तृतीय पाद अन्य वाक्य के मध्य में प्रविष्ट होने से दोष है।

भग्नप्रक्रमता—प्रस्तुत का भंग होना। यथा—

एकमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः पार्थिवः प्रत्यभाषत॥[6]

---

1. काव्यानुशासन, पृ० २१४। 2. वही, पृ० २१४।
3. वही, पृ० २१४-२१५। 4. वही, पृ० २१५।
5. वही, पृ० २१५। 6. वही, पृ० २१५।

यहाँ 'उदर्क' (अर्च् धातु) से प्रारम्भ है और अन्त 'प्रत्यपादित' (पद् धातु) से। अतः प्रकृति की भग्नप्रक्रमता है। 'प्रत्यर्चयत' कहना उचित था।

अनन्वितता—पदार्थों का परस्पर असम्बद्ध होना। यथा—

दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य ।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥[1]

यदि यहाँ आकार शब्द का अवयव संस्थान (आकृति) अर्थ विवक्षित है, तब तो परस्पर परिहार की स्थिति वाले दोनों अर्थों मे बहु भेद सिद्ध ही है, अत. कथन व्यर्थ है। यदि आकार से 'आ' वर्ण विशेष लिया जाता है तो वर्ण निरर्थक होने से कृपण और कृपाण रूप अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध संभव नहीं है। अत अनन्वितता-दोष है।

मम्मट ने इष्ट सम्बन्ध के अभाव को अमतपरार्थ-सम्बन्ध-दोष कहा है।[2]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने २३ वाक्यदोषों का उल्लेख किया है—१ रसाद्यनुचिताक्षर, २ लुप्त-विसर्गान्त, ३ ध्वस्त-विसर्गान्त, ४ इष्टसम्बन्ध-वर्जित (अनन्वित अथवा अभवन्मत-सम्बन्ध), ५ समाप्तपुनरात्तता, ६. भग्नप्रक्रमता, ७. अक्रमता, ८. न्यूनपदता, ९. अवान्तरस्थैकपदता, १० संकीर्णता, ११. गर्भितता, १२ दुर्वृत्तता, १३ सन्धिविश्लेषता, १४ सन्धिकष्टता, १५ सन्धि-अश्लीलता, १६ अनिष्टान्यार्थ (अमत परार्थ), १७ अस्थान-समास दुःस्थित, (अस्थानस्थ समास), १८ अस्थानपद दुःस्थित, (अस्थानस्थ पद), १९ पतत्प्रकर्ष, २० अप्रोक्तवाच्य (वाच्यस्यानभिधान), २१ त्यक्तप्रसिद्धि (प्रसिद्धि विरुद्ध), २२ पुनरुक्तपदन्यास (कथितपदता) और २३ अतिरिक्तपदता (अधिकपदता)।[3]

यहाँ नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट-सम्मत २१ वाक्य दोषों को ही स्वीकार किया है। चूँकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने विसन्धि के तीन भेदों की पृथक्-पृथक् गणना की है, अत उनके अनुसार वाक्य-दोषों की संख्या २३ हो जाती है, मूलतः दोषों में अभिन्नता है। हेमचन्द्र ने १३ वाक्य दोषो का उल्लेख किया है, लुप्त-विसर्ग और ध्वस्त-विसर्ग को उन्होंने अविसर्गता के अन्तर्गत ही माना है तथा विसन्धि के तीन भेदो को पृथक्-पृथक् न मानकर केवल एक ही भेद माना है। इस प्रकार हेमचन्द्र के प्रसग मे १२ वाक्य दोषों (अविसर्ग के दो तथा विसन्धि के तीन

1. काव्यानुशासन, पृ० २९३।
2. काव्यप्रकाश, पृ० ३१२।
3. अलंकारमहोदधि, ५।१९-६।

भेदों सहित (१६) दोषों का विवेचन किया जा चुका है। शेष जिन सात दोषों (रसाद्यनुचिताक्षर, अक्रमता, अर्द्धान्तरस्थैकपदता, अनिष्टान्यार्थ, अस्थानसमासदुःस्थित, अश्लीलवाच्य और स्वतःप्रसिद्धि) को नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के अनुसार स्वीकार किया है, उनके लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार हैं—

रसाद्यनुचिताक्षर—रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग। यथा—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठ्या: क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर॥[1]

यहाँ शृंगार रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग होने से दोष है।

अक्रमता—जहाँ पर क्रम का अभाव हो। यथा—

तुरङ्गमथ मातंगं प्रयच्छास्मै मदालसम्।
कान्ति-प्रतापौ भवतः सूर्यचन्द्रमसोः समौ॥[2]

यहाँ 'मातंगमथ तुरगम्' और 'कान्ति-प्रतापौ भवतः समौ चन्द्रविवस्वतोः' कहना उचित था, किन्तु इसके विपरीत कहने से दोष है। मम्मट ने—

'भूपालरत्न! निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव!
विश्राणय तुरगं मे मातंगं वा मदालसम्॥[3]

यहाँ मातंग का प्रथम निर्देश न करने से दुष्क्रमत्व अर्थ दोष माना है।

अर्द्धान्तरस्थैकपदता—जहाँ पूर्वार्द्ध से सम्बद्ध एक पद उत्तरार्द्ध में स्थित हो। यथा—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥[4]

यहाँ 'विरराम' इस पद को पूर्वार्द्ध में रखना उचित था।

अनिष्टान्यार्थ—जहाँ अन्यार्थ प्रकृत रस के विरुद्ध हो। यथा—

'रामसन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद् रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥[5]

यहाँ प्रकृत बीभत्स रस के विरुद्ध शृंगार रस का व्यञ्जक अन्यार्थ होने से दोष है।

अस्थानसमासदुःस्थित—अनुचित स्थान पर समास करना। यथा—

---

१. अलंकारमहोदधि, पृ० १३१।
२. वही, पृ० १३४।
३. काव्यप्रकाश, पृ० ३२६।
४. अलंकारमहोदधि, पृ० १३६।
५. वही, पृ० १३६।

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि,
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहित: ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकर: कर्षत्यसौ तत्क्षणात् ।
फुल्लत्कैरवकोशनिस्सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥[1]

यहाँ शशी (चन्द्रमा) की उक्ति मे समास नहीं किया है और कवि की उक्ति में किया है अत: दोष है ।

अप्रोक्तवाच्य—अवश्य कथनीय को न कहना । यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैर्मम हृतस्य तथाऽप्यनास्था ।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयमाहात्म्यसारसमुदायमय: पदार्थ: ॥[2]

यहाँ 'मम हृतस्य' के स्थानपर 'अपहृतोऽस्मि' इस रूप मे विधि का कथन करना चाहिए था, क्योंकि 'तथाऽपि' इस पद का द्वितीय वाक्य मे ही प्रयोग किया जाना सम्भव है । अत: प्रथम वाक्य को द्वितीय से पृथक् करने के लिए उक्त प्रकार से अवश्य कथनीय को न कहने से दोष है ।

त्यक्तप्रसिद्धि—प्रसिद्धि का अतिक्रमण करना । यथा—

रणन्ति पक्षिण: स्वैरं चक्रीवन्तो वितन्वते ।
इव बृंहितमश्वानां ककुद्मानेष हेषते ॥[3]

यहाँ मञ्जीर आदि मे रणित, पक्षियों मे कूजित, सुरत में स्वनित-मणित आदि तथा मेघों मे गर्जित आदि की प्रसिद्धि का अतिक्रमण होने से दोष है ।

विजयवर्णी ने २३ वाक्यदोषों का उल्लेख किया है ।[4] उसमे से २१ तो वही हैं, जिन्हें मम्मट और जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वीकार किया है । शेष रसच्युत और अप्रस्तुतार्थ ये दो दोष विजयवर्णी की अपनी नवीन कल्पना हैं । उन दो दोषों के लक्षण निम्न प्रकार हैं ।

रसच्युत—जहाँ वाक्य मे रस का अभाव हो । यथा—

द्विहस्त एककण्ठोऽयं सपादयुगलो नर: ।
शिरस्यस्य पुनो वस्त्रेण युक्तो ग्रामाय गच्छति ॥[5]

यहाँ रस का अभाव होने से दोष है तथा नीरस होने से जाति अलंकार भी नहीं है ।

---

१ अलंकारमहोदधि, पृ० १३९ ।
२. वही, पृ० १४० ।
३. वही, पृ० १४० ।
४. शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।४१-४३ ।
५. वही, १०।७८ ।

[illegible] — जिस वाक्य में [illegible] हो।

यथा — [illegible]

[illegible] ॥[1]

यहाँ वीप्सादि आदि विशेषण पदों के लिए आकांक्षणीय न होने से दोष है।

अजितसेन ने निम्न २४ वाक्य-दोष स्वीकार किये हैं—(१) छन्दश्च्युत, (२) रीतिच्युत, (३) यतिच्युत, (४) क्रमच्युत, (५) अंगच्युत, (६) शब्दच्युत, (७) सम्बन्धच्युत, (८) अर्थच्युत, (९) संधिच्युत, (१०) व्याकीर्ण, (११) पुनरुक्त, (१२) अस्थितिसमास, (१३) विसर्गलुप्त, (१४) वाक्यसंकीर्ण, (१५) सुवाक्यगर्भित, (१६) पतत्प्रकर्ष (पततत्प्रकर्ष), (१७) प्रक्रमभंग, (१८) न्यूनोपमा, (१९) अधिकोपमा, (२०) अधिकपद, (२१) भिन्नोक्ति (भिन्न वचन), (२२) भिन्न लिंग, (२३) समाप्तपुनरात्त और (२४) अपूर्ण[2]। इनमें से अवशिष्ट १३ दोष मम्मट-सम्मत हैं। शेष रीतिच्युत, यतिच्युत, अंगच्युत, शब्दच्युत, सम्बन्धच्युत, व्याकीर्ण, न्यूनोपमा, अधिकोपमा, भिन्नोक्ति, वचनभिन्न और अपूर्ण इन ११ दोषों के लक्षण नाम से ही स्पष्ट हैं। मम्मट ने जिसे च्युत-संस्कृति नामक पद-दोष माना है, उसे अजितसेन ने शब्दच्युत नामक वाक्य-दोष माना है। अजितसेन ने शब्दच्युत का लक्षणोदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

यच्छब्दवाक्यं यच्छब्दहीनमिव यथा।
सुखं संपच्छते नाथ विनयात्सत्याच्युतता ॥[3]

यहाँ 'सुखं न सम्पच्छते' इस वाक्य में दो पदों के दुष्ट होने से वाक्यदोष ही है, पददोष नहीं। क्योंकि सम् पूर्वक गम् धातु से आत्मनेपद होने पर कर्म कारक का ग्रहण नहीं होता है।

वाग्भट-द्वितीय ने १४ वाक्य-दोषों को स्वीकार किया है।[4] हेमचन्द्र सम्मत १३ वाक्य-दोषों में से क्रमच्युतता को छोड़कर शेष १२ दोष वाग्भट-द्वितीय को समान रूप से मान्य हैं। इनके अतिरिक्त अर्थानिरर्थकवाचक और असमर्थसमास-योग ये दो मम्मट-सम्मत दोष भी उन्हें मान्य होने से उनके अनुसार वाक्यदोष १४ हैं। इनके लक्षण और उदाहरण प्रायः पूर्व-स्वीकृत ही हैं।

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।८४।
२. अलंकारचिन्तामणि, ५।२०९-२१०।   ३. वही, ५।२१५।
४. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृष्ठ ३४।

भावदेवसूरि ने निम्न ३२ वाक्य-दोष माने हैं—(१) श्रुतिकटु, (२) च्युत-सस्कृति, (३) शिथिल, (४) अनुचित, (५) नेयार्थ, (६) असमर्थ, (७) क्लिष्ट, (८) निरर्थक, (९) ग्राम्य, (१०) संदिग्ध, (११) कथित, (१२) विकृत, (१३) निहतार्थ, (१४) विरुद्धमतिकृत्, (१५) समाप्तपुनरात्त, (१६) अश्लील, (१७) अप्रयुक्त, (१८) अविमृष्टविधेयांश, (१९) पतत्प्रकर्ष, (२०) उपहत-विसर्ग (२१) लुप्तविसर्ग, (२२) विसंधि, (२३) कुसंधि, (२४) हतवृत्त, (२५) न्यून, (२६) अधिक, (२७) अस्थानस्थ, (२८) भग्नप्रक्रम, (२९) अमित, (३०) अप्रसिद्ध, (३१) सकीर्ण और (३२) अक्रम।[1] इनके लक्षण नामानुरूप हैं।

उपर्युल्लिखित वाक्य-दोषो के विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ मम्मट ने २१ वाक्य-दोषो का उल्लेख किया है, वही जैनाचार्यों ने उनका अनुसरण करते हुए भी अपनी मान्यतानुसार न्यूनाधिक विवेचन किया है। वाग्भट-प्रथम ने ८, हेमचन्द्र ने १३, नरेन्द्रप्रभसूरि ने २३, विजयवर्णी ने २३, अजितसेन ने २४, वाग्भट द्वितीय ने १४ और भावदेवसूरि ने ३२ वाक्य-दोषो का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र को प्राय मम्मट का अनुयायी कहा जाता है, किन्तु उन्होंने मम्मट का अन्धानुकरण न करते हुए यथास्थान अपनी मान्यताओं का समावेश किया है, जिसमे उनकी मौलिकता स्पष्ट प्रतीत होती है। हेमचन्द्र ने केवल १३ वाक्यदोषो का उल्लेख कर निश्चय ही मम्मट से भिन्न अपनी मान्यता स्थापित की है। विजयवर्णी ने रसच्युत और अप्रस्तुतार्थ इन दो दोषों की नवीन कल्पना की है। अजितसेन ने मम्मट-सम्मत च्युतसस्कृति नामक पद-दोष को शब्दच्युत नामक वाक्य-दोष माना है तथा उसके समर्थन में यथोचित तर्क भी प्रस्तुत किया है। भावदेवसूरि द्वारा स्वीकृत ३२ वाक्य-दोष सकलन जैसे प्रतीत होते हैं। अत उनमें प्राय मौलिकता का अभाव है।

उभय-दोष :

पद और वाक्य में एक साथ पाये जाने वाले दोषों का उभय-दोष के नाम से उल्लेख किया गया है। उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट ने यद्यपि 'उभय-दोष' इस संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी पद और वाक्य में समान रूप में पाये जाने वाले दोषों की चर्चा की है। मम्मट के अनुसार ये १३ हैं।[2] किन्तु जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इनका स्पष्ट विवेचन किया है, उनके अनुसार उभय-दोष

१ काव्यालंकारसार, ३।१-५।

२ अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थ निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषा सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥ —काव्यप्रकाश, ७।५२ ॥

८ प्रकार के होते हैं—(१) अप्रयुक्त, (२) अश्लील, (३) असमर्थ, (४) अनुचितार्थ, (५) श्रुतिकटु, (६) क्लिष्ट, (७) अविमृष्टविधेयांश और (८) विरुद्धमतिकृत्।[1]

अप्रयुक्तत्व—कवियों द्वारा अनादृत (अप्रयुक्त)। यह लोकमात्र में प्रसिद्ध अथवा शास्त्रमात्र में प्रसिद्ध रूप से दो प्रकार का होता है।

लोकमात्र प्रसिद्ध पद-दोष यथा—कष्टं कथं रोदिति फूत्कृतेयम्[2]।

यहाँ 'फूत्कृत' यह लोक मात्र में प्रसिद्ध होने से पद-दोष है।

वाक्यदोष यथा—ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा॥[3]

यहाँ गल्ल, भल्ल आदि अनेक शब्द लोकमात्र में प्रसिद्ध होने से वाक्य-दोष है। इसे मम्मट ने वाक्यगत ग्राम्यत्वदोष का उदाहरण माना है।[4]

शास्त्रमात्र प्रसिद्ध पददोष यथा—

यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा[5]॥

यहाँ दैवत शब्द पुल्लिंग में लिंगानुशासन में प्रसिद्ध होने से दोष है।

वाक्यदोष—यथा—तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः।
दृढभूमि प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे॥[6]

यहाँ अधिमात्रोपाय आदि शब्द योगशास्त्र मात्र में प्रसिद्ध होने से दोष है।

अश्लीलत्व—व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल व्यञ्जकतारूप भेद से अश्लील तीन प्रकार का होता है।

व्रीडाभिव्यञ्जक पदगत यथा—

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम्[7]॥

यहाँ पर साधन शब्द पुरुष का लिंगवाचक होने से व्रीडाभिव्यञ्जक है।

वाक्यगत यथा—मुखैरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना।
तत्स्वाद्भुतोत्साहवती मोहनमाचरी[8]॥

---

१ काव्यानुशासन, ३।६।
२. वही, पृ० २२६।
३. वही, पृ० २२७।
४ काव्यप्रकाश, पृ० २८९।
५. काव्यानुशासन, पृ० २२८।
६ वही, पृ० २२९।
७ काव्यानुशासन, पृ० २२९।
८. वही, पृ० २३०।

यहाँ उपसर्जन, प्रहसन और मोहन आदि व्रीडाव्यंजक होने से दोष हैं। इसी प्रकार जुगुप्सा और अमंगल-व्यंजक अश्लीलत्व के भी पद और वाक्यगत भेद हैं।[1]

असमर्थत्व—अवाचकता, कल्पितार्थता और अविमृष्टता के कारण विवक्षित अर्थ को न कहने की शक्ति।

पदगत यथा—हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा,
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम्।
किं कुर्मः, कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं,
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना[2]॥

यहाँ 'दिनम्' पद प्रकाशमय अर्थ को कहने में अवाचक (असमर्थ) है।

वाक्यगत यथा—विभजन्ते न ये भूपालकन्दे न ते श्रियम्।
आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम्॥[3]

यहाँ विभजति (विभाग) सेवन, आकलयति (विनाश) लाभ, आवहति (करोति-करता है) धारण और प्रस्मरति (विस्मरण) स्मरण अर्थ को कहने में अवाचक (असमर्थ) हैं।

कल्पितार्थत्व से असमर्थता—पदगत यथा—

किमुच्यतेऽस्य भूपाल मौलिमालामहामणे।
सुदुर्लभवचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते॥[4]

यहाँ 'वच' शब्द से 'गो' शब्द लक्षित होता है, अतः कल्पितार्थत्व होने से असमर्थ दोष है। मम्मट ने यहाँ पदांशगत नेयार्थता दोष माना है।[5]

वाक्यगत यथा—

सपदि पंक्ति विहंगमनामभृत्तनय संवलितं बलशालिना।
विपुलपर्वतवर्षिशितैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम्॥[6]

यहाँ 'पंक्ति' दस संख्या का बोधक है। विहंगम का अर्थ है चक्र, उस नाम को धारण करने वाला (चक्रभृत्) रथ। अर्थात् दस रथ जिसके हैं (दशरथ), उसके पुत्र राम-लक्ष्मण उलूकजिता—इन्द्र को जीतने वाले हैं। इस प्रकार कल्पित होने से असमर्थत्व दोष है।

---

१ द्रष्टव्य—काव्यानुशासन, पृ० २३० । २ वही, पृ० २३१-२३२ ।
३ वही, पृ० २३६ । ४. काव्यानुशासन, पृ० २३५ ।
५ काव्यप्रकाश, पृ० ३०० । ६. काव्यानुशासन, पृ० २३६ ।

संदिग्ध से असमर्थता—पदगत यथा—

आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया ।
आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥[1]

यहाँ 'वन्द्या' शब्द क्या 'आशीः परम्परा' का विशेषण है, अर्थात् वन्दनीय आशी. परम्परा अथवा बन्दी शब्द सप्तम्यन्त में 'बन्द्यां' शब्द युद्धपूर्वक बन्दी बनाई गई महिला विषयक बोधक है, अर्थात् अपहृतस्त्री है, यह सन्देह होता है। वाक्यगत यथा—

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद् भूतिरेष विलोक्यते ॥[2]

यहाँ सुरादि (आदि पद से कम्पना, मार्गण और भास्वद् भूति) शब्द देव, सेना, बाण और विभूति अर्थ के वाचक हैं क्या ? अथवा मदिरा (कम्पन, भीख और राख) आदि अर्थों के वाचक हैं, इसमें सन्देह होने से असमर्थता दोष है।

प्रस्तुत दोष में हेमचन्द्र ने मम्मट-सम्मत अवाचकता, प्रसिद्धिहतता, नेयार्थता और संदिग्धता नामक दोषों का अन्तर्भाव किया है, जिसका उल्लेख स्वोपज्ञ विवेक टीका में स्पष्ट रूप से किया गया है।[3]

अनुचितार्थता—पदगत यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥[4]

यहाँ पशु पद कातरता की अभिव्यक्ति करा रहा है, अतः अनुचितार्थता दोष है। वाक्यगत यथा—

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ॥
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा ।
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥[5]

यहाँ कुविन्दादि शब्द जुलाहा नग्नक अर्थ के भी वाचक होने से स्तूयमान राजा के तिरस्कार को व्यंजित करते हैं, अतः दोष है।

---

१. काव्यानुशासन, पृ० २१७ ।   २. वही, पृ० २१७ ।

३. अवाचकत्वादित्यनेनावाचकत्वप्रसिद्धिहतत्वयोः क्लिष्टार्थत्वादित्यनेन नेयार्थत्वस्य, अर्थसंशयकारित्वादित्यनेन संदिग्धत्वस्यासमर्थत्वेऽन्तर्भावमाह ।
—काव्यानुशासन, विवेक टीका, पृ० २२१ ।

४. काव्यानुशासन, पृ० २१८ ।   ५. वही, पृ० २१९ ।

श्रुतिकटुता—पदगत यथा—

अनंगमंगलगृहापांग भंगितरंगितैः ।
आलिंगितः स तन्वंग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥[1]

यहाँ 'कार्तार्थ्यं' पद श्रुतिकटु होने से दोष है । वाक्यगत यथा—

अचूचुरच्चण्डि कपोलयोस्ते कान्तिद्रवं द्राग्विशदं शशांक ।[2]

यहाँ चण्डि और द्राग् आदि पद श्रुतिकटु होने से दोष है ।

क्लिष्टता—व्यवधानपूर्वक अर्थ का बोध कराने वाला । पदगत यथा—

दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां ।
ज्योत्स्नाजुषां जलकणास्तरलं पतन्ति ॥[3]

यह दक्ष की आत्मजा तारा, उसका दयित (प्रिय) चन्द्रमा, उसकी वल्लभायें चन्द्रकान्तमणियां, उसकी वेदिकाओं की चांदनी के साथ संयोग से चंचल जलकण गिर रहे हैं । यहाँ अर्थ की प्रतीति व्यवधानपूर्वक होने से दोष है । वाक्यगत यथा—

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरंगशावाक्ष्या ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥[4]

यहाँ केशपाश की शोभा को देखकर किसका मन रंजित नहीं होता है । इस प्रकार दूरस्थित सम्बन्ध से क्लिष्टता दोष है ।

अविमृष्टविधेयांश—जहाँ प्रधान रूप से विधेयांश का कथन न किया गया हो । पदगत यथा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥[5]

यहाँ अलक्ष्यता अनुवाद्य नहीं है, अपितु विधेय है, अतः 'अलक्षिता जनिः' यह कहना चाहिए था । वाक्यगत यथा—

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः ।
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ॥
इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने ।
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥[6]

---

१. काव्यानुशासन, पृ० २४० ।
२. वही, पृ० २४० ।
३. वही, पृ० २४१ ।
४. वही, पृ० २४२ ।
५. वही, पृ० २४२ ।
६. वही, पृ० २४४ ।

यहाँ 'शाङ्कर' इस अनुवाद वाक्य के 'कुत्ता' आदि विशेष हैं । यहाँ शब्द रचना विपरीत करने से वाक्य-दोष ही है, वाक्यार्थ नहीं ।

विरुद्धमतिकृत्—पदगत यथा—

> गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
> सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥[1]

यहाँ अम्बिकारमण का अर्थ गौरीरमण विवक्षित है, किन्तु मातृरमण इस प्रकार विरुद्धबुद्धि उत्पन्न होने से दोष है । वाक्यगत यथा—

> अनुत्तमानुभावस्य परैरपिहितौजसः ।
> अकार्यसुहृदोऽस्माकमपूर्वास्तव कीर्तयः ॥[2]

यहाँ 'अकार्यों में मित्र' से बुरे कामों में मित्र तथा 'अपूर्व कीर्ति' में अपूर्वक कीर्ति अर्थात् अकीर्ति रूप विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने से दोष है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने प्रत्येक दोष के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । साथ ही प्राय प्रत्युदाहरणों का भी उल्लेख किया है । कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, जिनमें न दोष है और न गुण । मम्मट ने पदगत-दोष १३ माने हैं और उनमें क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् को मिलाकर १६ दोष समासगत माने हैं । इसी प्रकार १६ समासगत दोषों में से च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक इन तीन दोषों को छोड़कर शेष १३ दोष वाक्यगत माने हैं, किन्तु हेमचन्द्र ने इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है, अपितु उपर्युक्त आठ उभयदोषों को स्वीकार किया है, जो पद और वाक्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमश दिये हैं । हेमचन्द्र ने उक्त आठ उभयदोषों के अन्तर्गत ही मम्मटादि सम्मत अवाचकता आदि अन्य दोषों का समावेश किया है, जिस दोष को जिसके अन्तर्गत स्वीकार किया है, उसमें तत्-तत् दोषों के उदाहरण दिये हैं । हेमचन्द्र ने दोषों के अन्तर्भाव का यत्र-तत्र स्वोपज्ञ विवेक नामक टीका में भी उल्लेख किया है, जिससे विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है ।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने १५ उभय-दोषों का उल्लेख किया है—(१) ग्राम्य, (२) संदिग्ध, (३) कुत्सित, (४) अश्लील, (५) अप्रयोज्यार्थ (अनुचितार्थ) (६) अप्रयुक्त, (७) अवाचक, (८) जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील, (९) अमङ्गलव्यञ्जक अश्लील, (१०) व्रीडाव्यञ्जक अश्लील, (११) नेयार्थ, (१२) निहतार्थ, (१३) विरुद्धमति-

---

१. काव्यानुशासन, पृ० २६५ । २. वही, पृ० २६० ।

कृत्, (१४) अविमृष्टविधेयांश और (१५) संक्लिष्ट[1]। इनमें से ८ दोषों का विवेचन ऊपर हेमचन्द्र के प्रसंग में किया जा चुका है। जुगुप्सा, अमंगल और व्रीडाजनक इन तीनों को हेमचन्द्र ने एक अश्लील दोष के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार अप्रयुक्त में ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त और निहतार्थ तथा असमर्थ में संदिग्ध, अवाचक और नेयार्थ का अन्तर्भाव किया है, जिसके स्पष्टीकरण में निम्न कोष्ठक सहायक होगा।

हेमचन्द्र सम्मत उभयदोष	नरेन्द्रप्रभसूरि सम्मत उभयदोषों का अन्तर्भाव
अप्रयुक्त	ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त, निहतार्थ
अश्लील	जुगुप्साजनक, अमंगलजनक, व्रीडाजनक-अश्लील
असमर्थ	संदिग्ध, अवाचक, नेयार्थ
अनुचितार्थ	अयोग्यार्थ (अनुचितार्थ)
श्रुतिकटु	दुःश्रव
क्लिष्ट	संक्लिष्ट
अविमृष्टविधेयांश	अविमृष्टविधेयांश
विरुद्धमतिकृत्	विरुद्धमतिकृत्

नरेन्द्रप्रभसूरिकृत उभयदोषो के लक्षणों और उदाहरणों में कोई नवीनता नहीं है। हेमचन्द्र ने अप्रयुक्तादि दोषों का अन्तर्भाव करते समय प्रायः उन-उन दोषों के उदाहरणो का भी समावेश किया है। इस प्रसंग में नरेन्द्रप्रभसूरि के ऊपर हेमचन्द्र की अपेक्षा मम्मट का प्रभाव अधिक लक्षित होता है।

वाग्भट-द्वितीय ने निरर्थक आदि १६ शब्द-दोष माने हैं,[2] उनके अनुसार ये सभी शब्द-दोष पद और वाक्य में समान रूप से पाये जाते हैं, इनका उल्लेख पद-दोष के प्रसंग में किया जा चुका है। वाग्भट-द्वितीय ने इन दोषों को उभय-दोष जैसी संज्ञा से अभिहित नहीं किया है।

अर्थदोष

जब विभिन्न कारणो के द्वारा अर्थ दूषित हो जाता है, तब वह अर्थदोष कहलाता है। मम्मट ने २३ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम, (६) ग्राम्य, (७) संदिग्ध, (८) निर्हेतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, (१२) सनि-

---

१ अलंकारमहोदधि, ५।६-८।

२ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १९।

नियमपरिवृत्त, (१३) अनियम-परिवृत्त, (१४) विशेष-परिवृत्त, (१५) अविशेष-परिवृत्त, (१६) साकांक्ष, (१७) अपदयुक्त, (१८) सहचरभिन्न, (१९) प्रकाशितविरुद्ध, (२०) विध्ययुक्त, (२१) अनुवादायुक्त, (२२) त्यक्तपुनःस्वीकृत और (२३) अश्लील ।[1]

वाग्भट-प्रथम का अर्थदोषों के सम्बन्ध में मात्र इतना कहना है कि बिना किसी कारण के देश, काल, आगम, अवस्था और द्रव्यादि के विरुद्ध अर्थ का गुम्फन नहीं करना चाहिए ।[2] यथा—चैत्र मास के प्रारम्भ में विकसित कुटज पुष्पों की पंक्ति से मुस्कराती हुई दिशाओं में हिम-कण के सदृश उष्ण सूर्य के अति प्रचण्ड हो जाने पर मरुस्थल के सरोवर में जलक्रीडा के लिए आए हुए मद के कारण अन्ध हाथियों के बच्चों को विषम बाणों के प्रहार से योगीजन बेध रहे हैं ।[3] यहाँ वसन्त ऋतु में कुटज पुष्पों का फूलना कालविरुद्ध, सूर्य में हिम-कण के समान शीतलता द्रव्यविरुद्ध, मरुस्थल के सरोवर में जलक्रीडा देशविरुद्ध, हाथियों के बच्चों का मद के कारण अन्ध हो जाना अवस्थाविरुद्ध और योगीजनों द्वारा बाणों से हाथी मारना आगमविरुद्ध होने से दोष हैं ।

हेमचन्द्र ने अर्थदोषों के प्रसंग में प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है तथा २० अर्थ-दोषों को स्वीकार किया है—(१) कष्ट, (२) अपुष्ट, (३) व्याहत, (४) ग्राम्य, (५) अश्लील, (६) साकांक्ष, (७) संदिग्ध, (८) क्रमभ्रष्ट (दुष्क्रम), (९) पुनरुक्त, (१०) सहचरभिन्न, (११) विरुद्धव्यंग्य (प्रकाशित विरुद्ध), (१२) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१३) विद्याविरुद्ध, (१४) त्यक्तपुनरात्त, (१५) परिवृत्त-नियम, (१६) परिवृत्त-अनियम, (१७) परिवृत्त-सामान्य (१८) परिवृत्त-विशेष, (१९) परिवृत्त-विधि और (२०) परिवृत्त-अनुवाद ।[4] इनके लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार हैं—

कष्टार्थता—अर्थ का कष्टपूर्वक ज्ञान होना । यथा—

सदा मध्ये यासाममृतरसनिष्यन्दसरसं
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितरुचिरा यान्तु रुचयः ॥[5]

---

१. काव्यप्रकाश, ७।५५-५७ ।
२. वाग्भटालंकार, २।२७ ।
३. वही, २।२८ ।
४. काव्यानुशासन, ३।७ ।
५. वही, पृ० २६२ ।

अर्थात् जिन कवि-रश्मियों के प्रतिभा रूप प्रभावों के मध्य में बहुत कान्ति वाली—सुकुमार, विचित्र और मध्यम रूप मार्गत्रय वाली सरस्वती चमत्कार-पूर्वक प्रवाहित होती रहती है, वे कवि-रश्मियाँ सर्ग बंध लक्षण रूप महाकाव्याकाश में परिचय में आई हैं। अभिनेय (दृश्य) काव्य की भाँति किस प्रकार प्रसन्नता उत्पन्न करा सकती हैं तथा जिन सूर्य प्रभाओं के मध्य में विपथगा प्रवाहित होती हैं, वे (आदित्य-प्रभाएं) मेघ से परिचित होने वाली कैसे प्रसन्न हो सकती हैं ? यहाँ कष्टपूर्वक अर्थ की प्रतीति से दोष है।

अपुष्टार्थता—प्रकृति में अनुपयोगी होना। यथा—

तमालश्यामलं क्षारमत्यच्छमलिफेनिलम्।
फालेन लंघयामास हनूमानेष सागरम् ॥[1]

यहाँ 'तमालश्यामल' आदि के ग्रहण न करने पर भी प्रकृत अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा न होने से उक्त दोष है।

व्यहतार्थत्व—पूर्वापर अर्थ का घातक। यथा—

जहि शत्रुकुलं कृत्स्नं जय विश्वंभरामिमाम्।
न च ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिन ॥[2]

यहाँ विद्वेष के अभाव में शत्रुवध पूर्वापर विरुद्ध होने से उक्त दोष है।

ग्राम्यत्व—अविदग्धता (चातुर्य का अभाव)। यथा—

स्वपिति यावदयं निकटो जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम करं स्वकरेण रुरोध सा ॥[3]

यहाँ अविदग्धतापूर्ण अर्थ की प्रतीति होने से दोष है।

अश्लीलता—लज्जा आदि का व्यञ्जक अर्थ। यथा—

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥[4]

खल व्यक्ति में प्रयुक्त यह वाक्य पुरुष जननेन्द्रिय की प्रतीति कराता है। यहाँ अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ की ही अश्लीलता है।

---

१ काव्यानुशासन, पृ० २६१।
२ वही, पृ० २६२।
३ वही, पृ० २६२।
४ वही, पृ० २६२।

साकांक्षता—यथा—

> अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो ! प्रत्युत,
> द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
> उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः,
> स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥[1]

यहाँ 'स्त्रीरत्नं' के पश्चात् 'उपेक्षितु' इस पद की आकांक्षा रहती है । 'परस्य' का 'स्त्रीरत्नं' से सम्बन्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि 'परस्य' का सम्बन्ध 'उत्कर्ष' के साथ पहले हो ही चुका है । और जैसे—

> गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
> प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
> परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
> विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥[2]

यहाँ शस्त्र त्याग में [illegible] की आकांक्षा बनी रहने से दोष है । मम्मट ने निर्हेतु नामक एक पृथक् अर्थदोष माना है तथा उसी के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत पद्य को स्वीकार किया है । हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ विवेक टीका में लिखा है कि साकांक्षा में ही अन्तर्भाव हो जाने से निर्हेतु दोष को पृथक् नहीं कहा है ।

संदिग्धता—जहाँ संशय का हेतु उपस्थित हो । यथा—

> मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
> रम्या नितम्बा किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥[3]

यहाँ प्रकरण के अभाव में सन्देह होने से दोष है । शान्त अथवा शृङ्गार किसी एक का कथन करने पर निश्चय हो सकता है ।

अक्रमत्व—अभीष्ट अर्थ का पूर्व निर्देश करना क्रम है और उसका अभाव अक्रमत्व दोष । यथा—

> 'तुरगसमवा मातङ्गा वै प्रयच्छ मदालसम् ।'[4]

यहाँ 'मातङ्ग' का पहले निर्देश करना उचित था । अथवा क्रम के अनुल्लंघन का अभाव अक्रमत्व है । यथा—

> काराविऊण खउरं गामउडो मज्जिऊण जिमिऊण ।
> णक्खत्तं तिहिवारे जोइसिअं पुच्छिउं चलिओ ॥[5]

---

१. काव्यानुशासन, पृ० २६३ ।
२. वही, पृ० २६३ ।
३. वही, पृ० २६४ ।
४. वही, पृ० २६४ ।
५. वही, पृ० २६४ ।

पुनरुक्तत्व—एक ही अर्थ का दो बार कथन करना । यथा—

प्रसाधितस्याथ मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु ॥[1]

इस प्रकार कहकर एक ही अर्थ को पुन कहते हैं—

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
आनन्दिता शेषतया बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरेव लक्ष्मीः ॥[2]

यहाँ एक ही अर्थ का दो बार कथन होने से दोष है । कहीं पुनरुक्तता गुण हो जाती है । हेमचन्द्र ने गुण का उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

प्राप्ता श्रिय सकलकामदुघास्तत किं
दत्तं पद शिरसि विद्विषतां तत किम् ।
सम्प्रीणिता प्रणयिनो विभवैस्तत किं
कल्प स्थितं तनुभृतां तनुभिस्तत किम् ॥[3]

यह निर्वेद के वशीभूत (उदासीन) व्यक्ति का कथन होने से शान्त रस की पुष्टि करता है, अत यहाँ पुनरुक्तता गुण है, यह हेमचन्द्र का मत है ।[4] किन्तु मम्मट ने अनवीकृतत्व नामक एक अन्य अर्थदोष माना है तथा उसीके उदाहरण में यह पद्य प्रस्तुत किया है ।[5] अत यहाँ एक ही अर्थ का पुन-पुन कथन किया गया है, अत कोई नवीनता न होने से मम्मट के अनुसार अनवीकृतत्व दोष है ।

भिन्नसहचरत्व—उचित सहचर की भिन्नता । यथा—

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृति समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥[6]

यहाँ श्रुति-बुद्धि आदि उत्कृष्ट सहचरों से व्यसन-मूर्खता रूप निकृष्ट सहचर की भिन्नता भिन्नसहचरत्व दोष है ।

विरुद्धव्यंग्यत्व—विरुद्ध व्यंग्य का भाव । यथा—

---

१. काव्यानुशासन, पृ० २६४ ।
२. वही, पृ० २६४ ।
३. वही, पृ० २६७ ।
४ वही, पृ० २६७ ।
५ देखिये—काव्यप्रकाश, पृ० २३३ ।
६ काव्यानुशासन, पृ० २६७ ।

'कर्णे राजमृगाङ्कमुखा...... ।'[1] यहाँ 'लिखितं तेऽस्तु' (तुम्हें [illegible] होना चाहिए) इससे '[illegible] कोई नहीं है' [illegible] अर्थ की प्रतीति होने से दोष है ।[2]

प्रसिद्धिविरुद्धत्व—प्रसिद्धि से विरुद्ध कथन करना । यथा—

इदं ते [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
इदं [illegible] [illegible],
तव प्रीत्या [illegible] करकमलमूले विनिहितम् ॥[3]

यहाँ काम का चक्र लोक में अप्रसिद्ध होने से दोष है ।

विद्याविरुद्धत्व—कला, चतुर्वर्ग और शास्त्र विद्या हैं । गीत, नृत्य और चित्रकर्म आदि कलाएँ हैं । गीतविरुद्ध—यथा—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः,
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः,
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥[4]

यहाँ संगीतशास्त्रविरुद्ध कथन होने से गीतविरुद्ध (विद्याविरुद्ध) दोष है । उपर्युक्त के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने धर्मशास्त्रविरुद्ध, अर्थशास्त्रविरुद्ध, कामशास्त्रविरुद्ध और मोक्षशास्त्रविरुद्ध दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं ।[5]

त्यक्तपुनरात्तत्व—यथा—

'कर्णे राजमृगाङ्कमुखा...... ।' यहाँ 'लिखितं तेऽस्तु' इस प्रकार उपसंहार होने पर भी 'तेन' इत्यादि के द्वारा पुनः ग्रहण करने से दोष है ।[6]

---

१. कर्णे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] च [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] लिखितं तेऽस्तु [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥
—काव्यानुशासन, पृ० २११ से उद्धृत ।

२. काव्यानुशासन, पृ० २५७ ।
३. वही, पृ० २५० ।
३. वही, पृ० [illegible] ।
४. [illegible]—वही, पृ० [illegible] ।
५. वही, पृ० [illegible] ।
६. वही, पृ० २७१ ।

परिवृत्त-नियम—नियम के बिना वर्णन करना । यथा—

यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥[1]

यहाँ छाया मात्र से मणि बने हुए पत्थरों में उस मणि को पत्थर रूप में ही गणना करना उचित था, यह नियम होने पर उसका आभास यह अनियम कहा है, अत: परिवृत्तनियम दोष है ।

परिवृत-अनियम—नियम करते हुए वर्णन करना । यथा—

वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥[2]

यहाँ शोण यह अनियम वाच्य होने पर, 'शोण एव' यह नियम कहा है । अत: परिवृत्त-अनियम दोष है ।

परिवृत्त सामान्य—सामान्य की अपेक्षा विशेष वाचक शब्द का प्रयोग । यथा—

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकराकर ! मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम,
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥[3]

यहाँ 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इस सामान्य के वाच्य होने पर 'कौम्तुमेन' इस विशेष का कथन होने से परिवृत्तसामान्य दोष है ।

परिवृत्तविशेष—विशेष की अपेक्षा सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग । यथा—

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः,
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां स्मितम् ।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके,
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥[4]

---

१ काव्यानुशासन, पृ० २७१ ।
२ वही, पृ० २७१-२७२ ।
३. वही, पृ० २७२ ।
४ वही, पृ० २७२ ।

यहाँ 'ज्योत्स्नाभम्' इस विशेष के वाच्य होने पर 'स्मितम्' इस सामान्य का कथन करने से उक्त दोष है।

परिवृत्तविधि—विधि की अपेक्षा अनुवाद का कथन करना। यथा—

अरे रामाहस्ताभरण ! भसलश्रेणिशरण !
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन ! विरहिप्राणदमन ! ।
सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदलनीलोत्पलसखे !
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥[1]

यहाँ विधि के वाच्य होने पर 'विरहिप्राणदमन' रूप अनुवाद का कथन होने से परिवृत्तविधि दोष है।

परिवृत्त अनुवाद—अनुवाद की अपेक्षा विधि का कथन करना। यथा—

प्रयत्नपरिबोधित स्तुतिभिरद्य शेषे निशां,
अकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।
इयं परिसमाप्यते रणकथाद्य दोःशालिनां,
अपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥[2]

यहाँ 'शयित' इस अनुवाद के वाच्य होने पर 'शेषे' इस विधि का कथन करने से परिवृत्त-अनुवाद दोष है।

मम्मट ने २३ अर्थदोष माने हैं और हेमचन्द्र ने २०। मम्मट ने जिन अन्य तीन दोषों को माना है, उनके नाम हैं—निर्हेतु, अनवीकृतत्व और अपदयुक्तता। इनमें से हेमचन्द्र ने निर्हेतु का अन्तर्भाव साकांक्ष दोष में किया है। मम्मट ने अनवीकृतत्व का जो उदाहरण दिया है उस उदाहरण को हेमचन्द्र ने 'पुनरुक्त-दोष जहाँ गुण हो जाता है' का उदाहरण स्वीकार किया है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मटोल्लिखित २३ अर्थदोषों का ही विवेचन किया है।[3] उनके उदाहरण भी प्रायः काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से गृहीत हैं। विजयवर्णी ने २१ अर्थदोष माने हैं[4], उन्होंने मम्मट-सम्मत अनवीकृतत्व को नहीं माना है तथा विध्यनुवादविवृत्त को एक ही दोष माना है, जब कि मम्मट और हेमचन्द्र आदि ने परिवृत्तविधि एवं परिवृत्त-अनुवाद ये दो पृथक्-पृथक् दोष माने हैं।

---

१ काव्यानुशासन, पृ० २७२। २. वही, पृ० २७१।
३. देखिये—अलंकारमहोदधि, ५/२१–२४।
४. अलंकारचिन्तामणि, ५/२१७।

अजितसेन ने १८ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) एकार्थ (पुनरुक्त), (२) अपार्थ, (३) व्यर्थ, (४) भिन्नार्थ, (५) अपक्रम (दुष्क्रम), (६) परुषार्थ, (७) अलंकाररहित, (८) कालविरुद्धक्रम (प्रसिद्धिविरुद्ध), (९) हेतुशून्य (निर्हेतु), (१०) विरस, (११) सहचरभ्रष्ट, (१२) संशयात्मक (संदिग्ध), (१३) अश्लील, (१४) अतिमात्र, (१५) विसदृश, (१६) समताहीन, (१७) सामान्य साम्य और (१८) लोकादि-उक्तिविरुद्ध। इनमें से अपार्थ, व्यर्थ, भिन्नार्थ, परुषार्थ, अलंकारहीनता, विरस, अतिमात्र, विसदृश, समताहीन और सामान्य साम्य विशेष हैं, अतः इनके लक्षणोदाहरण इस प्रकार हैं—

अपार्थ—वाक्यार्थ से रहित। यथा—

दारा के मेरुस्तु क्रौ नद्य शुकास्तु के गजा ।[1]

यहाँ समुदाय रूप में कोई भी अर्थ पुष्ट न होने से दोष है। इसे मम्मट-सम्मत अपुष्टार्थ-दोष के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

व्यर्थ—प्रयोजन रहित वाक्यार्थ। यथा—

'शौर्याब्धिस्ते महान् अंग किमु चक्री न सेव्यते।'

यहाँ हे अंगदेशाधिपति ! तुम्हारा शौर्यसागर महान् है, यह स्तुति है और चक्री की सेवा क्यों नहीं करते ? यह उपदेश होने से उक्त दोष है।

भिन्नार्थ—परस्पर सम्बन्ध से रहित अर्थ वाला। यथा—

सत्यं नाराधितो धर्मो यदब्धिर्मणिभिर्भृत ।[2]

यहाँ धर्माराधना के अभाव और समुद्र की रत्न पूर्णता का कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः भिन्नार्थ दोष है।

परुषार्थ—अत्यन्त क्रूरता पूर्ण वाक्यार्थ। यथा—

'इमेऽपूपार्थिनो बाला क्षिप्यन्तां दावबह्निषु'।[3]

यहाँ 'अपूप माँगने वाले इन बच्चों को दावानल में फेंक दो' यह क्रूरतापूर्ण वाक्यार्थ होने से दोष है।

अलंकारहीनता—अलंकार रहित वाक्य। यथा—

दीर्घेणोत्थाप्यमानेन मेहनेन तुरङ्गम ।
पुच्छवलितलाङ्गूल बडवां क्लेशयत्यरम् ॥[4]

यहाँ प्रशंसनीय विशेषण का अभाव होने से स्वभावोक्ति अलंकार भी नहीं है। अतः अलंकारहीनता नामक दोष है।

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५/२३८।
२ वही, ५/२३९।
३. वही, ५/२४१।
४. वही, ५/२४२।

विरस—जहाँ अप्रस्तुत रस का कथन हो। यथा—

'[illegible] [illegible] ।'[1]

यहाँ अपने पति से वियुक्त [illegible] चक्रवर्ती के शत्रुओं की कान्ताओं का [illegible] करना विरसोत्पादक होने से दोष है।

अतिमात्र—सम्पूर्ण लोक में असम्भव। यथा—

'वैरिस्त्रीनयनाम्भोभिरसंख्याः सागराः कृताः'।[2]

यहाँ 'शत्रु-स्त्रियों के नयनाश्रुओं से असंख्य समुद्रों का भरना' असम्भव होने से उक्त दोष है।

विसदृश—जहाँ असमान उपमान हो। यथा—

'वडवानलवग्नोऽब्धिः शारदेन्दुरिव [illegible] ।'[3]

यहाँ वडवाग्नि से युक्त समुद्र की उपमा शरत्कालीन चन्द्रमा से देने के कारण विसदृश दोष है।

समताहीन और सामान्यसाम्य—जहाँ हीन अथवा उत्कृष्ट उपमान का प्रयोग किया गया हो, वहाँ क्रमशः समताहीन और सामान्यसाम्य दोष होते हैं।

'विद्या कुलीव ते भाति, यशो भूतिरिव [illegible]' ।[4]

यहाँ विद्या की तुलना कुलिया (हीन उपमान) से की गई है तथा [illegible] की भूति (उत्कृष्ट उपमान) से तुलना करने के कारण क्रमशः समताहीन और सामान्यसाम्य दोष हैं।

अजितसेन-सम्मत शेष अर्थदोष हेमचन्द्राचार्य-सम्मत तथा नामानुरूप लक्षण वाले हैं, अतः यहाँ उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

वाग्भट-द्वितीय ने १४ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) कष्ट, (२) अपुष्ट, (३) व्याहत, (४) ग्राम्य, (५) साकांक्ष, (६) [illegible], (७) [illegible], (८) अक्रम, (९) पुनरुक्त, (१०) सहचरभिन्न, (११) [illegible], (१२) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१३) विद्याविरुद्ध और (१४) निर्हेतु। इनके अतिरिक्त उन्होंने लिखा है कि परिवृत्तनियम, परिवृत्त-अनियम, परिवृत्तसामान्य, परिवृत्त-विशेष, [illegible] और [illegible] आदि दोष काव्यप्रकाश में कहे

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५।२४९।
२ वही, ५।२५०।
३ वही, ५।२५१।
४ वही, ५।२५२।
५ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २७।

जाने पर भी पूर्वोक्त दोषों में इनका अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इन्होंने (वाग्भट द्वितीय ने) उनका उल्लेख नहीं किया है।[1]

भावदेवसूरि ने ८ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) अपुष्टार्थ, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) विरुद्ध, (५) अनुचित, (६) ग्राम्य, (७) संदिग्ध और (८) पुनरुक्त।[2] यहाँ इन्होंने 'अनुचितार्थ' को भी अर्थदोष माना है, जबकि पूर्वाचार्यों ने अनुचितार्थ को पदगत दोष ही माना है।

उपर्युल्लिखित अर्थदोषों पर सम्यक् विचार करने से प्रतीत होता है कि सभी जैनाचार्यों ने प्राय आचार्य मम्मट को ही आधार मानकर दोष-निरूपण किया है, परन्तु विवेचन और उदाहरणों के क्षेत्र में उनकी विचार सूक्ष्मता और व्यापक पाण्डित्य परिलक्षित होता है।

रसदोष

आचार्य मम्मट आदि रसवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है, जिसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्'[3] यह काव्य का लक्षण किया है। यह धारणा न केवल मम्मट और विश्वनाथ की ही, अपितु बहुतेरे आचार्यों की है। रस का दूषित हो जाना काव्य के लिए महा अनर्थकारी है। अत रसदोषों के परिहार हेतु उनका ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

मम्मट ने १० प्रकार के रसदोषों का उल्लेख किया है—(१) व्यभिचारि-भावों, रसों और स्थायिभावों का स्वशब्द से कथन करना (स्वशब्द वाच्यता), (२) अनुभाव और विभाव की कल्पना पूर्वक अभिव्यक्ति, (३) रस के प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, (४) एक ही रस की पुन पुन दीप्ति, (५) अनवसर में रस का विस्तार, (६) अनवसर में रस का विच्छेद, (७) अग (रस) का अति-विस्तार, (८) अगी (रस) का भूल जाना, (९) प्रकृतियों का विपर्यय और (१०) अनग (अनुपयोगी रस) का कथन।[4]

---

१. परिवृत्तनियमानियमसामान्यविशेषविध्यनुवादाख्यः काव्यप्रकाशादावुक्ता अपि पूर्वोक्तेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यस्माभिर्नोक्ताः।
—काव्यानुशासन-वाग्भट, स्वोपज्ञ-अलंकारतिलकटीका, पृ० [illegible]।

२ काव्यालंकारसारसंग्रह, ३।१९।

३. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

४ काव्यप्रकाश, ७।६०-६२।

हेमचन्द्र ने ८ रसदोषों का उल्लेख किया है—(१) विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति, (२) एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति, (३) अनवसर में रस का विस्तार, (४) अनवसर में रस का विच्छेद, (५) अंग का अति विस्तार से वर्णन, (६) अंगी (रस) की विस्मृति (अननुसन्धान), (७) अनंग का वर्णन और (८) प्रकृति व्यत्यय।[1] इनका विवेचन निम्न प्रकार है—

विभावानुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति—विभाव यथा—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥[2]

यहाँ बेचैनी आदि अनुभाव करुण रस में भी सम्भव होने से कामिनी रूप विभाव की अभिव्यक्ति कष्टपूर्वक हो रही है। अनुभाव यथा—

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनी सा॥[3]

यहाँ उद्दीपन (चन्द्रमा) और आलम्बन रूप (नायिका) शृंगार योग्य विभाव, अनुभाव में पर्यवसित रूप में स्थित न होने से कष्टपूर्वक अभिव्यक्त हो रही है।

रस की पुनः पुनः दीप्ति—यथा—'कुमारसम्भव' में रति विलाप के अवसर पर। उपभुक्त रस अपनी सामग्री प्राप्त कर पुष्टि को प्राप्त पुनः पुनः उद्दीपित करने वाला मुरझाये कुसुम के समान वैरस्योत्पादक होता है।[4]

अनवसर में रसका विस्तार—यथा—'वेणीसंहार' के द्वितीय अंक में। उस प्रकार भीष्म आदि प्रमुख अनेक वीरों के युद्ध में नष्ट हो जाने पर धीरोद्धत प्रकृति वाले दुर्योधन का शृंगारवर्णन अनवसर में रस का विस्तार है।[5]

अनवसर में रस का विच्छेद—यथा—'रत्नावली' के चतुर्थ अंक में वत्सराज का। विजयवर्मा के वृत्तान्त को सुनने में रत्नावली के नाम को भी ग्रहण न करना। अथवा 'वीरचरित' के द्वितीय अंक में—राम और परशुराम के संवाद में वीररस के चरमोत्कर्ष पर 'मैं कंकण मोचन के लिए जाता हूँ'—इस प्रकार रामचन्द्र की उक्ति अनवसर में रस का विच्छेद होने से दोष है।[6]

---

१. [illegible]
[illegible]
—[illegible], ११३।
२. वही, पृ० १११। ३. वही, पृ० १५०।
४-६ वही, पृ० १५८-१५९।

अंग का अति विस्तार से वर्णन—यथा—'हयग्रीववध' में हयग्रीव (अंग) का विस्तार से वर्णन दोष है। इस प्रसंग में हेमचन्द्र ने अन्य अनेक ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत कर दोष दिखलाए हैं।[1]

अंगी की विस्मृति—यथा—'रत्नावली' के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका (अंगी) की विस्मृति दोष है, क्योंकि स्मृति सहृदयता का सर्वस्व है। यथा—'तापसवत्सराज' में छः अंकों में भी वासवदत्ता विषयक प्रेम-सम्बन्ध कथावशात् विच्छेद की आशंका होने पर भी निबद्ध किया गया है।[2]

अनंग का वर्णन—यथा—'कर्पूरमंजरी' में राजा द्वारा नायिका और अपने द्वारा किए गए वसन्त वर्णन की उपेक्षा कर बन्दियों द्वारा वर्णित वसन्त की प्रशंसा करना।[3]

प्रकृतिव्यत्यय—प्रकृति सात प्रकार की होती है—(१) दिव्या, (२) मानुषी, (३) दिव्यमानुषी, (४) पातालीया, (५) मर्त्यपातालीया, (६) दिव्यपातालीया (७) दिव्यमर्त्यपातालीया।[4]

वीर, रौद्र, शृंगार और शान्तरस प्रधान काव्यों में क्रमशः धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नायक होते हैं, ये चारों उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। जहाँ रति, हास्य, शोक और अद्भुत मानुषोत्तम प्रकृति की तरह दिव्यादि प्रकृतियों में भी निबद्ध करना चाहिए, किन्तु सम्भोगशृंगार रूप उत्तम देवता विषयक रति का वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका वर्णन पिता के सम्भोगवर्णन की तरह अत्यन्त अनुचित है। कुमारसंभव में जो शंकर और पार्वती के संभोग का वर्णन किया गया है, वह कवित्व शक्ति के तिरस्कार से अधिक दोषों से युक्त प्रतिभासित नहीं होता है।[5] क्रोध भी भ्रकुटि आदि विकार से रहित शीघ्र ही फल देने वाला निबन्धन करना चाहिए। यथा—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥[6]

स्वर्ग-पाताल गमन, समुद्र लंघन आदि के उत्साह का वर्णन मनुष्यों से भिन्न दिव्यादि प्रकृतियों में वर्णन करना चाहिए। मनुष्यों में जितना पूर्व चरित्र प्रसिद्ध है, अथवा उचित है, उतना ही वर्णन करना चाहिए। इससे अधिक (जो मनुष्यादि में संभव न हो) वर्णन करने पर असत्यता की प्रतीति होती है और

१-३ काव्यानुशासन, पृ० १७०-१७२। ४ वही, पृ० १७३-१७४।
५. वही, पृ० १७६-१७७। ६. वही, पृ० १७७।

'नायक की तरह व्यवहार करना चाहिए, प्रतिनायक की तरह नहीं' इस उपदेश से पर्यवसित नहीं होता है। इस प्रकार यहाँ भी प्रकृतियों का अन्यथा वर्णन प्रकृतिव्यत्यय है।[1]

तथा उचितम्, अर्थात् इन प्रकृतियों का उत्तम पात्रों के द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए, अधम के द्वारा नहीं, वह भी भूमि आदि में, स्वर्ग आदि में नहीं। भट्टारक सम्बोधन का प्रयोग (उत्तम के द्वारा) स्वर्ग-आदि में नहीं करना चाहिए। परमेश्वर सम्बोधन का प्रयोग मुनि आदि में नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से प्रकृतिव्यत्यय नामक दोष होता है। इसी प्रकार देश, काल और जाति आदि के वेष-व्यवहार आदि का समुचित रूप से ही वर्णन करना चाहिए।[2]

यद्यपि हेमचन्द्र ने उक्त ८ रसदोषों का उल्लेख किया है, जिनमें मम्मट-सम्मत रसादि की स्वशब्दवाच्यता और प्रतिकूलविभावादि का ग्रहण—इन दो रसदोषों का कथन नहीं किया गया है, तथापि उनके अन्य उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उन्हें उक्त दो रसदोष भी मान्य थे, जिसके समर्थन में निम्न सूत्र उल्लेखनीय है—

रसादेः स्वशब्दोक्तिः क्वचित्सञ्चारिणो दोषः।[3]

अबाध्यत्वे बाध्यत्वे नैरन्तर्येऽङ्गत्वे च विभावादिप्रातिकूल्यम्।[4]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने ५ रसदोषों का उल्लेख किया है—(१) रसों का अनौचित्यपूर्ण वर्णन, (२) अङ्गोत्कर्ष (अप्रधान रस का विस्तारपूर्वक विवेचन) (३) प्रधान रस की अपुष्टता (पुष्टि का अभाव), (४) प्रधान रस का आवश्यकता से अधिक विस्तार और (५) अंगी (प्रधान) रस को भुला देना।[5] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसदोष के प्रथम भेद 'रसों का अनौचित्यपूर्ण वर्णन' के विभावादि की प्रतिकूलता आदि अनेक प्रकारों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है, पुनः अन्य चार भेदों के लक्षणोदाहरण। इस प्रसंग में उनका कहना है कि शेष अङ्गोत्कर्ष आदि ४ रसदोष यथार्थ में अनौचित्य के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु केवल सहृदयों को अनौचित्य के अनेक भेदों का ज्ञान कराने के लिए सोदाहरण प्रतिपादन किया

---

१. काव्यानुशासन, पृ० १७७-१७८। २. वही, पृ० १७८-१७९।
३. वही, ३।११। ४. वही, ३।१२।
५. दोषोऽनौचित्यमङ्गोत्कर्षः प्रधानापुष्टिरतिविस्तरः। —हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१३।

है।[1] इसके साथ ही उन्होंने व्यभिचारिभाव, रस और स्थायिभाव को स्वशब्द ग्रहण करने को दोष मानने वाले मम्मटादि के मत का खंडन करते हुए यह व्यवस्था दी है कि विभावादि की पुष्टि होने पर व्यभिचारिभावादि को स्वशब्द ग्रहण करने पर भी दोष नहीं होता है।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥

इस पद्य में बेचैनी आदि अनुभाव शृङ्गार की तरह करुणादि में भी सम्भव हैं, अतः कामिनी रूप विभाव की प्रतीति यत्नपूर्वक होने से मम्मट ने विभाव की कष्टकल्पना रूप रसदोष माना है।[3] किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र उक्त पद्य में वाक्य दोष मानते हैं। उनका कहना है कि दो रसों में समान रूप से होने वाले विभावादि वाचक पदों की किसी एक नियत रस में विभावादि की कष्ट पूर्वक प्रतीति सन्दिग्धता रूप वाक्यदोष है।[4] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह कथन एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि[5] और विजयवर्णी[6] ने मम्मट-सम्मत ही १० रसदोषों का उल्लेख किया है। यद्यपि अजितसेन ने रसदोषों का विशेष उल्लेख नहीं किया है तथापि उनकी ओर संकेत अवश्य किया है। उन्होंने रस और भाव का स्वशब्द से ग्रहण दोष माना है।[7] इसी प्रकार अनुभाव की कष्टकल्पना अथवा प्रतिकूल अनुभाव आदि का ग्रहण करना भी दोष माना है।[8] पद्मसुन्दरगणि ने निम्न ५

१ अङ्गीप्रधानवधस्य दोषाः परमार्थतो अनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयाना-मनौचित्यमुत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः।
—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३२८।

२ केचित्तु व्यभिचारि-रस-स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ—'दूरादुत्सुकमागते' १' इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायम्।
—वही, पृ० ३२८-३२९।

३ काव्यप्रकाश, पृ० ३६०।

४. उभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाभिगमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव।
—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३२९।

५ अलंकारमहोदधि, ५।१८-२०।

६ शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।१७७-१८०।

७ अलङ्कारचिन्तामणि, ५।२५७। ८. वही, ५।२६०-२६१।

रसदोषों का स्वतन्त्र उल्लेख किया है—(१) अनौचित्य, (२) विरस, (३) दुःसन्धान, (४) नीरस और (५) पात्रदुष्ट ।[1]

उपर्युल्लिखित रसदोषों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों द्वारा निरूपित यह प्रकरण भी आचार्य मम्मट से पूर्ण प्रभावित है। हेमचन्द्र ने ८ रसदोषों का विवेचन किया है। शेष रसादि की स्वशब्दवाच्यता और प्रतिकूल विभावादि के ग्रहण रूप मम्मट-सम्मत दो अन्य रसदोषों को न मानने में कोई विशेष हेतु प्रस्तुत नहीं किया है। साथ ही उन्होंने अन्य प्रकार से उन दो दोषों को स्वीकार भी किया है, जिनका यथास्थान विवेचन किया जा चुका है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल ५ रसदोषों का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी मूल मान्यता यही है कि रसदोषों के प्रथम भेद अनौचित्य में ही अन्य सभी रसदोषों का अन्तर्भाव हो जाता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह मत निश्चय ही आनन्दवर्धन का प्रबल समर्थक है। क्योंकि आनन्दवर्धन भी—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्' इत्यादि के द्वारा रसदोषों के मूल में अनौचित्य को ही स्वीकार करते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि और विजयवर्णी मम्मट के उपजीव्य हैं। पद्मसुन्दरगणि का रसदोष विवेचन कोई विशेष नहीं है। अजितसेन ने रसादि की स्वशब्दवाच्यता और अनुभावादि की प्रतिकूलता रूप मात्र दो रसदोषों का उल्लेख किया है। शेष वाग्भट-प्रथम, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि आदि जैनाचार्यों ने रसदोषों का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि उन्हें रसदोष मान्य नहीं थे, उनके साथ अन्याय ही होगा।

इस प्रकार अब तक पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगतदोषों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार जैनाचार्यों ने सामान्यतः पूर्वाचार्यों को आधार मानकर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों का खण्डन करते हुए अपनी प्रबल युक्तियों द्वारा स्वमत का मण्डन भी किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि जैनाचार्यों द्वारा किया गया दोष विषयक यह प्रयास स्तुत्य है। अतः इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

दोष-परिहार :

उपर्युक्त दोषों में से कुछ दोष वक्ता आदि के औचित्य से दोषाभाव रूप या गुण बन जाते हैं। इसी को दोष-परिहार कहा गया है। यदि विस्तृत विवेचन किया जाए तो इसका कलेवर प्रायः दोष विवेचन के समान ही होगा। क्योंकि

1. द्रष्टव्य, हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१९२-९७।

जितने दोषों की गणना की गई है, उनमें से अधिकतर के अपवादस्थलों का भी हेमचन्द्रादि आचार्यों ने समावेश किया है। अतः यहाँ दोष-परिहार के सम्बन्ध में उनकी सामान्य मान्यताओं पर ही प्रकाश डालना उचित होगा।

आचार्य मम्मट ने दोष-परिहार विवेचन किया है, जिसमें उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता दोष नहीं होता है और अनुकरण में सभी श्रुतिकटु आदि दोषों की अदोषता संभव है। इसी प्रकार वक्ता आदि के औचित्य से दोष कहीं गुण हो जाते हैं तथा कहीं न दोष होते हैं और न गुण।[1]

जैनाचार्यों ने प्रायः मम्मट को आधार मानकर अपना दोष-परिहार विवेचन किया है। इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि अनुकरण करने पर निरर्थक आदि शब्द-अर्थ दोष नहीं होते हैं।[2] इसी प्रकार वक्ता, प्रतिपाद्य विषय, व्यंग्य, वाच्य और प्रकरण आदि की विशेषता के कारण दोष कहीं-कहीं न गुण होते हैं और न दोष[3] तथा कहीं वक्ता आदि की विशेषता होने पर दोष गुण हो जाते हैं।[4]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने लिखा है कि वक्ता आदि के औचित्य से दोष कहीं-कहीं गुण भी हो जाते हैं।[5] उन्होंने उदाहरणों द्वारा असंस्कार, निरर्थक, भग्नप्रक्रम, अक्रम, न्यूनता, संकीर्णता, गर्भितता, ग्रन्थिकष्टता, पतत्प्रकर्षता, त्यक्तप्रसिद्धि, पुनरुक्तपदन्यास, पदाधिक्य, ग्राम्यता, सन्दिग्धता, दुःश्रवता, अप्रतीत, अयोग्यादि, अप्रयुक्त और निहतार्थ, अश्लील, सवीत, विरुद्धमति और क्लिष्टता इन शब्ददोषों की गुणता[6], दुष्क्रम, पुनरुक्त, अश्लील और विमुक्तपुनरात्त इन अर्थदोषों की गुणता[7] तथा समाप्तिपुनरारम्भ, न्यूनता एवं दुःश्रवता इन अर्थदोषों की दोषाभावता[8] को प्रदर्शित किया है।

इसी प्रकार रसदोषों के परिहार प्रसंग में नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि विरुद्ध संचारिभाव आदि का बाध्यत्वेन कथन, विरुद्ध रसोंका भिन्न आश्रय में वर्णन, मध्य में रस का समावेश, स्मृति रूप में वर्णन अथवा अंगांगिभाव रूप में वर्णन आदि होने पर रसदोषों का निराकरण हो जाता है।[9] इस विवेचन में मम्मट का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

---

१ काव्यप्रकाश, ७।५९।
२. काव्यानुशासन, ३।८ सवृत्ति।
३ काव्यानुशासन, ३।९ सवृत्ति।
४. वही, ३।१० सवृत्ति।
५. अलंकारमहोदधि, ५।१७।
६. द्रष्टव्य, वही, पृ० १६३-१७५।
७ वही, पृ० १७५-१७६।
८ वही, पृ० १७७।
९ वही, ५।२१-२२।

विनयचन्द्र ने लिखा है कि—गुण, रस और अलंकार कहीं-कहीं दोष हो जाते हैं।[1] पुनः उन्होंने श्रुतिकटु, च्युत, नेयार्थ, असमर्थ, निरर्थक, पुनरुक्ति, अश्लील, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] दोषों के गुण हो जाने का सोदाहरण विवेचन किया है।[2] इस विवेचन में भी कोई विशेषता नहीं है।

अजितसेन ने भी कहीं-कहीं दोषों के गुण हो जाने का उल्लेख किया है, उन्होंने यमक, श्लेष और चित्र आदि काव्यों में तथा [illegible] आदि के विवक्षित होने पर क्लिष्ट, नेयार्थ, असमर्थ आदि दोषों को दोष नहीं माना है।[3] इसी प्रकार कामशास्त्र में लज्जा-अश्लील, वैराग्य में जुगुप्सा-अश्लील को तथा विस्मयादि में 'अहो' आदि पदों की पुनरावृत्ति को दोष नहीं माना है।[4]

वाग्भट-द्वितीय ने दोष-परिहार का पृथक् विवेचन नहीं किया है, अपितु दोष-विवेचन के प्रसंग में जहाँ उन्होंने आवश्यक समझा, वहाँ विवेचन किया है।[5]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों में सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने दोष-परिहार का विवेचन किया है, जो एक स्थान पर न होकर यत्र-तत्र उपलब्ध है। यह आचार्य मम्मट का अनुकरण मात्र है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी दोष-परिहार के प्रसङ्ग में मम्मट के ही मूल भावों को ग्रहण किया है, साथ ही उदाहरणों का भी प्रायः समान रूप से उल्लेख किया है। विनयचन्द्र का दोष-परिहार विवेचन अपने ढंग का निराला है तथा उदाहरण स्वरचित हैं, किन्तु हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि की अपेक्षा अपूर्ण है। अजितसेन और वाग्भट-द्वितीय का विवेचन सामान्य है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों का दोष-परिहार विवेचन परम्परा का निर्वाह मात्र होते हुए भी उनके अलंकारशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान की पूर्णता को सिद्ध करता है।

गुण-विचार :

काव्यशास्त्र में गुण तत्त्व का विशेष महत्त्व है और यही उसका एक विशिष्ट धर्म है। गुणों की नित्यता और अनित्यता को लेकर शास्त्र में काफी मतभेद रहा है। उद्भट जैसे आचार्य गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं

---

1. काव्यशिक्षा, [illegible]।
2. [illegible]।
3. [illegible]।
4. [illegible], वही, [illegible]।

मानते हैं।[१] जबकि उनके परवर्ती आचार्यों ने नित्यता और अनित्यता को लेकर गुणों और अलंकारों में भेद प्रदर्शन किया है तथा निष्कर्ष स्वरूप गुणों की कसौटी नित्यता और अलंकारों की कसौटी परिवर्तनशीलता स्वीकार की है। आचार्य वामन ने स्पष्ट लिखा है कि—काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और उनमें चमत्कार (अतिशय) पैदा करने वाले अलंकार हैं।[२] अर्थात् काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है, उनके अभाव में काव्य नहीं रह सकेगा, किन्तु अलंकारों के अभाव में भी काव्य रह सकता है। अग्निपुराणकार ने ठीक ही लिखा है कि—सौन्दर्यादि ललित गुणों के अभाव में स्त्रियों के शरीर पर जिस प्रकार हार भार स्वरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अलंकारों से युक्त, गुणरहित काव्य प्रीतिवर्धक नहीं होता है।[३]

आनन्दवर्धन ने गुणों को रस का धर्म स्वीकार किया है[४] तथा मम्मट ने उद्भट और वामन से पृथक् गुणों को रस के स्थिर (अचल) धर्म माना है। अतः उन्होंने गुण का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—आत्मा के शौर्यादि धर्मों की तरह काव्य में जो प्रधान रस के उत्कर्षाधायक तथा अचल स्थिति वाले होते हैं वे गुण कहलाते हैं।[५] ये हैं मम्मट और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की गुण-स्वरूप विषयक सामान्य मान्यताएँ। आगे जैनाचार्यों द्वारा गुण-स्वरूप के विषय में किये गये प्रयत्नों का मूल्यांकन किया जा रहा है।

---

१ उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।

—अलंकारसर्वस्व, पृ० १९।

समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः। —काव्यप्रकाश, पृ० ३८४।

२ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

—काव्यालंकारसूत्र, ३।१।१-२।

३. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १०।१।

४ ध्वन्यालोक, २।६।

५ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

—काव्यप्रकाश, ८।६६।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने रस का उत्कर्ष करने वाले कारणों को गुण कहा है। ये गुण उपचार से शब्द और अर्थ के भी उत्कर्षाधायक होते हैं।[1] उपचार से बीभत्स आदि रसों में कष्टत्वादि दोष गुण न हो सकेंगे। इसी प्रकार हास्य आदि रसों में अश्लीलत्व आदि दोष गुण न हो सकेंगे, क्योंकि गुणों का आश्रय रस ही है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि ने इस प्रसंग में लिखा है—जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार जो रस के आश्रित रहते हैं, अचल स्थित हैं, नित्य हैं तथा काव्य में वैचित्र्य के उत्पादक हैं, वे गुण कहलाते हैं।[3] इसी को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—जिस प्रकार प्राणी के शौर्य-धैर्य आदि गुण आत्मा के ही आश्रित रहते हैं (स्थूल अथवा कृशादि शरीर रूप) आकार के नहीं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस (रूप आत्मा) के ही आश्रित रहते हैं। ये गुण रस के ही धर्म हैं, वर्ण समूह के नहीं। यही अलंकारों से गुण का भेद है,[4] क्योंकि गुणों के अभाव में अलंकारों से युक्त रचना भी काव्य न हो सकेगी। कहा भी है—

> यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरपि यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
> अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥[5]

अर्थात् यदि यौवनशून्य स्त्री के शरीर की तरह गुणों से शून्य काव्यवाणी हो, तो निश्चय ही लोकप्रिय अलंकार भी धारण करने पर अच्छी नहीं लगती है।

विजयवर्णी, अजितसेन और वाग्भट-द्वितीय आदि ने गुण-स्वरूप पर विचार नहीं किया है। विजयवर्णी ने केवल गुणों की महत्ता प्रकट करते हुए लिखा है

---

१ रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः।
—काव्यानुशासन, १।१२।

२ यदि हि तयोः (शब्दार्थयोः) स्युस्तर्हि बीभत्सादौ कष्टत्वादयो गुणा न भवेयुः, हास्यादौ चाश्लीलत्वादयः। रस एवाश्रयः।
—वही, १।१२। वृत्ति।

३ शौर्यादिव ह्यात्मानं रसमेव श्रयन्ति ये।
गुणास्ते सहजाः काव्ये नित्या वैचित्र्यकारिणः॥
—अलंकारमहोदधि, ६।१।

४. वही, ६।१ वृत्ति। ५. वही, पृ० १८७।

कि—जिस प्रकार (शीलादि) गुणों से रहित रमणी संसार में सज्जनों द्वारा पूज्य नहीं होती है, उसी प्रकार निर्गुण काव्यप्रबन्ध भी महाकवियों द्वारा आदृत नहीं होता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक भरतादि आचार्यों ने गुणों का उल्लेख करने पर भी गुण-स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं किया है। काव्यनिष्ठ गुणों का आरम्भिक तथा व्यापक विवेचन आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में हुआ है और उस परम्परा को पुष्ट बनाने का श्रेय आचार्य वामन को प्राप्त है। आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में गुणों को काव्य का शोभाजनक और अलङ्कारों को शोभातिशय हेतु माना है। यह दृष्टि परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन और मम्मट को अभीष्ट नहीं है। आनन्दवर्धन का ही अनुसरण करते हुए मम्मट ने रस के उत्कर्षजनक तथा काव्य में स्थिर रूप से रहने वाले धर्मों को गुण माना है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र यहाँ मम्मट से प्रभावित प्रतीत होते हैं। मम्मट ने जो 'मुख्यार्थहतिर्दोष' और पुनः 'हेतिरपकर्ष' कह कर दोष स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उसी से प्रभावित होकर हेमचन्द्र ने अपकर्ष के विपरीत उत्कर्षाधायक तत्त्वों को गुण-स्वरूप का आधार मान लिया है। नरेन्द्रप्रभसूरि का गुण-स्वरूप यद्यपि आनन्दवर्धन और मम्मट के गुण-स्वरूप का मेल है तथापि यह बहुत सुन्दर बन पड़ा है। यदि यह कहा जाय कि गुण के लिए आवश्यक और पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत सभी उत्कृष्ट तत्त्वों को ग्रहण कर नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण-स्वरूप का निरूपण किया है तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि इनका प्रतिपादन अनूठा है। शेष अन्य परवर्ती जैनाचार्यों ने गुणों का विवेचन तो किया है, किन्तु गुण-स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है।

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुण को आत्मभूत रस के धर्म के रूप में ही इन सभी आचार्यों ने माना है और रस की मुख्यता मानने पर स्वाभावतः शब्द और अर्थ में गुण की स्थिति औपचारिक ही सिद्ध होती है। इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र के विचार मम्मट के ही समान गम्भीर तथा प्रौढ़ हैं।

---

१ निर्गुणा रमणी लोके यथा सहृदयैर्न पूज्यते।
निर्गुणं काव्यबन्धोऽपि तथा [illegible] [illegible] ॥

—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ५/२।

गुण-भेद :

भरत मुनि ने सर्वप्रथम दस गुणों का उल्लेख किया है—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) पदसौकुमार्य, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता और (१०) कान्ति।[1] इन्हीं का अनुसरण करते हुए दण्डी[2] और वामन[3] ने भी दस गुणों का उल्लेख किया है, जिनके नाम भरत निर्दिष्ट ही हैं। इनके अतिरिक्त वामन ने १० अर्थगुणों का भी उल्लेख किया है, जिससे उनके मतानुसार गुणों की संख्या २० है। इन १० अर्थगुणों के नाम तो वही हैं, जो शब्दगुणों के हैं, किन्तु इनके स्वरूप में अन्तर है। इस प्रकार दण्डी को पूर्णरूपेण एवं वामन को आंशिक रूप में भरत का अनुयायी कहा जा सकता है। दूसरी परम्परा में वे आचार्य हैं, जिन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का उल्लेख किया है। इन तीन गुणों का सर्वप्रथम संकेत सम्भवतः भामह ने किया है,[4] किन्तु वह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वह इतना संक्षिप्त है कि इससे भामह क्या कहना चाहते हैं, यह भी स्पष्ट नहीं होता है। आनन्दवर्धन ने तीन गुणों का विवेचन किया है,[5] जो स्पष्ट और युक्तियुक्त है। अतः तीन गुणों के विवेचन का सम्पूर्ण श्रेय आनन्दवर्धन को मिलता है। आचार्य मम्मट ने न केवल तीन गुणों का उल्लेख ही किया है, अपितु वामन-सम्मत शब्द और अर्थगुणों का खण्डन कर तीन गुणों में उक्त गुणों का समावेश भी किया है, जिसमें कहा गया है कि (वामनादि सम्मत १० गुणों में से) कुछ गुण दोषाभाव रूप हैं, कुछ दोषरूप हैं और शेष का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन गुणों में ही हो जाता है, अतः गुणों की संख्या तीन है, दस नहीं।[6] तीसरी परम्परा[7] में वे समस्त आचार्य आते हैं,

---

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
—नाट्यशास्त्र, १७।९६।

२. काव्यादर्श, १।४१। ३. काव्यालंकारसूत्र, ३।१।४।
४. काव्यालंकार-भामह, २।१-३। ५. ध्वन्यालोक, २।८-१०।
६. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥
—काव्यप्रकाश, ८।७२।
७. [illegible] गुण [illegible] आचार्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया है।
—[illegible], भारतीय काव्यशास्त्र कोश, पृ० [illegible]।

जिन्होंने १० अथवा ३ से हीनाधिक गुणों का उल्लेख किया है। इनमें अग्नि-पुराणकार भोज तथा हेमचन्द्र और जयदेव द्वारा उल्लिखित अज्ञात आचार्य हैं। अग्निपुराणकार ने गुणों की संख्या १८ मानी है,[1] जो शब्द, अर्थ और उभयगुणो में विभाजित है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त उभय गुणों की अग्निपुराणकार की अपनी कल्पना है। भोज ने सामान्यतः गुणों की संख्या २४ मानी है[2] जिनमें उक्त भरत सम्मत १० गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, और्जित्य, प्रेय, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, संमितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि ये १४ गुण हैं। पुनः प्रत्येक को बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक में विभाजित कर भोज ने गुणों की कुल संख्या ७२ स्वीकार की है, जो अन्य आचार्यों की अपेक्षा सर्वाधिक है। हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित अज्ञातनामा आचार्य के अनुसार गुणों की संख्या ५ है—ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य।[3] इसी प्रकार जयदेव ने जिन अज्ञातनामा आचार्य का उल्लेख किया है उनके अनुसार गुणो की संख्या ७ है—न्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिति, शास्त्रान्तररहस्योक्ति और संग्रह।[4]

जैनाचार्यों में सर्वप्रथम वाग्भट-प्रथम ने दस गुणों का विवेचन किया है,[5] जो भरत मुनि सम्मत हैं। प्रत्येक का सोदाहरण स्वरूप निम्न प्रकार है।

औदार्य—अर्थ-सौन्दर्य के सूचक पदों के साथ वैसे ही अन्य पदों का मेल।[6] यथा—

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम्।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ।।[7]

यहाँ इभ, कमल और गिरि शब्दों का क्रमशः गन्ध, लीला और क्रीडा शब्दों के साथ मेल होने से अर्थसौन्दर्य बढ़ जाता है, अतः औदार्य नामक गुण है।

समता और कान्ति—रचना की अविषमता (अनुकूलता) समता है और रचना की उज्ज्वलता कान्ति।[8] समता यथा—

---

१ अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १०।५-६, १२।१८-१९।
२ सरस्वतीकण्ठाभरण, १।६०-६५। ३. काव्यानुशासन, ४।१ विवेकवृत्ति।
४ चन्द्रालोक, ४।१२। ५-८. वाग्भटालंकार ३।२-४।

कुचकलशविसारिस्फारहारावलीयं
मधुकरति नवश्यामाङ्गी हारवल्ली ।
असदृशमहिमानं ताम्यन्तीमनेन
कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥[१]

यहाँ कुच के साथ कलश और विसारि के साथ स्फार आदि अविषम पदों का प्रयोग होने से समता गुण है । कान्ति यथा—

फलैः कन्दाहारः प्रथममपि निर्मोक्ष्य वपुषा-
मनासक्तं सौख्ये क्वचिदपि पुरा कर्मणि कृती ।
तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलवती-
रमण्डैः खण्डेन्दोरिव रमकृत पादाम्बुजनती ॥[२]

यहाँ विसन्धि न होने तथा विसर्ग का लोप न होने से समास रहित रचना उज्ज्वलता की प्रतीक है, अतः कान्ति नामक गुण है ।

अर्थव्यक्ति—अन्य पदों के अध्याहार आदि के बिना ही अर्थ की अभिव्यक्ति । यथा—

त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूदिवा[३] ।

यहाँ सूर्यास्त होने पर रात्रि के आगमन रूप अर्थ की अभिव्यक्ति बिना प्रयास के ही होने से अर्थव्यक्ति नामक गुण है ।

प्रसन्नता—शीघ्र ही अर्थ का बोध होना । यथा—

'कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ।'[४]

यहाँ भगवान् जिनेन्द्रदेव कल्पवृक्ष की भाँति इच्छित वस्तु को प्रदान करने वाले सुशोभित होते हैं । इस अर्थ का बोध शीघ्र ही होने से प्रसन्नता नामक गुण है ।

समाधि—अन्य का गुण अन्यत्र स्थापित करना । यथा—

'शत्रुस्त्रीणामश्रुभिः राज्ञः पल्लवितं यशः ।'[५]

शत्रु की स्त्रियों के आँसुओं से राजा का यश पल्लवित हो गया । यहाँ वृक्षादि के (पल्लवन रूप) गुण का राजा के यश में सन्निवेश किया गया है, अतः समाधि गुण है ।

१-५. वाग्भटालंकार ३।५-१० ।

श्लेष और ओज—अनेक पदों का परस्पर गुम्फित होना श्लेष है और समास का बाहुल्य ओज । ओज गद्य निबन्धन में अति सुन्दर मालूम होता है ।[1] श्लेष यथा—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-
र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम् ।
तरोर्मूलच्छद्माङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिता-
श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे ॥[2]

यहाँ समस्त पद एक सूत्र में गुँथी गई मणियों के सदृश परस्पर गुम्फित हैं, अतः श्लेष गुण है । ओजो यथा—

समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरःसरससिन्दूरपूरपरिचयेनेवारुणितकरतलो देव ।[3]

यहाँ समास बाहुल्य होने से ओजोगुण है ।

माधुर्य और सौकुमार्य—सरस अर्थ के बोधक पदों का प्रयोग माधुर्य गुण है और कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग सौकुमार्य गुण ।[4] माधुर्य यथा—

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चन्निचोल
कुचकलशनिधानस्येव रक्षाधिकारी ।
उरसि विषधरहारस्फारतामुज्जिहान
किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्या ॥[5]

यहाँ शृंगाररस के अनुकूल सरस अर्थ के बोधक पद होने से माधुर्य गुण है । सौकुमार्य यथा—

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव ! त्वदीयः करवाल एषः ।
नो चेदनेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥[6]

यहाँ कोमल-कान्त-पदावली होने से सौकुमार्य गुण है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने केवल तीन गुणों का उल्लेख किया है—माधुर्य, ओज और प्रसाद ।[7] इन्होंने भरत और वामन आदि सम्मत दस गुणों का खण्डन

१-२ वाग्भटालंकार, ३।११-१२ ।
३. वाग्भटालंकार, ३।१३ ।
४ वही, ३।१४ ।
५. वही, ३।१५ ।
६ वही, ३।१६ ।
७ काव्यानुशासन, ४।१ ।

विवेक टीका में विस्तार पूर्वक खण्डन किया है[1] तथा किन्हीं अज्ञातनामा आचार्य-सम्मत ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य नामक पाँच गुणों का भी खण्डन किया है।[2] इसी प्रकार जो कुछ लोग छन्द विशेष के आधार पर गुणों की शोभा मानते हैं, यथा—स्रग्धरादि छन्दों में ओजोगुण आदि,[3] इसका भी खण्डन किया है। हेमचन्द्र के अनुसार गुणों का विवेचन निम्न प्रकार है—

माधुर्य—यह (सम्भोग) शृंगार में द्रुति का हेतु है। शृंगार के अङ्गभूत हास्य और अद्भुत आदि रसों में भी माधुर्य गुण होता है। यह शान्त, करुण और विप्रलम्भशृंगार में अत्यन्त द्रुति का कारण होने से चमत्कारोत्पादक होता है। इसमें अपने वर्ग के अन्तिम (पञ्चम) वर्ण से युक्त, टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ) रहित, ह्रस्व रकार और णकार से युक्त, समास रहित अथवा अल्प समास वाली और मृदु रचना माधुर्य गुण की व्यञ्जक होती है।[4] यथा—

शिञ्जानमञ्जुमञ्जीराश्चारुकाञ्चनकाञ्चयः।
कङ्कणाङ्कभुजा भान्ति जितानङ्ग तवाङ्गना ॥[5]

प्रस्तुत रचना में अधिकतर वर्ग के पञ्चम वर्णों का प्रयोग किया गया है। अतः यह रचना माधुर्य-गुण की व्यञ्जक है, किन्तु इससे भिन्न टवर्गादि से युक्त रचना माधुर्यगुण की व्यञ्जक नहीं होती है। यथा—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठया क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥[6]

---

१ द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, ४।१। विवेक टीका।

२ ओजः प्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पञ्चेत्यपरे। तथा हि—यदवशित-विच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः, आरोहावरोहतरङ्गिणि पाठे माधुर्यम्, ससौष्ठवमेव स्थाने पठतामौदार्यम्, अनुच्चनीचं पठतां साम्य-मिति। तदिदमलीकं कल्पनातल्पम्। यद्विषयविभागेन पाठनियमः स कथं गुणनिमित्तमिति।

—वही, ४।१। टीका।

३ छन्दोविशेषनिवेश्या गुणसम्पत्तिरिति केचित्। तथा हि। स्रग्धरादिष्वोजः।

—वही, ४।१। विवेक टीका।

४ वही, ४।२-४। ५ वही, पृ० २८९।

६ वही, पृ० २९०।

यहाँ शृङ्गार रस के प्रतिकूल वर्णों की समायोजना होने से माधुर्य गुण नहीं है। इसी प्रकार—

बाले मालेयमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानां।
किं त्वं पक्ष्मान्तवान्तैर्मलिनयसि मुधा वक्त्रमश्रुप्रवाहै ॥
एषा प्रोद्वृत्तमत्तद्विपकटकषणक्षुण्णवन्ध्योपलाभा।
दावाग्नेर्व्योम्नि लग्ना मलिनयति दिशा मण्डलं धूमलेखा ॥[1]

यहाँ दीर्घ समास से युक्त, परुष वर्णों वाली रचना विप्रलम्भ शृङ्गार के विरुद्ध है।

ओजस्—चित्त की दीप्ति (विस्तार) में हेतु ओजोगुण कहलाता है। यह वीर की अपेक्षा बीभत्स और बीभत्स की अपेक्षा रौद्ररस में क्रमशः अधिक दीप्तिकारक होता है। वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों का क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के साथ योग, नीचे-ऊपर अथवा दोनों जगह किसी भी वर्ण के साथ रेफ का संयोग, समान वर्णों का संयोग, णकार रहित टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ), श, ष का संयोग और दीर्घ समास वाली कठोर रचना ओजोगुण की व्यञ्जक है।[2] यथा—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥[3]

यहाँ उक्त प्रकार के वर्णों की संरचना और दीर्घ समास आदि के होने से ओजोगुण की अभिव्यक्ति हो रही है, किन्तु इससे विपरीत वर्णों वाली रचना ओजोगुण की व्यञ्जक नहीं होती है। यथा—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः।
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ॥
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरुण्यस्त्राणि भास्वन्ति नो।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः ॥[4]

यहाँ उक्त प्रकार के वर्णों का अभाव है तथा समास-रहित अनुद्धत-रचना होने से ओजोगुण विरुद्ध है।

---

१ काव्यानुशासन, पृ० २९०। २ वही, ४।५।
३ वही, पृ० २९१। ४ वही, पृ० २९१।

प्रसाद—चित्त में सहसा व्याप्त होने वाला प्रसादगुण है, यह समस्त रसों में पाया जाता है। इसमें सुनने मात्र से अर्थ का ज्ञान कराने वाले वर्णों अथवा समास से युक्त रचना प्रसादगुण की व्यञ्जक होती है[1]। यथा—

दातारो यदि कल्पशाखिभिरलं यद्यर्थिनः किं तृणैः,
सन्तश्चेदमृतेन किं यदि खलास्तत्कालकूटेन किम्।
किं कर्पूरशलाकया यदि दृशः पन्थानमेति प्रिया,
संसारेऽपि सतीन्द्रजालमपरं यद्यस्ति तेनापि किम्॥[2]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने वामन-सम्मत दस शब्दगुणों[3] और दस अर्थगुणों[4] का खण्डन करके मम्मट और हेमचन्द्रादि सम्मत माधुर्यादि तीन गुणों की स्थापना

---

१ काव्यानुशासन, ४।७-८। २ वही, पृ० २९२।

३ गाढबन्धत्वमोजः।—काव्यालंकारसूत्र ३।१।५।
शैथिल्यं प्रसादः।—वही ३।१।६।
मसृणत्वं श्लेषः।—वही, ३।१।११।
मार्गाभेदः समता।—वही, ३।१।१२।
आरोहावरोहक्रमः समाधिः।—वही, ३।१।१३।
पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।—वही, ३।१।२१।
अजरठत्वं सौकुमार्यम्।—वही, ३।१।२२।
विकटत्वमुदारता।—वही, ३।१।२३।
अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः।—वही, ३।१।२४।
औज्ज्वल्यं कान्तिः।—वही, ३।१।२५।

४ अर्थस्य प्रौढिरोजः।—वही, ३।२।२।
अर्थवैमल्यं प्रसादः।—वही, ३।२।३।
घटना श्लेषः।—वही, ३।२।४।
अवैषम्यं समता।—वही, ३।२।५।
अर्थदृष्टिः समाधिः।—वही, ३।२।७।
उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।—वही, ३।२।११।
अपारुष्यं सौकुमार्यम्।—वही, ३।२।१२।
अग्राम्यत्वमुदारता।—वही, ३।२।१३।
वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।—वही, ३।२।१४।
दीप्तरसत्वं कान्तिः।—वही, ३।२।१५।

की है[1]। उनका कहना है कि वामन ने जो समासरहित पदों वाली रचना को माधुर्य गुण कहा है, वह 'अस्त्युत्तरस्याम्' इत्यादि पद्य में विद्यमान है, पुनः उसे अर्थश्लेष का उदाहरण प्रस्तुत कर अर्थश्लेष को अलग से गुण मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार रचना की अकठोरता रूप शब्दसौकुमार्य, कोमलकान्त-पदावली रूप अर्थसौकुमार्य, अर्थ का दर्शन रूप अर्थसमाधि और घटना का श्लेष रूप अर्थ-श्लेष नामक जो गुण है, इनका हमें जो माधुर्य गुण का स्वरूप अभीष्ट है, उसमें अन्तर्भाव हो जाता है।[2] अतः उक्त गुणों को पृथक्-पृथक् मानना ठीक नहीं है।

रचना की गाढता ओज नामक शब्दगुण, अर्थ की प्रौढि ओज नामक अर्थ-गुण, अनेक पदों का एक पद के समान दिखाई देना शब्दश्लेष, आरोह और अवरोह का क्रम शब्दसमाधि, बन्ध की विकटता उदारता नामक शब्दगुण, बन्ध की उज्ज्वलता कान्ति नामक शब्दगुण और रचना में रसों की दीप्ति कान्ति नामक अर्थगुण कहलाता है। (इन गुणों के मूल में चित्त के विस्तार रूप दीप्ति विद्यमान है, जो ओजोगुण का स्वरूप है अतः) इनका अन्तर्भाव ओजोगुण में हो जायेगा।[3]

ओजोगुण मिश्रित रचना की शिथिलता प्रसाद नामक शब्दगुण, अर्थ स्पष्टता रूप प्रसाद नामक अर्थगुण, शीघ्र ही अर्थ का बोध कराने वाली रचना अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण और जो रचना वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट रूप से विवेचन कराये वह अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण कहलाता है। इनका अन्तर्भाव हमें अभीष्ट (शीघ्र ही अर्थ प्रकाशन रूप) लक्षण वाले प्रसादगुण में हो जाता है।[4]

काव्य में निबद्ध रचना शैली का अन्त तक परित्याग न करना समता नामक शब्दगुण, प्रक्रम का अभेद रूप अविषमता नामक अर्थगुण और रचना में ग्राम्यता का अभाव उदारता नामक अर्थगुण कहलाता है। समता और उदारता ये दोनों क्रमशः भग्नप्रक्रम और ग्राम्यदोष का अभाव मात्र हैं।[5] इस प्रकार वामन ने जो दस शब्दगुण और दस अर्थगुण माने हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनका माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। पुनः नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वसम्मत माधुर्यादि तीन गुणों का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया है, इन्होंने जहाँ प्रत्येक गुण का उदाहरण प्रस्तुत किया है, वहीं हेमचन्द्र की तरह उसका प्रत्युदा-हरण भी प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही रसों में गुणों की तरतमता तथा गुणों

---

१ गुणाश्चान्ये जगुः शब्दगतान् दश दशार्थगान्।
माधुर्यौजःप्रसादास्तु सम्मतास्त्रय एव नः ॥—अलंकारमहोदधि, ६।३।
२-५ वही, ६।४-१४।

के व्यञ्जक वर्ण-विशेषो का भी निर्देश किया है।[1] इस प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण विषयक सभी अङ्गों पर सूक्ष्म रीति से विचार किया है।

विजयवर्णी ने सुकुमारत्व आदि भरत-सम्मत दस गुणों का उल्लेख किया है।[2] पुन प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया है।[3] अजितसेन ने भोज-समस्त २४ काव्यगुणों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्लेष, (२) भाविक, (३) सम्मितत्व, (४) समता, (५) गाम्भीर्य, (६) रीति, (७) उक्ति, (८) माधुर्य, (९) सुकुमारता, (१०) गति, (११) समाधि, (१२) कान्ति, (१३) और्जित्य, (१४) अर्थव्यक्ति, (१५) उदारता, (१६) प्रसदन, (१७) सौक्ष्म्य, (१८) ओज, (१९) विस्तार, (२०) सूक्ति, (२१) प्रौढ़ि, (२२) उदात्तता, (२३) प्रेयान् और (२४) सक्षेपक है।[4] इनमे दस गुण तो भरत-सम्मत ही हैं, शेष १४ गुणो के लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार है

भाविक—वाक्य का भाव (श्रद्धा) से युक्त होना। यथा—

तात नाथ रथाङ्गेश विनीतानगरीपते।
लवणाम्बुधिमेत त्व पश्य पश्य महामते॥[5]

यहाँ प्रीतिवशात तात और नाथ आदि की आवृत्ति होने से भाविक गुण है।

सम्मितत्व—जिसमे जितने पद हों, उसमें उतने ही अर्थों का होना। यथा—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावन्ति सतत भक्त्या त्रि परीत्य नमाम्यहम्॥[6]

इस गुण की कल्पना न्यूनाधिक पदो की निवृत्ति हेतु की गई है।

गाम्भीर्य—व्यंग्यार्थ से युक्त होना। यथा—

चन्द्रस्य निष्फलस्याक्ष्णोर्गोळस्य कुलभूभृताम्।
नीचै किं करणेनेति पृष्टस्त्वक्षो विरञ्चिना॥[7]

यहाँ मुख्यार्थ से पृथक् प्रतीयमान व्यंग्यध्वनि है।

रीति—प्रारब्ध का निर्वाह। यथा—

समस्तदु पटच्छन्नजगदुद्योतहेतवे।
जिनेन्द्रांशुमते तन्वत्प्रभाभाभारभासिने॥[8]

इस गुण की कल्पना पतत्प्रकर्षदोष के परिहार हेतु की गई है।

---

१ अलकारमहोदधि, ६।१५-२८। २ श्रृंगारार्णवचन्द्रिका ५।४।
३ वही, ५।६-३०। ४ अलकारचिन्तामणि, ५।२६९।
५ वही, ५।२७३। ६. वही, ५।२७४।
७ वही, ५।२७८। ८ वही, ५।२७९।

उक्ति—विदग्धों की कथन शैली। यथा—

राजस्ते कमलासक्तिमिवत्तवृत्ते समीक्षिता।
भास्वकाऽपि त्वया वाक्कुमुदाभासनं कृतम्॥[1]

इसकी कल्पना अश्लील दोष के परिहारार्थ की गई है।

गति—जहाँ स्वर के आरोह (चढाव) और अवरोह (उतार) दोनों सुन्दर हों। यथा—

सारा वाणी पुरुजिनपतेर्नाकिनाथाभिपूज्या
हीना दोषैरुरुनययुता मोक्षमार्गावभासा।
यच्छ्रमप्रकटनमयप्रस्फुरच्छुद्धमुक्ति
तत्त्वज्ञप्ति नयतु सकल भव्यवृन्द विगवम्॥[2]

यहाँ पूर्वार्ध में दीर्घाक्षरो का प्राचुर्य होने से स्वर का आरोह है और उत्तराध में ह्रस्वाक्षर होने से स्वर का अवरोह है, अत गतिनामक गुण है।

औजित्य—रचना की गाढ बन्धता। यथा—

वन्दारुवृन्दपरिघट्टविलोलिताक्ष वृन्दारकेश्वरकिरीटतटावकीर्णं।
मन्दारपुष्पनिवहैर्विहितोपहार वन्दामहे जिनपते पदपद्मयुग्मम॥[3]

इस गुण की कल्पना विसन्धि की निवृत्ति हेतु की गई है।

सौक्ष्म्य—शब्दों का अन्दर ही अन्दर वार्तालाप सा होना। अर्थात एक अर्थ का ज्ञान होने के बाद भी दूसरे गूढार्थ की प्रतीति होना। यथा—

णश्रीञपूज्नम कर्मण्यत्र वृत्ता न कर्तरि।
जिने णिज्ञाभिद कर्तर्येव कर्मणि नो मता.॥[4]

व्याकरण के नियमानुसार णू (स्तवने), श्रीञ् (श्रयणे), पूज (पूजायाम) और नम् (स्तवने) धातुए कर्मवाच्य का ज्ञान कराने के लिए प्रत्ययो का ग्रहण करती हैं, कर्तृवाच्य में नही। इसी प्रकार णि (प्रापणे), ज्ञा (अवगमने) और भिद् (विदारणे)—ये धातुए कर्तृवाच्य में ज्ञान कराने हेतु प्रत्ययो को ग्रहण करती हैं, कर्मवाच्य में नही।

भगवान् जिनेन्द्रदेव स्तवन करने योग हैं आश्रय ग्रहण करने योग्य हैं, पूजा करने योग्य हैं, नमस्कार करने योग्य हैं, अर्थात् उनका स्तवन करना चाहिए,

---

१ अलङ्कारचिन्तामणि, ५।२८१। २ वही, ५।२८७।
३ वही, ५।२९१। ४ वही, ५।३००।

आश्रय ग्रहण करना चाहिए, पूजा करनी चाहिए और नमस्कार करना चाहिए। इस प्रकार नही कि वे दूसरे का स्तवन करते हैं, आश्रय ग्रहण करते हैं, पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं। वे तत्त्वो का उपदेश देते हैं, सब कुछ जानते हैं और कर्मरूपी पर्वत का भेदन करते हैं। यहाँ इस गूढ अर्थान्तर का ज्ञान कराने से सौक्ष्म्य गुण है।

विस्तार—कहे गये अर्थ के समर्थन हेतु विस्तार से विवेचना करना। यथा—

अभिषेक्तु पुरु दृष्टुमिन्द्र एक क्षमो जिनम्।
यद्बाहव सहस्र यन्नेत्राण्यपि महोत्सवे ॥[1]

सूक्ति—सुप और तिङ् प्रत्ययों का उत्तम ज्ञान सुशब्दता अथवा सूक्ति है। यथा—

कवीना गमकाना च वादिना वाग्मिनामपि।
यश सामन्तभद्रीय मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥[2]

यहाँ कवि, गमक, वादि और वाग्मी में कवि ने कुशलता के साथ आम् (सुप्) प्रत्यय तथा चूडामणि में त (तिङ्) प्रत्यय का प्रयोग किया है, अत यहाँ सूक्ति (सुशब्दता) नामक गुण है। इसकी कल्पना च्युतसस्कार नामक दोष के परिहारार्थ की गई है।

प्रौढि—स्वकथन का परिपाक। यथा—

कल्पद्रोर्विभवो विधे कुशलता भानो सुतेजोगणो
हेमाद्रे प्रतिबिम्बन गुणगण स्वायम्भुवोक्ते स्फुट।
गाम्भीर्यं जलधेर्विधोर्विलसनं चिन्तामणेर्दित्सन
जैनश्रीकरणागण समरसश्चेत्येष तर्क्यो निघोट ।[3]

उदात्तता—जहाँ प्रशंसनीय विशेषणों से युक्त पदो का प्रयोग किया गया हो। यथा—

पठद्बन्दिकुलाकीर्णं चलाच्चमरसञ्चयम्।
जिनमद्भूपसघट्ट निषीदास्थानमाबभौ ॥[4]

इस गुण की कल्पना अनुचितार्थता नामक दोष के परिहारार्थ की गई है।

---

१ अलकारचिन्तामणि, ५।३०२ २ वही, ५।३०४
३ वही, ५।३०६ ४ वही, ५।३०८

प्रेयान्—जहाँ चाटूक्तिपूर्ण वचनों से प्रियतर वस्तु का कथन किया गया हो। यथा—

> कारुण्यं त्वयि धीरता त्वयि शमस्त्वय्युत्तमत्वं त्वयि
> प्रागल्भ्यं त्वयि धीरता त्वयि महैश्वर्यं त्वयि प्राभवम्।
> गाम्भीर्यं त्वयि सत्कला त्वयि यशस्त्वय्युत्तमत्वं त्वयि
> क्षेमं श्रीस्त्वयि चक्रभृद्भुवमिमां रारक्ष्यतां ब्रह्मवत्॥[1]

इस गुण की कल्पना पारुष्य दोष के परिहारार्थ की गई है।

संक्षेपक—जहाँ पर किसी भी कथन को संक्षेप में कहा गया हो। यथा—

> कुरुवंशोद्भवाज्जाता बहवो भूमिपाः पुरा।
> तेषां सौभाग्यसदर्शो ज्ञानचन्द्रो बिभात्ययम्॥[2]

उपर्युक्त गुणों का स्वरूप-निरूपण भोज (सरस्वतीकण्ठाभरण) से पूर्ण प्रभावित है अथवा यह कहा जाए कि भोज के भावों को अजितसेन ने अपनी शब्दावली में प्रस्तुत किया है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार अजितसेन भोज के ऋणी हैं। इन्होंने गुणानुरूप उदाहरणों को प्रस्तुत करने में अवश्य अथक परिश्रम किया है, इनमें सन्देह नहीं।

वाग्भट द्वितीय ने सर्वप्रथम भरत सम्मत दस काव्यगुणों के नामोल्लेख पूर्वक लक्षण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु इन्होंने स्वयं केवल माधुर्यादि तीन गुणों को ही स्वीकार किया है तथा शेष का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में माना है।[3] भावदेवसूरि ने गुण-वर्णन प्रसंग में पहले भरतादि-सम्मत श्लेष, प्रसाद आदि १० गुणों का नामोल्लेख किया है, पुनः प्रत्येक का लक्षण और संक्षेप में उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।[4] इसी क्रम में माधुर्यादि तीन गुणों का भी 'परे' पद से उल्लेख किया है।[5] यहाँ 'परे' पद अन्य मत का द्योतक है, अतः इनके अनुसार १० गुण ही मानना चाहिए। इस प्रसंग में भावदेवसूरि ने शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्त, युक्ति, कार्य और प्रसिद्धि—इन आठ काव्य-चिह्नों (काव्य-

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५।३१०। २ वही, ५।३११।

३ दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दश काव्यगुणाः। वयं तु माधुर्योजः प्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे। शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति।
—काव्यानुशासन-वाग्भट, अलंकारतिलकटीका, पृ० ३१।

४ काव्यालंकारसारसंग्रह—भावदेवसूरि, ४।२-७। ५ वही, ४।८।

लक्षणों) का भी उल्लेख किया है,[1] जिनके लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार हैं[2]—

शोभा—दोष का निषेध। यथा—

जहाँ तुम हो वहाँ कलियुग भी शुभ है।

अभिमान—वस्तु विषयक ऊहापोह। यथा—

यदि वह चन्द्रमा है तो उष्णता कैसे ?

प्रतिषेध—निषेध। यथा—

तुमने युद्ध से नहीं, भौंह (टेढ़ी भौंह) से ही शत्रुओं को जीत लिया।

निरुक्त—निर्वचन। यथा—

उन दोनों को मैं इस प्रकार से समझता हूँ, किन्तु आप दोषाकर (दोषों के समुद्र या चन्द्रमा) हैं।

युक्ति—विशिष्टता। यथा—

तुम नवीन जलद हो, जो सोने की वर्षा करते हो।

कार्य—फलकथन। यथा—

रात्रि रूपी स्त्री से विशिष्ट यह चन्द्रमा (आप दोनों के) अच्छेद (संयोग) के लिए उदित हो रहा है।

प्रसिद्धि—प्रसिद्ध वस्तुओं में तुल्यता का कथन। यथा—

समुद्र जल से महान् है और आप बल से महान् हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इनके पूर्ववर्ती आचार्य पीयूषवर्ष जयदेव ने भी दस काव्यचिह्नों का उल्लेख किया है, जिनमें से आठ तो उक्त भावदेवसूरि उल्लिखित ही हैं, शेष दो के नाम हैं—अक्षरसंहति और मिथ्याध्यवसाय।[3]

अक्षरसंहति—थोड़े शब्दों से अधिक चमत्कारी अर्थ की प्रतीति। यथा—

उषा के पति (अनिरुद्ध) से अनुगत यह शूर (यादव अथवा वीर) श्रीकृष्ण ही हैं।[4]

मिथ्याध्यवसाय—कार्य और कारण की मिथ्याकल्पना करके कार्य-सिद्धि का वर्णन। यथा—

चन्द्रमा के किरण-रूपी सूत्र (धागे) में गुँथी हुई आकाश-पुष्पों की माला को आप धारण करें।[5]

---

१ काव्यालंकारसारसंग्रह—भावदेवसूरि, ४।९। २. वही, ४।१०-१३।

३. चन्द्रालोक, ३।१-१०। ४ वही, ३।१।

५ वही, ३।७।

उपर्युल्लिखित विवेचन से स्पष्ट है कि सभी जैनाचार्यों ने पूर्वाचार्यों द्वारा सम्मत किसी एक धारा को ग्रहण कर उसका अन्त तक निर्वाह किया है और शेष का सयुक्ति खण्डन किया है। वाग्भट-प्रथम, विजयवर्णी और भावदेवसूरि—ये तीन जैनाचार्य भरत और वामन आदि के अनुयायी हैं, क्योंकि इन्होंने दस गुणो का समर्थन किया है। हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि और वाग्भट द्वितीय—ये तीन जैनाचार्य आनन्दवर्धन और मम्मटादि के समर्थक हैं, इन्होंने माधुर्यादि तीन गुणो को ही स्वीकार किया है तथा शेष का इन्ही में अन्तर्भाव किया है। अजितसेन २४ गुणो के समर्थक हैं, अत ये आचार्य भोज के अनुयायी हैं। हेमचन्द्राचार्य ने परमत-खण्डन हेतु पूर्वपक्ष के रूप मे स्वोपज्ञ विवेक टीका में किन्हीं अज्ञातनामा आचार्य द्वारा समर्थित पाँच काव्यगुणों का उल्लेख किया है, जिसका निर्देश किसी अन्य आचार्य ने नही किया है, अत उल्लेखनीय है। भावदेवसूरि ने काव्यगुणों के अतिरिक्त काव्यचिह्नो पर भी प्रकाश डाला है, जो अन्य जैनाचार्यों की अपेक्षा विशिष्ट है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सामान्य रूप से जैनचार्यों द्वारा किया गया काव्य-गुण विवेचन शास्त्रीय परम्परा का सर्वथा अनुगामी है। सभी आलंकारिको ने अलंकारशास्त्र की परम्परा का अक्षुण्णरूप से निर्वाह करते हुए अपनी विशिष्ट शैली में गुण-स्वरूप, गुणालंकार-विवेक आदि सभी विषयो पर विवेचन प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र के द्वारा अतिरिक्त पाच गुणो का उल्लेखपूर्वक खण्डन साहित्यक्षेत्र में उनके व्यापक अध्ययन का परिचय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार विजयवर्णी के द्वारा प्रस्तुत स्वरचित उदाहरण संस्कृत अलंकारशास्त्र की बहुस्वीकृत पद्धति का ही अनुसरण है। अजितसेन का प्रयास भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने विशेषतया जैन-काव्यों से उदाहरण चुने हैं। परम्परा के निर्वाह के साथ नवीन दृष्टिकोण का दर्शन इन सभी ग्रन्थो में दृष्टिगोचर होता है।

●

५ | अलंकार-विवेचन

अलंकार - स्वरूप और महत्व

भरत-मुनि ने अलंकारशास्त्र सम्बन्धी प्रत्येक विषय का विवेचन किया है। अलंकारो के प्रसङ्ग में उन्होंने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक।[1] जैसे-जैसे अलंकारशास्त्र का विकास होता गया, अलंकार विषयक मान्यताएँ दृढ़ होती गईं तथा अलंकारों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। भरत-मुनि ने अलंकार का कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों की दृष्टि काव्यगत अलंकारों के लक्षण पर केन्द्रित हुई और उन्होंने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ कीं।

कुछ लोग अलंकार शब्द की "अलंकरोति इति अलंकार" इस व्युत्पत्ति के आधार पर काव्य में शोभावर्द्धक तत्त्वों को अलंकार कहते हैं। कुछ लोग "अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकार" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिसके द्वारा काव्य अलंकृत किया जाये उसे अलंकार कहते हैं। अर्थात् प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य के स्वाभाविक धर्म हैं, जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार साधन मात्र हैं, स्वाभाविक धर्म नहीं। अतः जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि लौकिक अलंकार कामिनी के शरीर को सुशोभित करते हैं, उसी प्रकार यमकोपमादि अलंकार काव्य-शरीर को सुशोभित करते हैं।

कालान्तर में अलंकारशास्त्र कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय प्रमुख हैं। ये सम्प्रदाय अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा रस इनमें से किसी एक को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। अलंकार-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भामह थे। इसीलिये इनकी अलंकारवादी आचार्यों में गणना की जाती है। आचार्य भामह ने अलंकार को इतनी महत्ता प्रदान की कि सम्पूर्ण काव्यशास्त्र ही अलंकारशास्त्र इस संज्ञा से अभिहित होने लगा, किन्तु अलंकारों का महत्व विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में विभिन्न प्रकार से निरूपित हुआ। आचार्य भामह के समय तक अलंकार शब्द

१ नाट्यशास्त्र, १७।४३।

का अर्थ व्यापक होकर काव्य सौन्दय के समस्त तत्त्वो का बोधक हो चुका था। दण्डी ने काव्य की शोभा बढाने वाले सभी धर्मो को अलकार कहा है।[1] इसी प्रकार वामन ने काव्य में सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्वों को अलकार स्वीकार किया है।[2] इतना ही नही दण्डी ने अलकारों का विवेचन करने के पश्चात् स्पष्ट लिखा है कि दूसरे ग्रन्थो में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग तथा उनके लक्षणो आदि का वणन किया है, उन्हें हम अलकारों के अन्तर्गत ही मानते हैं।[3] अलकारो की इससे विस्तृत व्याख्या और क्या हो सकती है? लेकिन दण्डी की इस विस्तृत व्याख्या की मान्यता धीरे-धीरे घटने लगी और आनन्दवर्धन ने अलकारो को कटकादि आभूषणो की तरह अङ्गो (शब्द और अथ) के आश्रित स्वीकार किया है।[4] इस प्रसग मे अलकारदप्पणकार का कहना है कि अत्यन्त सुन्दर होने पर भी अलकाररहित काव्य जनसमूह मे पढने पर उसी प्रकार सुशोभित नही होता, जिस प्रकार अलकार विहीन अत्यन्त सुन्दर स्त्री का मुख विमल होने पर भी सुशोभित नही होता है।[5] इसी प्रकार मम्मट ने रमणी के हार आदि आभूषणो की तरह काव्य में शब्द और अर्थ का अङ्गरूपेण कभी-कभी उपकार करने वाले क्रमश अनुप्रास (शब्दालकार) और उपमा (अर्थालकार) आदि को अलकार स्वीकार किया है।[6]

जैनाचाय वाग्भट-प्रथम ने लिखा है कि जिस प्रकार अलंकारो के अभाव में स्त्री का रूप सुशोभित नही होता है, उसी प्रकार अलंकारो से रहित काव्य भी सुशोभित नही होता है।[7] हेमचन्द्र ने काव्य मे अङ्गो (शब्द और अर्थ) के आश्रित रहने वालों को अलकार स्वीकार किया है।[8] नरेन्द्रप्रभसूरि शौर्यादि की तरह आ मा के आश्रित रहने वाले गुणो से विपरीत हारादि अलंकारो की तरह आहाय (ग्रहण करन और त्यागने योग्य) अनुप्रास और उपमादि को अलकार

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते। —काव्यादर्श, २।१।
२ काव्यालकारसूत्र, १।१।२-३।
३ काव्यादश, २।३६७। ४. ध्वन्यालोक, २।६।
५ अच्चत सुन्दर पि हु निरलकार जणम्मि कीरतं।
कामिणि मुह व कव्व होइ पसण्ण पि विच्छाअ ॥— अलकारदप्पण, ३।
६ काव्यप्रकाश, ८।६७।
७. स्त्रीरूपमिव नो भाति त वृवेऽलक्रियोज्झयम्। —वाग्भटालकार, ४।१।
८ अङ्गाश्रिता अलकारा। —काव्यानुशासन, १।१३।

मानते हैं।[1] विजयवर्णी ने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि जैसे संसार में अलंकारविहीन स्त्री का रूप सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकार से रहित काव्य भी सुशोभित नहीं होता है। उनके अनुसार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले तथा काव्य में चारुत्व के हेतु चित्रोपमादि अलंकार कहलाते हैं।[2] इसी प्रसङ्ग मे अजितसेन ने लिखा है कि जिस प्रकार चारुत्व के हेतुभूत हार, करधनी आदि से अङ्ग सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले तत्त्व अलंकार हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्डी काव्य में शोभावर्धक तत्त्वों को अलंकार मानते हैं और वामन सौन्दर्यमात्र को। किन्तु कालान्तर में आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने रमणी के कटक-कुण्डलादि आभूषणों की तरह अनुप्रासादि शब्दालंकारों और उपमादि अर्थालंकारों को क्रमश शब्द और अर्थ के आश्रित काव्य का शोभाधायक तत्त्व स्वीकार किया है, जिसे पश्चाद्वर्ती जैनाचार्य अलंकार-दर्पणकार और मम्मट ने प्रतिष्ठा प्रदान की है। जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी और अजितसेन आदि अलंकार और उसके महत्त्व के प्रसङ्ग मे अपने पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन और मम्मट के पूर्णत ऋणी हैं।

अलंकारों के भेद

आचार्य भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है और भामह ने अड़तीस। किन्तु उक्त दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार जैसा कोई उल्लेखनीय भेद नहीं किया है। जबकि परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ को मापदण्ड मानकर शब्दों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को

---

१ प्रयन्तोऽपि रसं सन्त जातु तेभ्यो विपर्ययम्।
ये तु विभ्रत्यलंकास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥ —अलंकारमहोदधि, ६।२।

२ स्त्रीरूपं निरलंकारं न विभाति यथा भुवि।
तथा काव्य ॥
काव्याङ्गभूतौ शब्दार्थौ श्रिताश्चित्रोपमादय।
अलंकारा प्रकीर्त्यन्ते काव्यचारुत्वहेतव ॥
—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ९।१-२।

३ चारुत्वहेतुना येन वस्त्वलंक्रियतेऽङ्गवत्।
हारकाञ्च्यादिभि प्रोक्त, सोऽलंकार कवीश्वरै ॥
—अलंकारचिन्तामणि, ४।१।

शब्दालंकार और अर्थों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को अर्थालंकार माना है। कुछ आचार्यों ने उक्त दो के अतिरिक्त शब्द और अर्थ पर समान रूप से आश्रित रहने वाले अलंकारों को उभयालंकार कहा है। आचार्य मम्मट ने अलंकारों के विभाजन का मापदण्ड अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार किया है।[1] जिसके विद्यमान रहने पर जो विद्यमान रहे वह अन्वय और जिसके विद्यमान न रहने पर जो विद्यमान न रहे वह व्यतिरेक कहलाता है। अर्थात् जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने पर अलंकारत्व नष्ट हो जाये वहाँ शब्दालंकार और जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने पर तदर्थक शब्दनिवेश से अलंकारत्व नष्ट न हो वहाँ अर्थालंकार होता है। इसी मान्यता को शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व और शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व कहा जाता है।

आचार्य भरत और भामह के अलंकारों पर परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत विभाजन रेखा को मान लिया जाए तो भरतसम्मत चार अलंकारों में से यमक और भामह सम्मत ३८ अलंकारों में से अनुप्रास और यमक शब्दालंकार की कोटि में आते हैं, जिसका विस्तृत विवेचन अलंकार-वर्गीकरण के प्रसंग में किया जायेगा।

शब्दालंकार

जहाँ शब्दगत चमत्कार पाया जाए वह शब्दालंकार है। शब्दालंकार में शब्दों की विशेष महत्ता होती है। शब्दों का परिवर्तन होने पर काव्यगत सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। अतः इसमें शब्द परिवर्तन सम्भव नहीं है। सम्प्रति विभिन्न आलंकारिकों की शब्दालंकार विषयक मान्यताओं का आकलन किया जा रहा है।

आचार्य भरत का 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्'[2] यह कथन यमक के शब्दालंकार की पुष्टि करता है। आचार्य भामह ने केवल दो शब्दालंकारों का उल्लेख किया है—अनुप्रास और यमक। दण्डी ने यमक और चित्रालंकार का 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में निबन्धन कर इन्हें निश्चित ही अन्य उपमा-रूपकादि अलंकारों से पृथक् (शब्दालंकार) स्वीकार किया है। रुद्रट ने स्पष्ट रूप से वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार कहा है।[3]

जैनाचार्य अलंकारदप्पणकार, भरत-भामह आदि पूर्वाचार्यों की तरह

---

१ काव्यप्रकाश पृ० ४२३। २ नाट्यशास्त्र, १७।६२।

३ वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥ —काव्यालंकार २।१३।

शब्दालंकार और अर्थालंकार जैसे विभाजन के विषय में मौन हैं, किन्तु उन्होंने अनुप्रास और यमक का उल्लेख किया है,[1] जो शब्दालंकार की कोटि में आते हैं।

आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार स्वीकार किया है।[2] पुनरुक्तवदाभास उनके मत में उभयालंकार है।[3]

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक इन चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है।[4] उन्होंने चित्र के एकस्वरचित्र आदि अनेक भेद प्रस्तुत किए हैं।[5] वक्रोक्ति के केवल दो ही भेद किए हैं—सभंगश्लेषवक्रोक्ति और अभंगश्लेषवक्रोक्ति।[6] उन्होंने मम्मट-सम्मत काकु-वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है। इन्हें अनुप्रास के दो भेद मान्य हैं—छेकानुप्रास और लाटानुप्रास[7] तथा यमक के २४ भेद, जिनका सोदाहरण विवेचन किया है।[8]

आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट-प्रथम सम्मत उक्त चार शब्दालंकारों के अतिरिक्त श्लेष और पुनरुक्ताभास—इन दो अलंकारों को भी शब्दालंकारों की कोटि में स्थान दिया है। उन्होंने अनुप्रास का सामान्य विवेचन किया है, जिसमें व्यञ्जनों की आवृत्ति को अनुप्रास कहा है।[9] यमक के सम्बन्ध में हेमचन्द्र की धारणा पूर्वाचार्यों के समान है, किन्तु उन्होंने यमक के जिन पादज १५ भेदों का उल्लेख किया है,[10] वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने पाद को दो भाग में बांट देने पर २८ भेद,[11] तीन भागों में बांट देने पर ४२ भेद, चार भागों में बांट

---

१ अलंकारदप्पण, गाथा, ५,९। २ काव्यप्रकाश, नवम उल्लास।

३ वही, पृ० ४३९।

४ चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रिया। —वाग्भटालंकार ४।२।

५ वही, ४।९-१३। ६ वही, ४।१५-१६।

७ वही, ४।१७। ८ वही, ४।२३-४६।

९ व्यञ्जनस्यावृत्तिरनुप्रासः। —काव्यानुशासन, ५।१।

१० यमकं पादे तस्य च भागे भवति। तत्र पादजं पञ्चदशधा। तथा हि—प्रथमो द्वितीयादावावर्तते द्वितीयस्तृतीयादौ। तृतीयश्चतुर्थ इति षट्। प्रथमो द्वितीयतृतीययोर्द्वितीयश्चतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोर्द्वितीयस्तृतीयचतुर्थयोरिति चत्वारः। प्रथमस्त्रिष्वप्पीत्येकः। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे इति। प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वौ। अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति। द्वे इति। —काव्यानुशासन, ५।३। वृत्ति।

११ द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, पृ० ३०२।

ऐसे पर ५६ भेद तथा अन्य अनेक यमक-भेदो की कल्पना की है।[1] चित्रालकार का उन्होंने जो लक्षण[2] प्रस्तुत किया है, उससे उनकी चित्रालकार भेद विषयक मान्यता भी स्पष्ट होती है। उनका यह लक्षण भोज से प्रभावित है।[3] हेमचन्द्र ने श्लेष के प्रसग में सर्वप्रथम रुद्रट सम्मत[4] वर्ण, पद, लिंग आदि आठ भेदो का उल्लेख किया है।[5] पुन भाषाश्लेष के ५७ भेदों का कथन है,[6] जो अन्य-आचार्यों द्वारा मान्य भेदो से सर्वाधिक है। वक्रोक्तिलक्षण[7] प्रसग में हेमचन्द्र न काकु-वक्रोक्ति को अलकार स्वीकार नही किया है, अपितु उसे मात्र पाठधर्म कहा है[8] तथा इसके समर्थन मे उन्होने राजशेखर की पक्ति को उद्धृत किया है।[9] पुनरुक्ताभास[10] हेमचन्द्र के मत मे शब्दालकार है। इस पर उन्होने कोई विशेष टीका-टिप्पणी नही की है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास—इन छ शब्दालकारो को स्वीकार किया है। इनका अनुप्रास-विवेचन भोज से प्रभावित है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्व प्रथम अनुप्रास के चार भेद किये हैं—

---

१ द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, पृ० ३०४—३०५।

२ स्वरव्यञ्जनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम्। वही, ५।४।

३ वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धाप्रतीह य ।
नियमस्तद्बुधै षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१०९।

४ वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अत्रार्य मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥ —काव्यालकार, ४।२।

५ काव्यानुशासन, ५।५। वृत्ति।

६ सस्कृतप्राकृतमागधपिशाचसूरसेनापभ्रशभाषाणां द्वियोगे पचदश, त्रियोगे विंशति, चतुर्योगे पञ्चदश, पञ्चयोगे षट्, षट्योगे एक। सर्वमीलने भाषाश्लेषस्य सप्तपचाशद्भेदा । —वही, ५।६ वृत्ति।

७ उक्तस्यान्येनान्यथा श्लेषादुक्तिर्वक्रोक्ति। —काव्यानुशासन, ५।६ वृत्ति।

८ काकुवक्रोक्तिस्त्वलकारत्वेन न वाच्या। पाठधर्मत्वात्।
—वही, पृ० ३३३।

९ अभिप्रायवान् पाठधर्म काकु स कथमलकारीस्यादिति यायावरीय ।
—काव्यानुशासन, पृ० ३३३।, काव्यमीमांसा, पृ० ८३।

१० भिन्नाकृते शब्दस्यैकार्थतेव पुनरुक्ताभास । —काव्यानुशासन, ५।८।

श्रुति, छेक, वृत्ति और लाट ।[1] पुनः श्रुति के शुद्ध, संकीर्ण और नागर—ये तीन भेद किये हैं ।[2] छेक चार प्रकार का होता है—क्रमशाली, विपर्यस्त, वेणिका और गर्भित ।[3] वृत्तियां तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला । नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार जिसमें समान वर्गों के अक्षरों की आवृत्ति हो वह वृत्यनुप्रास है, यह कवित्व का प्राणभूत है[4] तथा यह बारह प्रकार का होता है—कर्णाटी, कौन्तली, कौंगी, कौंकणी, वानवासिका, त्रावणी माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, उड्री और पौण्ड्री ।[5] वृत्यनुप्रास के ये बारह भेद भोज-सम्मत हैं ।[6] इसी प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वभावतः, उपचारवशात्, वीप्सा से, आभीक्ष्ण्य से, कषादि धातुओं से णमुल् प्रत्यय करने पर उसी धातु के उपपद रहने से और सम्भ्रम से जो पदों की आवृत्ति होती है, उन्हें लाटानुप्रास के भेद कहा है ।[7] इन्हें भोज ने नामद्विरुक्ति अनुप्रास कहा है ।[8] नरेन्द्रप्रभसूरि ने सभङ्गश्लेष के वर्ण-पदादि आठ भेदों की तरह अभङ्गश्लेष के भी आठ भेदों की सम्भावना की है[9] तथा श्लेष को अर्थगत भी स्वीकार किया है । पुनरुक्तवदाभास को उन्होंने शब्दालंकार भी कहा है और शब्दार्थालंकार भी ।[10] शेष शब्दालंकार-विवेचन सामान्य है ।

विजयवर्णी ने यमक, चित्र, वक्रोक्ति और अनुप्रास—इन चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है ।[11]

---

१ अलंकारमहोदधि, ७।२ । २ वही, ७।४।

३ क्रमशाली विपर्यस्तो वेणिका गर्भितस्तथा ।
क्रमशाली क्रमोपेतः, विपर्यस्त क्रमात्ययी ।।
आवाक्यान्तगतानेकवर्णावृत्तिस्तु वेणिका ।
गर्भितस्त्वपहरो वर्णस्तोमो यत्रान्यगर्भित ।। —वही, ७।८-९ ।

४ यदि वा यत्र वर्ग्याणां वर्ग्यैरावर्तते निजैः ।
वृत्यनुप्रासमिच्छन्ति तं कवित्वैकजीवितम् ।। —वही, ७।१४ ।

५ वही, पृ० २१२–२१३ । ६ द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, २।७९-८० ।

७ अलंकारमहोदधि, ७।१७-१८ ।

८ द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, २।९९ ।

९ अभंगश्लेषोऽप्य ष्टधैव यथासंभव ज्ञेय । अलंकारमहोदधि, पृ० २२२ ।

१० शब्दानामामुखे यस्मिन्नेकार्थत्वावभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासं शब्द-शब्दार्थगामि तत् ।।—अलंकारमहोदधि, ७।२४ ।

११ यमकं चित्रवक्रोक्तिरनुप्रासश्चतुर्विध ।
शब्दालंकृतय प्रोक्ता ...... ।।—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ९।४-५ ।

अजितसेन ने भी उक्त विजयवर्णी-सम्मत चार अलंकारों को शब्दालंकार स्वीकार किया है।[1] उनका शब्दालंकार-विवेचन विस्तृत है। अलंकार-चिन्तामणि के द्वितीय परिच्छेद में लगभग दो सौ पद्यों में मात्र चित्रालंकार का विवेचन किया है। शेष वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—इन तीन शब्दालंकारों का विवेचन तृतीय परिच्छेद में है।

अजितसेन ने चित्रालंकार के जिन भेदों का उल्लेख किया है, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—व्यस्त, समस्त, द्विव्यस्त द्विसमस्त, व्यस्त-समस्त, द्विव्यस्त-समस्त, द्विसमस्तकसुव्यस्त, एकालाप, प्रभिन्नक, भेद्यभेदक, ओजस्वी, सालंकार, कौतुक, प्रश्नोत्तरसम, पृष्ठप्रश्न, भग्नोत्तर, आद्युत्तर, मध्योत्तर, अन्तोत्तर, अपह्नुत, विषम, वृत्त, नामाख्यात, तार्क्य, सौत्र, शाब्दिक, शास्त्रार्थ, वर्णोत्तर, वाक्योत्तर, श्लोकोत्तर, खण्डोत्तर, पादोत्तर, सुचक्रक, पद्म, काकपद, गोमूत्र, सर्वतोभद्र, गत प्रत्यागत, वर्द्धमानाक्षर, हीयमानाक्षर, शृङ्खल और नागपाश।[2] इनके अतिरिक्त प्रहेलिका, मुरजबन्ध, अर्धभ्रमगूढ, एकाक्षर, द्वयक्षर, दर्पणबन्ध, पट्टकबन्ध तालवृन्त, नि साल बन्ध, ब्रह्मदीपिका, पशुबन्ध, यानबन्ध, चक्रवृत्तक, भृङ्गारबन्ध निगूढपाद, छत्रबंध, और हारबन्ध आदि भेदों का भी सलक्षणोदाहरण विवेचन किया है।[3] शेष वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—इन तीन अलंकारों का सामान्य विवेचन किया है।[4]

वाग्भट द्वितीय[5] और भावदेवसूरि[6] ने चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास—इन छः को शब्दालंकार स्वीकार किया है। सिद्धिचन्द्रगणि ने शब्दालंकारों के विषय में कोई विशेष ऊहापोह नहीं किया है[7], अपितु आचार्य मम्मट की सरणि को ही अपनाया है।

---

१ द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, २।१।

२ वही, २।३-८। ३ द्रष्टव्य, वही, २।१२५-१९०।

४ द्रष्टव्य, वही, तृतीय परिच्छेद।

५ चित्रश्लेषानुप्रासवक्रोक्तियुक्तियमकपुनरुक्तवदाभासाः षट् शब्दालंकाराः।
—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ४६।

६ स्याद् वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेष इत्यपि।
चित्रं पुनरुक्तवदाभासः शब्देष्वलंकृतिः ॥—काव्यालंकारसारसंग्रह, ५।१।

७ द्रष्टव्य, काव्यप्रकाशखण्डन, नवम उल्लास।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किये गये उक्त शब्दालकार-विवेचन से ज्ञात होता है कि अलकारदप्पणकार ने अलकारों का शब्द-अर्थ जैसा विभाजन न करते हुए भरत-भामह आदि पूर्वाचार्यों का अनुगमन किया है। वाग्भट-प्रथम, विजयवर्णी और अजितसेन ने केवल चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—इन चार अलकारो को शब्दालकार माना है। शेष आचार्य हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि ने श्लेष और पुनरुक्तवदाभास—इन दो अन्य अलकारों का भी वाग्भट-प्रथम आदि सम्मत उक्त चार अलकारों में समावेश कर छ: शब्दालकारो को स्वीकार किया है। वाग्भट-प्रथम और विजयवर्णी ने पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख ही नही किया है तथा श्लेष को अर्थालंकार माना है। हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि ने श्लेष को शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों स्वीकार किया है।

जैनाचार्यों ने चित्रादि अलंकारों के जिन भेदों का उल्लेख किया है। उनकी उपेक्षा नही की जा सकती है। जहाँ आचार्य मम्मट ने यमक के ग्यारह भेदों का उल्लेख किया है[1], वहीं आचार्य हेमचन्द्र ने यमक के पन्द्रह भेदो का उल्लेख कर अपनी तार्किक बुद्धि का परिचय दिया है। इसी प्रकार मम्मट ने पाद को दो भागो मे विभक्त करने पर बीस, तीन भागों में विभक्त करने पर तीस, और चार भागो मे विभक्त करने पर यमक के चालीस भेदो का उल्लेख किया है[2], किन्तु हेमचन्द्र ने क्रमश अट्ठाइस, बयालीस और छप्पन भेदो का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने भाषाश्लेष के जिन सत्तावन भेदों को स्वीकार किया है, वे महत्त्वपूर्ण है। उन्होने काकु-वक्रोक्ति को मात्र पाठधर्म स्वीकार किया है, जबकि आचार्य मम्मट ने काकुवक्रोक्ति को अलकार कहा है।[3] हेमचन्द्र ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालकार माना है, उभयालकार नही।[4]

नरेन्द्रप्रभसूरि का अनुप्रास-विवेचन भोज से प्रभावित है, उन्होंने सभङ्गश्लेष के वर्ण-पदादि आठ भेदों की तरह अभङ्गश्लेष के भी आठ भेदों की सम्भावना

---

१ प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे। तदेवं पादज नवभेदम्। अर्धावृत्ति श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे।

—काव्यप्रकाश, पृ० ४१०।

२ द्रष्टव्य, वही, पृ० ४११। ३ द्रष्टव्य, वही, ९।७८।

४ आचार्य मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार माना है।

—वही, पृ० ४३९।

की है, जो विचारणीय है। नरेन्द्रप्रभसूरि का पुनरुक्तवदाभास-विवेचन मम्मट से प्रभावित है।

अजितसेन ने चित्रालंकार के जिन महत्त्वपूर्ण भेदों का उल्लेख किया है, वे आश्चर्यचकित करने वाले हैं। शेष शब्दालंकार-विवेचन परम्परानुकूल है।

अर्थालंकार

जहाँ अर्थगत चमत्कार पाया जाए वह अर्थालंकार है, इसमें अर्थ की प्रधानता रहती है। अर्थालंकार में शब्द-परिवर्तन होने पर भी अर्थ के कारण चमत्कार विद्यमान रहता है। यही इसका प्रमुख वैशिष्ट्य है।

भरत-भामह से लेकर अद्यावधि सभी आलंकारिकों ने अर्थालंकारों का विवेचन किया है। आचार्य भरत द्वारा उल्लिखित चार अलंकारों में से यमक को छोड़कर शेष तीन अलंकारों में अर्थगत सौन्दर्य होने से अर्थालंकार हैं। आचार्य भामह ने ३८ अलंकारों को स्वीकार किया है[१], जिनमें अनुप्रास और यमक को छोड़कर शेष ३६ अर्थालंकार हैं। दण्डी ने ३५ अलंकारों का उल्लेख किया है[२] तथा मम्मट ने ६१।[३] अप्पय दीक्षित के समय तक इनकी संख्या शताधिक हो गई थी।[४] प्रस्तुत में जैनाचार्यों द्वारा मान्य अर्थालंकारों का विवेचन किया जा रहा है।

जैनाचार्य अलंकारदप्पणकार ने कुल ४० अलंकारों का उल्लेख किया है— उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जाति-व्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासंख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, (अणुद-) भाव अर्थान्तरन्यास, परिकर, सहोक्ति, ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय (उद्दर्त, परिवृत्त प्रश्नोत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर) बहुश्लेष, व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा ससिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शना,

---

१ द्रष्टव्य, काव्यालंकार-भामह।

२ काव्यादर्श, २।४-७।

३ काव्यप्रकाश, विश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका, पृ० ४४१।

४ अप्पयदीक्षित ने १२३ अलंकारों का विवेचन किया है।
— द्रष्टव्य, कुवलयानन्द।

उपेक्षावयव, उद्भिद्, वलित, अभेद-वलित और यमक।[1] इनमें से अनुप्रास और यमक को छोड़कर शेष ३८ अर्थालंकार हैं। अलंकारदप्पणकार ने प्रेमातिशय, द्रव्यान्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर और समज्योति नामक नवीन अलंकारों का उल्लेख किया है।

वाग्भट-प्रथम ने अर्थालंकारों की संख्या पैंतीस स्वीकार की है—जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेश, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या प्रश्नोत्तर और संकर।[2] ये सभी अलंकार पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य हैं। इनमें जाति अलंकार स्वभावोक्ति का पर्यायवाची है। वाग्भट-प्रथम ने उपमा के जिन भेदों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा, अनेकोपमेयमूलोपमा और अनेकोपमानमूलोपमा।[3] इनमें से अनेकोपमेयमूलोपमा को छोड़कर शेष उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा, और अनेकोपमानमूलोपमा क्रमशः आचार्य मम्मटादि-सम्मत उपमेयोपमा, अनन्वय और मालोपमा अलंकार हैं।

---

१ उपमा-रूवअ-दीवअ-रोहाणुप्पास-अइसअ-विसेस।
अक्खेव-जाइवइरेअ-रसिअ-पज्जाअ भणिआओ॥
जहासंख (ख) समाहिअ-विरोह-ससअ-विभावणा भावा।
अत्थन्तरणासो-अण्णपरिअरो तह सहोत्ती अ॥
तज्जा अवण्हुवइओ पेम्माइसओ उदत्त-परिअत्ता।
दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा बहुसिलेसा अ।
ववअेम-थुई (इ) समजोइआइअ-अपत्थुअपससा अ॥
अणुमाण आअरिसो उपेक्खा तह अ ससिद्धी॥
आसीसा उवमा-रूवअ च आमइ णिअरिसिण तह अ।
उपेक्खा च अ (ओ)सेअ वलिअ जमअेहि सजुत्ता॥
अेतिअ-मित्ता एए कव्वेसु पडिट्ठिआ अलकारा।
अहिआ उवक्कमेणं वीसाओ दोण्णि संखाओ॥
—अलंकारदप्पण, गाथा ५-१०।

२ वाग्भटालंकार, ४।२-६।

३ द्रष्टव्य, वही, ४।५४-५७।

अनेकोपमेयमूलोपमा नामक भेद उनकी स्वतन्त्र कल्पना न होकर आचार्य भरत का एक देश अनुगमन है। क्योंकि भरत ने एक उपमेय का एक अथवा अनेक उपमानों से तथा अनेक उपमेयों का एक अथवा अनेक उपमानों से होने वाले सादृश्य वर्णन को उपमा के भेद मानने की ओर संकेत किया है।[1]

वाग्भट-प्रथम ने अन्य जिन अलंकारों का स्वरूप-विवेचन किया है, उनके मूल में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक और मम्मट आदि आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने किसी एक आचार्य को आधार नहीं माना है, अपितु जिस आचार्य का जो लक्षण उन्हें उचित प्रतीत हुआ है, उसे उन्होंने अपने शब्दों में उल्लिखित किया है। वाग्भट-प्रथम द्वारा प्रतिपादित किसी-किसी अलंकार का लक्षण अन्याचार्यों के किसी एक उपभेद के स्वरूप को लेकर भी हुआ है। यथा सहोक्ति का लक्षण।[2] यह लक्षण रुय्यक के सहोक्ति के एक उपभेद 'कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा सहोक्ति' पर आधारित है, जिसका लक्षण उन्होंने कार्यकारण का तुल्यकालत्वेन निबन्धन किया है।[3] वाग्भट-प्रथम का सहोक्ति लक्षण इसी एक उपभेद पर प्रकाश डालता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वाग्भट प्रथम के दीपकालंकार पर भरत और भामह, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त पर भामह (अन्तिम दो पर उद्भट का भी), अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, हेतु और समाहित पर दण्डी, समुच्चय और अवसर पर रुद्रट, जाति और व्यतिरेक पर रुय्यक, रूपक, उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, अतिशय (अतिशयोक्ति), आक्षेप, विरोध, विषम, परिसंख्या, संकर और एकावली पर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके अनुसार सङ्करा-

---

१ द्रष्टव्य—एकस्यैकेन सा कार्यानेकेनाऽप्यथवा पुनः।
अनेकस्य तथैकेन बहूना बहुभिस्तथा॥
—नाट्यशास्त्र, १७।४५।

२ सहोक्ति सा भवेद् यत्र कार्यकारणयोः सह।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम्॥—वाग्भटालंकार, ४।११९।

३ रुय्यक ने कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा सहोक्ति का जो उदाहरण दिया है, उससे उसका लक्षण भी स्पष्ट होता है। उदाहरण इस प्रकार है—
'भवदपराधैः सार्धं संतापो वर्धतेतरामस्याः।'
अत्रापराधानां संतापं प्रति हेतुत्वेऽपि तुल्यकालत्वेनोपनिबन्धः।
—द्रष्टव्य, अलंकारसर्वस्व, पृ० २९८।

लकार वह है, जहाँ अनेक अलकारों का सम्मेलन हो।[1] वाग्भट-प्रथम के इस कथन से ससृष्टि को पृथक् अलकार मानने की आवश्यकता नही रहती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने २९ अर्थालकारों का विवेचन किया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शन, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति), व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसख्या, कारणमाला और सकर।[2] इनमे से २४ अलकार वाग्भट-प्रथम सम्मत हैं, शेष निदर्शना, व्याजस्तुति, स्मृति, सम और कारणमाला—ये पाँच अन्य अलकार भी उन्हें अभीष्ट हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट-प्रथम सम्मत प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विभावना, हेतु, समाहित, यथासख्य, अवसर, सार, अप्रस्तुतप्रशसा, एकावली और प्रश्नोत्तर—इन ग्यारह अलकारो को मान्यता प्रदान नही की है। वाग्भट-प्रथम ने जिस अलकार को अप्रस्तुतप्रशसा कहा है, उसे ही हेमचन्द्र ने अन्योक्ति के नाम से अभिहित किया है, अत इन दोनों के लक्षणो मे कोई अन्तर नही है।[3] आचार्य मम्मट ने इसे अप्रस्तुतप्रशसा ही कहा है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने उपमा के लक्षण में 'साधर्म्यम' के साथ 'हृद्यम' विशेषण लगाया है,[5] जिसका तात्पर्य यह है कि सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाले उपमान और उपमेय के सादृश्य का कथन उपमालकार है। मम्मट ने उपमा के लक्षण मे 'भेद' पद का प्रयोग किया है,[6] जो अनन्वयालकार को स्वतन्त्र रूप से अलकार मानने में सहायक होता है, किन्तु हेमचन्द्र अपने उपमा-लक्षण में

---

१ वाग्भटालकार, ४।१४४।

२ काव्यानुशासन, विवेकटीका, पृ० ३३९।

३ द्रष्टव्य, (क) प्रशसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुन ।
अप्रस्तुतप्रशसा तामाहु कृतधियो यथा ॥
—वाग्भटालकार, ४।१३४।

(ख) सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्ति । —काव्यानुशासन, ६।८।

४. काव्यप्रकाश, १०।९८-९९।

५ हृद्य साधर्म्यमुपमा। —काव्यानुशासन, ६।१।

६ साधर्म्यमुपमा भेदे। —काव्यप्रकाश, पृ० ४४३।

उक्त पद का समावेश नही करते हैं तथा मालोपमा, रशनोपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और उत्पाद्योपमा को उपमा से पृथक् नही मानते हैं।[1] हेमचन्द्र के उपमा विषयक यह दृष्टिकोण वाग्भट-प्रथम से मेल खाता है तथा इन दोनों को मूल मे रुद्रट का प्रभाव है।

आचाय हेमचन्द्र ने अलकारो की सीमित सख्या स्वीकार की है, इसलिए उन्होने कही-कही दो-तीन अलकारो के लक्षणो को मिलाकर किसी एक अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ निदर्शन के लक्षण को लिया जा सकता है। हेमचन्द्र ने निदर्शन का लक्षण करते हुए लिखा है कि—इष्टार्थ की सिद्धि के लिए जो दष्टान्त का निर्देश किया जाता है, वह निदशनालकार कहलाता है।[2] इसमे मम्मटादि सम्मत दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और निदशन के लक्षणो का एकदश समावेश किया गया है। यहाँ हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित निदशन और अर्थान्तरन्यास का अन्तर भी उल्लेखनीय है। उनके अनुसार जहाँ सामान्य अथवा विशेष का विशेष के द्वारा समर्थन किया जाता है, वह निदर्शनालकार है और जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा समथन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास है।[3] मम्मट उक्त दोनो ही स्थितियों मे अर्थान्तरन्यास मानने के पक्ष में हैं।[4] आचाय हेमचन्द्र सम्मत अर्थान्तरन्यास का सम्पूर्ण लक्षण इस प्रकार है—जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा साधम्य अथवा वैधर्म्यपूर्वक समर्थन किया जाता है, वहाँ अर्थान्तरन्यासालकार होता है।[5] यह मम्मट का एकदेश अनुकरण है।

आचाय हेमचन्द्र सम्मत अतिशयोक्ति का लक्षण पूर्वाचार्यों द्वारा अनुमोदित ही है। उन्होने इसके चार भेद माने हैं—भेद मे अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध

---

१ काव्यानुशासन, पृ० ३४६-३४७।

२ इष्टार्थसिद्धये दृष्टान्तो निदर्शनम्।—काव्यानुशासन, ६।६।

३ यत्र सामान्यस्य विशेषस्य वा विशेषेण समर्थन तन्निदशनम्। यत्र तु विशेषस्य सामान्येन समथन सोऽर्थान्तरन्यास।

—काव्यानुशासन, विवेकटीका, पृ० ३५१।

४ सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास साधर्म्येणेतरेण वा॥—काव्यप्रकाश, १०।१०९।

५ विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यास।

—काव्यानुशासन, ६।१९।

में असम्बन्ध और सम्बन्ध में सम्बन्ध।[1] ससन्देहालंकार का लक्षण निरूपण करते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है कि—स्तुति के लिए जो संशयपूर्ण कथन किया जाता है, वह ससन्देह है।[2] अर्थात् स्तुति के द्वारा अलंकारान्तर के गर्भीकरण से प्रस्तुत वस्तु के वर्णन हेतु संशय पूर्ण कथन करना ससन्देह है। हेमचन्द्र को ससन्देह के तीन भेद अभीष्ट हैं, उनमे से दो तो वे ही हैं, जिन्हें मम्मट ने स्वीकार किया है अर्थात् भेद का कथन करने और भेद का कथन न करने रूप सन्देह। इसके अतिरिक्त उन्हें असन्देह में सन्देह नामक तीसरा भेद भी अभीष्ट है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपह्नुति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जहाँ प्रस्तुत से प्रस्तुत अथवा प्रस्तुत से अप्रस्तुत का अपलाप किया जाए, वहाँ अपह्नुति नामक अलकार होता है।[4] मम्मट ने प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत की सिद्धि को अपह्नुति कहा है[5] तथा प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप को छल पूर्वक छिपाने के वर्णन को व्याजोक्ति।[6] किन्तु हेमचन्द्र ने अपने उक्त अपह्नुति के स्वरूप मे मम्मटादि-सम्मत अपह्नुति और व्याजोक्ति—इन दोनो के स्वरूपों को स्थान दिया है। अत व्याजोक्ति को पथक् अलकार न मानना स्वाभाविक है। हेमचन्द्र ने सकर और ससृष्टि—इन दो अलकारो को मम्मटादि की तरह भिन्न-भिन्न नही माना है, अपितु मात्र सकर का ही लक्षण-निरूपण किया है[7], जिसमें ससृष्टि और सन्देहसकर को अगरूपेण स्वीकार किया है, इसकी पुष्टि दिये गये उदाहरणो से होती है।[8]

---

१ विशेषविवक्षया भेदाभेदयोगायोगव्यत्ययोऽतिशयोक्ति।

—काव्यानुशासन ६।१०।

२ स्तुत्यै सशयोक्ति ससन्देह।—वही, ६।२०।

३ स्तुत्यै अलकारान्तरगर्भीकारेण प्रस्तुतवस्तुवर्णनार्थं सशयस्योक्तिर्निर्णयान्ताऽनिर्णयान्ता वा भेदकस्यानुक्तावुक्तौ वा ससन्देह।

—वही, वृत्ति, ६।२०।

४ प्रकृताप्रकृताभ्या प्रकृतापलापोऽपह्नुति। —वही, ६।२१।

५ प्रकृत यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति।

—काव्यप्रकाश, १०।९६, पृ० ४७०।

६ व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। —वही, १०।११८।

७ स्वातन्त्र्याङ्गत्वसशयैकपदौरेणामेकत्र स्थितिः सकर।

—काव्यानुशासन, ६।३९।

८ द्रष्टव्य, वही, पृ० ३९८-३९९।

इनके अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र ने जिन अलकारों का विवेचन किया है, उनमें प्राय पूर्वाचार्यों की मान्यताओं को ही प्रमुख रूप से स्थान दिया है तथा जिन अलकारों को स्वीकार नही किया है, उन परिकर, यथासख्य, विनोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवदादि, आशी, प्रत्यनीक आदि अलकारो का सयुक्ति खण्डन किया है।[1]

आचाय नरेन्द्रप्रभसूरि ने ७१ अर्थालकारो को स्वीकार किया है—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, सशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, असगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य, विशेष, कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिंग, अनुमान, यथासख्य, परिवृत्ति, परिसख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतदगुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त, रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, ससृष्टि और सकर।[2] इन ७१ अलकारो मे से ६१ अलकारो का उल्लेख मम्मट ने किया है तथा मालादीपक को दीपक का ही एक भेद स्वीकार किया है।[3] शेष जिन ९ अलकारो का

---

१ अपुष्टार्थत्वलक्षणदोषाभावमात्र साभिप्रायविशेषणोक्तिरूप परिकरो भग्नप्रक्रमतादोषाभावमात्र यथासख्य दोषाभिधानेनैव गतार्थम्। विनोक्तिस्तु तथाविधहृद्यत्वविरहात। भाविक तु भूतभाविपदार्थप्रत्यक्षीकारात्मकमभिनेयप्रबन्ध एव भवति। यद्यपि मुक्तकादावपि दृश्यते तथापि न तत्स्वदते। उदात्त तु ऋद्धिमद्वस्तुलक्षण अतिशयोक्तेर्जातिर्वा न भिद्यते। महापुरुषवर्णनारूप च यदि रसपर तदा ध्वनेर्विषय। अथ तथाविधवर्णनीयवस्तुपरं तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यस्येति नालङ्कार। रसवत्प्रेयसी ऊर्जस्विभावसमाहितानि गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारा एव। आशीस्तु प्रियोक्तिमात्र, भावज्ञापनेन गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य वा विषय। प्रत्यनीक च प्रतीयमानोत्प्रेक्षाप्रकार एवेति नालकारान्तरतया वाच्यम्।

—काव्यानुशासन, पृ० ४०१-४०५।

२ द्रष्टव्य, अलकारमहोदधि, अष्टम तरग।

३ मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम्। —काव्यप्रकाश, १०।१०४।

उल्लेख किया है, वे हैं—उल्लेख, परिणाम, विचित्र, विकल्प, अर्थापत्ति, रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वि और समाहित। रसवदादि अलकारो की कल्पना भामह आदि आचार्यों ने की है।[१] अर्थापत्ति को अलकार के रूप में सर्वप्रथम भोज ने स्वीकार किया है।[२] शेष उल्लेख, परिणाम, विचित्र और विकल्प—इन चार अलकारों का सर्वप्रथम रुय्यक ने उल्लेख किया है।[३] इसलिए इतना तो निश्चित है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने किसी नवीन अलकार की उद्भावना नही की है तथा मम्मट-सम्मत अलकारो के अतिरिक्त रुय्यकादि-सम्मत अलकारो को भी ग्रहण किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम द्वारा उल्लिखित हेतु, अवसर और प्रश्नोत्तर नामक तीन अलंकारो को मान्यता प्रदान नही की है।

आचार्यो ने अर्थालकारो के प्रसग मे प्राय सर्वप्रथम उपमालकार का निरूपण किया है तथा उसके समर्थन में कहा है कि यत उपमा अर्थालकारो का मूल है, अत सर्वप्रथम उसी पर विचार किया है।[४] किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम अतिशयोक्ति का विवेचन किया है तथा उसे ही समस्त अलकारो का प्राणभूत कहा है।[५]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा प्रतिपादित अलकारों पर प्रमुख रूप से मम्मट का प्रभाव लक्षित होता है तथा जिन परिणाम-उल्लेख आदि अलकारो को रुय्यक से ग्रहण किया है, उन पर रुय्यक का ही प्रभाव है। अर्थापत्ति अलकार पर भोज की अपेक्षा रुय्यक का प्रभाव अधिक है।[६] रसवदादि अलकारो को

---

१ द्रष्टव्य, काव्यालकार-भामह, ३।१।

२ द्रष्टव्य, अलकारानुशीलन, पृ० ४१८।

३ अलकारसर्वस्व, पृ० १५८, १३५,४९८, ५९१।

४ द्रष्टव्य, (क) मूल चोपमा ।—काव्यालकारसूत्र, ४।२।१ उत्थानिका।
(ख) उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालकारबीजभूतेति प्रथम निर्दिष्य।
—अलकारसर्वस्व, सूत्र १२ वृत्ति।

५ सर्वालकारचैतन्यभूतत्वात् प्रथममतिशयोक्ति विशेषतो लक्षयति।
—अलकारमहोदधि, पृ० २२७।

६ तुलना कीजिए प्रस्तुतादितरस्माच्च दण्डापूपिकया बलात्।
योऽर्थादर्थान्तरापात साऽर्थापत्तिर्द्विधा मता॥
—अलंकारमहोदधि, ८।७२।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया है। पर कुछ लोगों ने प्रतिपादन किया है, अतः उन्होंने भी रसवदादि का उल्लेख कर दिया है।[1]

विजयवर्णी ने ४७ अर्थालंकारों का विवेचन किया है—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, आवृत्ति, हेतु, दीपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, आक्षेप, अतिशय, सूक्ष्म, समासोक्ति, लव (लेश), क्रम, उदात्त, अपह्नुति, प्रेय, विरोध, रसवत्, उर्जस्व, अप्रस्तुतप्रशंसा, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्त, सहोक्ति, परिवृत्ति, समाहित, श्लिष्ट, निदर्शन, व्याजस्तुति, आशी:, समुच्चय, वक्रोक्ति, अनुमान, विषम, अवसर, प्रतिवस्तूपमा, सार, भ्रान्तिमान्, संशय, एकावली, परिकर, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर और संकर।[2] इनमें से ३१ अलंकार दण्डी-सम्मत हैं। दण्डी ने समाधि, विशेष, संसृष्टि और भाविक—इन ४ अन्य अलंकारों को स्वीकार किया है, किन्तु विजयवर्णी ने उक्त ४ अलंकारों को मान्यता न देकर अन्य जिन ७ अलंकारों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—विशेषोक्ति, समाहित, समुच्चय, वक्रोक्ति, अनुमान, विषम, अवसर, प्रतिवस्तूपमा, सार, भ्रान्तिमान, संशय, एकावली, परिकर, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर और संकर।

आचार्य मम्मट ने जिन ६१ अलंकारों को स्वीकार किया है, उनमें से अनन्वय, उपमेयोपमा, दृष्टान्त, विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्याय, व्याजोक्ति, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, असंगति, समाधि, सम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, स्मृति, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात और संसृष्टि—इन २५ अलंकारों को विजयवर्णी ने अलंकारत्व प्रदान नहीं किया है। किन्तु इन्होंने आवृत्ति, हेतु, लव (लेश), प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्व, समाहित, आशी:, वक्रोक्ति, अवसर और प्रश्नोत्तर—इन ११ अन्य अलंकारों को स्वीकार किया है, जिनमें आवृत्ति का दण्डी तथा हेतु, लव, (लेश), प्रेय, रसवत, उर्जस्व, समाहित, और आशी—इन ७ अलंकारों का आचार्य भामह प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। इसी

प्रत्यक्षादि प्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरञ्च गमयति अर्थापत्तिर्वदन्ति ताम्॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२१६ (अलंकारानुशीलन, पृ० ४१८)
दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्ति।
—अलंकारसर्वस्व, सूत्र ६४।

१ अलंकारमहोदधि, ८।८५-८६।
२ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ९।८-९३।

प्रकार हेतु, अवसर और प्रश्नोत्तर का उल्लेख जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने किया है। अतः इतना तो निश्चित है कि विजयवर्णी ने किसी नवीन अलकार की उद्भावना नहीं की है।

विजयवर्णी ने यथासख्य अलकार के लिए क्रमालकार की संज्ञा दी है, यह इसके स्वरूप से स्वतः स्पष्ट हो जाता है[1], उन्होंने वक्रोक्ति अलकार को शब्दालंकार भी स्वीकार किया है और अर्थालंकार भी।[2]

विजयवर्णी ने उपमा के जिन ३२ भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है[3], वे सभी भेद दण्डी-सम्मत हैं।[4] इनके अतिरिक्त रूपक, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप आदि अलकार-भेदो पर भी दण्डी का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि विजयवर्णी के अलकार-विवेचन पर दण्डी का प्रभाव सर्वाधिक है।

आचार्य अजितसेन ने ७२ अर्थालकारो का विवेचन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मृति, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशय, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, मीलन, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, विरोध, विशेष, अधिक, विभाव (विभावना), विशेषोक्ति, असगति, चित्र (विचित्र), अन्योन्य, विषम, सामान्य (सम), तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, परिकरांकुर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतस्तुति (अप्रस्तुतप्रशंसा), पर्यायोक्त, प्रतीप, अनुमान, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, यथासख्य, अर्थापत्ति, परिसख्या, उत्तर, विकल्प, समुच्चय, समाधि, भाविक, प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वी, प्रत्यनीक, व्याघात, पर्याय, सूक्ष्म, उदात्त, परिवृत्ति, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, ससृष्टि और सकर।[5] इनमें ६९ अलकार तो वे ही हैं जिन्हें मम्मट ने स्वीकार किया है। शेष जिन अन्य ११ अलकारों को अजितसेन ने मान्यता प्रदान की है, उनके

---

१ उक्तानां यत्र वाच्यानां योगो वाच्यान्तरैः सह।
क्रमेण कथितः सोऽत्र क्रमालकार उच्यते॥
—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ९।१८९।

२ द्रष्टव्य, वही, ९।४,११।

३ वही, ९।२४-५६।

४ द्रष्टव्य, काव्यादर्श, २।१५-५०।

५ अलकारचिन्तामणि, ४।७-१०।

नाम इस प्रकार हैं—परिणाम, उल्लेख, वक्रोक्ति, विचित्र, परिकराकुर, अर्थापत्ति, विकल्प, प्रेयस्, रसवद, ऊर्जस्वी और मालादीपक। मम्मट ने मालादीपक को दीपक का ही एक प्रकार माना है।[१] अजितसेन ने वक्रोक्ति को विजयवर्णी के समान शब्दालकार भी स्वीकार किया है और अर्थालकार भी[२], जब कि आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालकार माना है।[३]

आचार्य अजितसेन[४] का उपमा-लक्षण विद्यानाथ[५] से प्रभावित है। उन्होंने पूर्णोपमा के जिन भेदो का उल्लेख किया है, वे मम्मट-सम्मत हैं,[६] किन्तु लुप्तोपमा के भेदो पर आचार्य मम्मट का प्रभाव तो है ही, साथ ही उन्हें उपमा के दण्डी-सम्मत भेद भी स्वीकार हैं, जिनका उन्होने सोदाहरण विवेचन किया है।[७] इसी प्रकार रूपक आदि अलकारा की भेद व्यवस्था भी मम्मट से गृहीत है।[८]

अजितसेन द्वारा प्रतिपादित अर्थान्तरन्यास का लक्षण मम्मट से भिन्न है। मम्मट ने साधर्म्य और वैधर्म्यपूर्वक सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास कहा है।[९] किन्तु अजितसेन ने सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन के अतिरिक्त कारण से कार्य के

---

१ द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, १०।१०४।

२, अलकारचिन्तामणि, ३।१,१०।

३ द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, ९।७७।

४ वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वत सिद्धेन धर्मत।
भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्य यत्रोपमैकदा॥—अलकारचिन्तामणि, ४।१८।

५ तुलना कीजिए,
स्वत सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मत।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्य चेदेकदोपमा॥—प्रतापरुद्रीय, पृ० २५४।

६ द्रष्टव्य, अलकारचिन्तामणि, ४।३०-३१।

७ द्रष्टव्य, वही, ४।३८-३९।

८ द्रष्टव्य, वही, पृ० १४३।

९ सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास साधर्म्येणेतरेण वा॥
—काव्यप्रकाश, १०।१०९।

समर्थन को भी अर्थान्तरन्यास कहा है।[1] इसके अतिरिक्त अजितसेन ने परिणाम, उल्लेख, विचित्र, विकल्प और मालादीपक—इन अलंकारों का विवेचन रुय्यक को आधार मानकर किया है[2] तथा परिकरांकुर और अर्थापत्ति—इन

---

१. ससामान्यविशेषत्वात् कार्यकारणभावत ।
प्रकृत यत्समर्थेनार्थान्तरन्यसन मतम् ॥
—अलकारचिन्तामणि, ४।२७४।

२ तुलना कीजिए—
आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम ।
—अलकारसर्वस्व, सू० १७।
आरोपविषयत्वेनारोप्य यत्रोपयोगि च ।
प्रकृते परिणामोऽसौ द्विधैकार्थेतरत्वत ॥—अलकारचिन्तामणि, ४।१२५।
एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेख ।
—अलकारसर्वस्व, सू० २०।
एकस्य शेषरुच्यर्थयोगैरुल्लेखन बहु ।
गृहीतृभेदादुल्लेखालकार स मतो यथा ॥—अलकारचिन्तामणि, ४।१३८।
स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।—अलकारसर्वस्व, सू० ४८।
स्वविरुद्धफलाप्त्यर्थमुद्योगो यत्र तन्यते ।
विचित्रालकृति प्राहुस्तां विचित्रविदो यथा ॥
—अलकारचिन्तामणि, ४।२०८।
तुल्यबलविरोधो विकल्प ।
विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वात्तुल्यबलयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव यौगपद्यासभवे विकल्प ।
—अलकारसर्वस्व, सू० ६५ सवृत्ति।
विरोधे तु द्वयोर्यत्र तुल्यमानविशिष्टयो ।
औपम्याद्युगपत्प्राप्तौ विकल्पालंकृतिर्यथा ॥
—अलकारचिन्तामणि, ४।२९३।
पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ।
—अलंकारसर्वस्व, सू० ५६।
यत्रोत्तरोत्तर प्रत्युत्कृष्टत्वावहता भवेत् ।
पूर्वपूर्वस्य मं चैतन्मालादीपकमिष्यते ॥
—अलंकारचिन्तामणि, ४।३३०।

दो अलंकारों के लक्षण क्रमश जयदेव[1] और विद्यानाथ[2] के लक्षणो से प्रभावित हैं। शेष रसवदादि अलकारों में भामह का अनुकरण है।[3]

वाग्भट-द्वितीय ने ६३ अर्थालकारो का विवेचन किया है—जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, आक्षेप, विरोध, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, व्यतिरेक, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, अन्य, अपर, परिसख्या, कारणमाला, निदर्शन, एकावली, यथासख्य, परिकर, उदात्त, समाहित, विभावना, अन्योन्य, मीलित, विशेष, पूर्व, हेतु, सार, सूक्ष्म, लेश, प्रतीप, पिहित, व्याघात, असगति, अहेतु, श्लेष, मत, उत्तर, उभयन्यास, भाव, पर्याय, व्याजोक्ति, अधिक, प्रत्यनीक, अनन्वय, तदगुण, अतदगुण, सकर और आशी।[4] उन्होंने उक्त अलकार गणना के अन्त मे 'प्रभृतय' पद का प्रयोग किया है।[5] इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट-द्वितीय को ऊपर कहे गये अलकारो के अतिरिक्त भी कुछ अन्य अलकार अभीष्ट थे, किन्तु उनका उन्होने कही भी सकेत नही किया है। मम्मट ने जिन ६१ अर्थालकारों को स्वीकार किया है, उनमें से उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विशेषोक्ति, विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, समाधि, सामान्य और ससृष्टि—इन ११ अलकारो का वाग्भट-द्वितीय ने उल्लेख नही किया है तथा अन्योक्ति, अन्य, अपर, समाहित पूर्व, हेतु, लेश, पिहित, अहेतु, मत, उभयन्यास, भाव और

---

१ तुलना कीजिए—

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराकुर।—चन्द्रालोक, ५।४०।

विशेष्ये साभिसंधौ तु मत परिकराकुर।—अलकारचिन्तामणि, ४।२४६।

२ तुलना कीजिए—

एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यदापतेत्।

कैमुत्यन्यायत सा स्यादर्थापत्तिरलक्रिया॥—प्रतापरुद्रीय, पृ० ३२५।

यत्र कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तावन्यदापतेत्।

वस्तु कैमुत्यसंन्यायादर्थापत्तिरिय यथा॥—अलकारचिन्तामणि, ४।२८१।

३ द्रष्टव्य, काव्यालकार, ३।५-७, अलकारचिन्तामणि, ४।३०६-३०९।

४ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३२।

५ आशी प्रभृतयोऽर्थालकारा।—वही, पृ० ३२।

आशी —इन १३ अन्य अलंकारों का उल्लेख किया है ।[1]

वाग्भट-द्वितीय का उपमा-लक्षण उद्भट से प्रभावित है[2] तथा उसके भेद दण्डी सम्मत हैं ।[3] उन्होंने सामान्य से विशेष के समर्थन को अर्थान्तरन्यास कहा है,[4] यह हेमचन्द्र का अनुकरण है । इसी प्रकार व्याजस्तुति, परिवृत्ति, अनुमान, भ्रान्ति, विषम, सम, परिसंख्या, कारणमाला, श्लेष और संकर आदि अलंकारों के लक्षण भी हेमचन्द्र से प्रभावित हैं ।[5]

भावदेवसूरि ने ५२ अर्थालंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, जाति, व्यतिरेक, दीपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, अर्थान्तर-न्यास, व्याजस्तुति, समाधि, परिवृत्ति, तुल्ययोगिता, श्लेष, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति,

---

१ इन अलंकारों का लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

उपमेयस्यैवोक्तावन्यप्रतीतिरन्योक्ति —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३५ ।

अनेकेषामेकत्र निबन्धस्तवन्य ।—वही, पृ० ४१ ।

गुणक्रियाया युगपदभिधानमपर ।—वही, पृ० ४१ ।

कार्यमारभमाणस्य दैवादुपायसपत्ति समीहितम् ।—वही, पृ० ४२ ।

अर्वाचीनस्यार्थस्य पृथगभिधान पूर्वम् ।—वही, पृ० ४३ ।

कार्यकारणयोरभेदो हेतु ।—वही, पृ० ४३ ।

कार्यतो गुणदोषविपर्ययो लेश ।—वही, पृ० ४३ ।

एकत्राधारे यत्राधेयद्वयस्यैकेनैक पिधीयते तत्पिहितम् ।—वही, पृ० ४३ ।

विकारहेतावप्यविकृतिरहेतु ।—वही, पृ० ४४ ।

प्रकृतमुत्क्षिप्य वक्ता यदन्यथा मन्यते तन्मतम् ।—वही, पृ० ४४ ।

सामान्य सामान्येन यत्समर्थ्यते स उभयन्यासः ।—वही, पृ० ४४ ।

यत्र प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपयोगी स भाव ।—वही, पृ० ४४ ।

इष्टार्थस्याशंसनमाशी ।—वही, पृ० ४६ ।

२ तुलना कीजिए—

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो ।

मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत् ॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह-उद्भट, १।१५, पृ० २८० ।

चमत्कारि साम्यमुपमा ।—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३३ ।

३ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३३ ।

४ विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यास । साधर्म्येण वैधर्म्येण च ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३८ ।

५ द्रष्टव्य, काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३९-४५ ।

विनोक्ति, सहोक्ति, पर्यायोक्ति, हेतु, विरोध, असंगति, दृष्टान्त, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, भ्रान्ति, स्मृति, सन्देह, अपह्नुति, विषम, दैवक, उत्तर, उदात्त, सार, अन्योन्य, समुच्चय, कारणमाला, आशिष्, यथासंख्य, तद्गुण, एकावली, रसवत्, प्रेय, परिसंख्या, सूक्ष्म, उल्लेख, विशेष, प्रतीप, संसृष्टि और भाविक ।[1] उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत भावदेवसूरि ने मम्मट-सम्मत अनन्वय, उपमेयोपमा, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, विशेषोक्ति, काव्यलिंग, पर्याय, अनुमान, परिकर, सम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, सामान्य, अतद्गुण, व्याघात और संकर—इन १७ अलंकारों को स्थान नहीं दिया है तथा हेतु, अत्युक्ति, दैवक, आशिष्, रसवत, प्रेय और उल्लेख—इन ७ अलंकारों का प्रतिपादन किया है। वक्रोक्ति का उल्लेख उन्होंने शब्दालंकारों में भी किया है और अर्थालंकारों में भी ।[2] यतः उनका अलंकार-विवेचन अति संक्षिप्त है, अतः कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता है ।

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त अलंकार-विवेचन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने किसी प्राचीन आचार्य विशेष को पूर्ण मान्यता प्रदान नहीं की है, अपितु जिस आचार्य की जिस युक्ति को श्रेष्ठ समझा, उसे तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार किया है और अलंकारों की संख्या को लेकर किन्हीं भी दो आचार्यों में साम्य नहीं है। यहाँ तक कि किन्हीं दो जैनाचार्यों की संख्या में भी साम्य नहीं है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जैनाचार्यों द्वारा निरूपित अलंकार-लक्षणों और भेदों पर आचार्य भामह, दण्डी, रुय्यक, भोज, और मम्मट आदि आचार्यों का पुष्कल प्रभाव है, जिनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण से तत्-तत् स्थानों पर आवश्यकतानुसार उल्लेख किया गया है ।

अलंकारों का वर्गीकरण

अलंकारों के वर्गीकरण का मूलस्रोत भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है, किन्तु शब्दकृत वर्गीकरण करने वाले प्रथम आचार्य भामह हैं। उन्होंने अलंकारों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उसे आकृतिमूलक-वर्गीकरण की संज्ञा दी जा सकती है, जिसका अनुकरण बहुतेरे परवर्ती आचार्यों ने किया है । प्रारम्भ में यह वर्गीकरण शब्दालंकार और अर्थालंकार तक ही सीमित था, पुनः दोनों के एक सम्मिलित रूप उभयालंकार नामक तृतीय वर्ग की कल्पना की गई है। तत्पश्चात् संसृष्टि और संकर जैसे दो अलंकारों के मिश्रण को लेकर चतुर्थ मिश्रालंकार

१. काव्यालंकारसारसंग्रह-भावदेवसूरि, ६।१-५ ।
२. द्रष्टव्य, वही, ५।१, ६।२ ।

की कल्पना भी सामने आई, जो तर्क संगत है। इसका विवेचन प्रारम्भ में किया जा चुका है।

कालान्तर में अर्थालंकारों के वर्गीकरण को लेकर एक अन्य दृष्टि सामने आई, जिसमें अलंकारों के स्वरूप को ध्यान में रखकर उसके मूल में विद्यमान सादृश्य, विरोध, शृङ्खला आदि को आधार मानकर अलंकार-वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया, जिसे प्रकृतिमूलक वर्गीकरण की संज्ञा दी जा सकती है। इस नवीन दृष्टि से विचार करने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य रुद्रट को है। उन्होंने अर्थालंकारों को चार वर्गों मे विभाजित किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।[1]

वास्तवमूलक वर्ग—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।[2]

औपम्यमूलक वर्ग—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।[3]

अतिशयमूलक वर्ग—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, अतद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात और अहेतु।[4]

श्लेषमूलक वर्ग—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उचित, असम्भव, अवयव, तत्व और विरोधाभास।[5]

श्लेषमूलक वर्ग में आये हुए ये दस अलंकार रुद्रट के टीकाकार जैनाचार्य नमिसाधु के अनुसार शुद्धश्लेष के अन्तर्गत आते हैं तथा संसृष्टि और संकर को संकीर्ण के भेद कहा है।[6]

---

१ अथस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

—काव्यालंकार-रुद्रट, ७।१।

२ वही, ७।११-१२। ३. वही, ८।२-३।

४ वही, ९।२। ५ वही, १०।२।

६ एवं शुद्धानलंकारान्सप्रभेदानाख्यायाधुना पूर्वकथितलक्षणमिश्रत्वं संकीर्णमिता-नाह।

—वही, १०।२४ की नमिसाधुकृत व्याख्या।

आचार्य रुद्रट ने उपर्युक्त जिन चार वर्गों में अलंकारों का वर्गीकरण किया है, उनका आधार अलंकारों के स्वरूप के मूल में पाई जाने वाली समानता है। अर्थात् जिन अलंकारों के मूल में वस्तु के स्वरूप का कथन स्पष्ट है वे वास्तवमूलक,[1] जिनके मूल में सादृश्य है वे सादृश्यमूलक[2], जिनके मूल में अतिशयता (लोकोत्तरता) है वे अतिशयमूलक[3] और जिनके मूल में अनेकार्थक पदों को लेकर वाक्य संयोजन किया गया है वे श्लेषमूलक[4] वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। रुद्रट ने निम्न अलंकारों को दो वर्गों में समान रूप से स्थान दिया है

सहोक्ति	वास्तवमूलक और औपम्यमूलक
समुच्चय	वास्तवमूलक और औपम्यमूलक
उत्तर	वास्तवमूलक और औपम्यमूलक
हेतु	वास्तवमूलक और अतिशयमूलक
विषम	वास्तवमूलक और अतिशयमूलक
उत्प्रेक्षा	औपम्यमूलक और अतिशयमूलक
पूर्व	औपम्यमूलक और अतिशयमूलक

आचार्य रुय्यक[5] ने अर्थालंकारों को प्रमुख रूप से पाँच वर्गों में विभाजित किया है—(१) सादृश्यमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) शृङ्खलामूलक, (४) न्यायमूलक और (५) गूढार्थप्रतीतिमूलक।

(१) सादृश्यमूलक

(क) भेदाभेदतुल्यप्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

---

१ वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम्॥—काव्यालंकार-रुद्रट, ७।१०।

२ सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥—वही, ८।१।

३ यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥
—वही, ९।१।

४. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥ —वही, १०।१।

५ द्रष्टव्य, अलंकारसर्वस्व।

(ख) अभेदप्रधान—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

(ग) गम्यमान-औपम्यमूलक—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप।

(२) विरोधमूलक

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष और व्याघात।

(३) शृङ्खलामूलक :

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(४) न्यायमूलक

(क) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग और अनुमान।

(ख) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय और समाधि।

(ग) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर।

(५) गुणार्थप्रतीतिमूलक :

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति।

इनके अतिरिक्त रुय्यक ने संसृष्टि और संकर को संश्लेष पर आधारित माना है तथा भाविक, उदात्त, स्वभावोक्ति, रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को अवर्गीकृत रखा है। परिणाम, उल्लेख, विकल्प और विचित्र—ये उनके द्वारा मान्य नवीन अलंकार हैं।

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि[1] ने अर्थालंकारों को छ: वर्गों में विभाजित किया है—(१) अतिशयोक्तिमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) शृङ्खलामूलक, (विशिष्ट-वाक्यसन्निवेशमूलक, (५) लोकन्यायमूलक और (६) रसवदादि।

---

१ द्रष्टव्य, अलंकारमहोदधि।

(१) अतिशयोक्तिमूलक—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति और श्लेष।

(२) विरोधमूलक—विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य और विशेष।

(३) शृङ्खलामूलक—कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिंग और अनुमान।

(४) विशिष्टवाक्यसन्निवेशमूलक—यथासंख्य, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय और समाधि।

(५) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त।

(६) रसवदादि—रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, संसृष्टि और संकर।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अतिशयोक्ति वर्ग में आये हुए अलंकारों को कोई नाम नहीं दिया है, किन्तु भामह की तरह अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति को ही स्वीकार किया है।[1] इसके समर्थन में उन्होंने भामह के काव्यालंकार से एक कारिका[2] उद्धृत की है, जिससे स्पष्ट होता है कि नरेन्द्रप्रभसूरि प्रारम्भिक २८ अलंकारों को अतिशयोक्तिमूलक मानते हैं। शेष वर्गों का विभाजन उन्होंने नामोल्लेखपूर्वक किया है।

अजितसेन ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है—(१) प्रतीयमान शृङ्गार-रस-भावादिरूप, (२) स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप, (३) अस्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप और (४) प्रतीयमान औपम्यादिरूप।[3]

---

१ तामेता सर्वामप्यतिशयोक्तिं वदन्ति विद्वांसो ब्रुवते।

—अलंकारमहोदधि, पृ० २३१।

२ सैषा सर्वाऽपि वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

—द्रष्टव्य, वही, पृ० २३१।

३ प्रतीयमानशृङ्गाररसभावादिका मता।
स्फुटा प्रतीयमानाऽन्या वस्त्वौपम्यतवादिके॥—अलंकारचिन्तामणि, ४।४।

(१) प्रतीयमान शृङ्गाररस-भावादिरूप—प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, समाहित और भाविक ।[1]

(२) स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप—व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, परिकर, अनन्वय, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और अनुक्तनिमित्त-विशेषोक्ति ।[2]

(३) अस्फुटप्रतीयानवस्तुरूप—उपमा, विनोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास, विभावना, उक्तिनिमित्त-विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र (विचित्र), अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, दीपक, व्याघात, माला, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, अर्थापत्ति, सार, पर्याय, परिवृत्ति, समुच्चय, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मीलन, सामान्य, असंगति, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, व्याजोक्ति, प्रतिपदोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त ।[3]

(४) प्रतीयमान औपम्यादिरूप—परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नव (अपह्नुति), उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति ।[4]

अजितसेन ने एक अन्य प्रकार से भी अलंकारों का वर्गीकरण किया है,[5] जो इस प्रकार है—

(१) अध्यवसायमूलक—अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा ।

(२) विरोधमूलक—विषम, विशेषोक्ति, विभावना, चित्र (विचित्र), असंगति, अन्योन्य, व्याघात, तद्‌गुण, भावि और विशेष ।

(३) वाक्यन्यायमूलक—परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, यथासंख्य और समुच्चय ।

(४) लोकव्यवहारमूलक—उदात्त, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम, समाधि, पर्याय, परिवृत्ति, प्रत्यनीक और तद्‌गुण ।

(५) तर्कन्यायमूलक—अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग और अनुमान ।

१-४ अलंकारचिन्तामणि, पृ० ११२ ।
५ वही, पृ० ११४ ।

(६) शृङ्खलावैचित्र्यहेतुक—दीपक, सार, कारणमाला, एकावली और माला।

(७) अपह्नवमूलक—मीलन, वक्रोक्ति और व्याजोक्ति।

(८) विशेषणवैचित्र्यहेतुक—परिकर और समासोक्ति।

उपर्युक्त अलकार-वर्गीकरण के प्रसग में रुद्रट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि और अजितसेन—इन चार आचार्यों के मतो को उद्धृत किया गया है, जिनमें अन्तिम दो जैनाचार्य हैं।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का अलकार-वर्गीकरण रुय्यक से प्रभावित है। अन्तर केवल इतना है कि रुय्यक ने जिन अलकारो के मूल में सादृश्य को स्वीकार किया है, वही नरेन्द्रप्रभसूरि ने उनके मूल में अतिशयोक्ति माना है। रुय्यक ने रसवदादि अलकारो को अवर्गीकृत रखा है, किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने उन्हें रसवदादि की सज्ञा से अभिहित किया है। शेष विवेचन में प्राय समानता है।

अजितसेन ने दो प्रकार से अलकार वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो विद्यानाथ से पूर्णत प्रभावित है। जहाँ विद्यानाथ ने मालादीपक अलकार का उल्लेख किया है, वहाँ अजितसेन ने माला और दीपक—इन दो अलंकारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है, जो उचित प्रतीत नही होता है, क्योंकि अजितसेन ने 'माला' अलकार की गणना नही की है।



६ | ध्वनि-विचार

ध्वनि का स्रोत

ध्वनि का मौलिक विवेचन व्याकरणशास्त्र में मिलता है, जिसे वैयाकरण स्फोट-सिद्धान्त के नाम से अभिहित करते हैं। वहीं से ध्वनि शब्द काव्यशास्त्र में गृहीत है, जिसका संकेत ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण में 'सूरिभि.' पद से किया है।[१] पुन 'सूरिभि' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—मुख्य रूप से प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वे सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं—

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।'[२]

वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप माने हैं—नित्य और अनित्य। वैखरी ध्वनि से व्यंग्य, बुद्धि ग्राह्य स्फोट रूप शब्द नित्य है और जिसकी सत्ता सुनने के द्वितीय क्षण में विनष्ट हो जाती है, वह अनित्य है। जैसे—जब 'राम' आदि पदों का उच्चारण किया जाता है, तब सुनाई देने के साथ ही विनष्ट होने वाला शब्द अनित्य है और स्फोट रूप में गृहीत होने वाला शब्द नित्य है।

अलंकारशास्त्र अपने प्रारम्भिक काल में एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत आबद्ध था। तत्कालीन विद्वान् काव्य को शब्दार्थ साहित्य के रूप में प्रतिपादित कर शब्द और अर्थ के विषय में अपने-अपने ढंग से विवेचन करने में संलग्न थे। उसमें सर्वाधिक महत्ता अलंकारों को प्राप्त थी। यहाँ तक कि रस जैसे सहृदय-गम्य तत्त्व को अलंकारों का आवरण पहिनाकर रसवद् आदि अलंकारों की कल्पना की गई। उस समय तक काव्य की आत्मा 'ध्वनि' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की ओर किसी का विशेष ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। अगर किसी ने

---

१ ध्वन्यालोक, १।१३।

२ वही, १।१३ वृत्ति।

उस ओर भी ध्यान दिया तो उसका विचार शब्द और अर्थ की संघटना से ऊपर नहीं उठ पाया। आनन्दवर्धन के द्वारा काव्य में आत्मा के रूप में ध्वनि की स्थापना से पूर्व विद्वत्समाज में विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित थी। जिनका उल्लेख आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ मे स्पष्ट रूप से किया है।[1]

१—कुछ लोग ध्वनि का सर्वथा अभाव मानते थे।

२—अन्य लोग लक्षणा में उसको गतार्थ करते थे।

३—शेष लोग ध्वनि को अनिर्वचनीय मानते थे।

ऐसी स्थिति में ध्वनि जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व की स्थापना करना आनन्दवर्धन जैसे समर्थ आचार्य के लिए ही सम्भव था। अत उन्होंने एक ही विषय का पुन पुन उल्लेख और उसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर लोगो को उस ओर आकृष्ट किया। इसी कारण संस्कृत साहित्य में आनन्दवर्धन को ध्वनि-प्रतिष्ठापक के नाम से आज भी सम्मानित किया जाता है। ध्वनि-सिद्धान्त का उदबोध कराने के लिए सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य आनन्दवर्धन का कृतज्ञ है।

जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया गया है कि अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक काल में ध्वनि-सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त नहीं थी। अत उसकी प्रतिष्ठा आचार्य आनन्दवर्धन ने की। पुन ईसा की ग्यारहवी शताब्दी में आचार्य महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के लगभग चालीस उदाहरणो को प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया है तथा ध्वनि का सयुक्तिक खण्डन किया है। किन्तु परवर्ती आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र ने महिमभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की पुन प्रतिष्ठा की है, जिससे ध्वनि-सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और उसका श्रेय नि सन्देह आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र को है।

---

१ काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्य समाम्नातपूर्व
स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचित् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीय
तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्॥

—ध्वन्यालोक, १।१।

ध्वनि-स्वरूप :

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का प्रतीयमान अर्थ के नाम से भी उल्लेख किया है।[1] उनके अनुसार व्यग्य की प्रधानता ही ध्वनि है।[2] अन्यत्र उन्होंने ध्वनि का लक्षण करते हुए लिखा है कि—जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को त्यागकर अन्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) को अभिव्यक्ति कराते हैं, उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहते हैं।[3]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने ध्वनि का लक्षण करते हुए लिखा है कि—'मुख्याद्यतिरिक्त प्रतीयमानो व्यङ्ग्यो ध्वनि'[4]—अर्थात् मुख्य आदि (आदि पद से गौण और लक्ष्यार्थ) के अतिरिक्त प्रतीयमान व्यग्यार्थ ध्वनि है। विजयवर्णी के अनुसार मुख्य, लक्ष्य और ग ण से भिन्न जो व्यग्य रूप अर्थ की प्रतीति होती है वह ध्वनि है।[5] इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि—अनुगत वस्तुओं में वाक्यार्थ के उपकार के लिए भिन्नार्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-व्यापार व्यजनावृत्ति (ध्वनि) है।[6] निष्कर्ष यह है कि सभी आचार्यों को मुख्यादि से पृथक् प्रतीत होने वाला अर्थ ही ध्वनि के रूप मे मान्य है।

ध्वनि शब्द का प्रारम्भ से ही दो अर्थों में व्यवहार होता आ रहा है—सामान्यत व्यग्य अर्थ को समझाने के लिए और काव्यविशेष को समझाने के लिए। जैनाचार्यों ने प्रथम अर्थ को ही ध्यान में रखकर विवेचन किया है, जब कि आनन्दवर्धन ने द्वितीय अर्थ को ध्यान में रखकर ध्वनि-स्वरूप निरूपण किया है।

---

१ प्रतीयमान पुनरन्यदेव ॥ ध्वन्यालोक, १।४।

२ व्यग्यप्राधान्ये हि ध्वनि ।—वही, पृ० ५६।

३ यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥—वही, १।१३।

४ काव्यानुशासन, १।१९।

५ मुख्यार्थाल्लक्ष्यतो गौणाद्भिन्नो योऽर्थ प्रतीयते।
स व्यग्यो ध्वनिरित्युक्त कलाशास्त्रविशारदै ॥
—शृगारार्णवचन्द्रिका, २।२४।

६ अनुगतेषु वस्तुषु वाक्यार्थोपस्काराय भिन्नार्थगोचर शब्दव्यापारो व्यजनावृत्ति । —अलकारचिन्तामणि, पृ० २६८।

ध्वनि-वैविध्य—आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम ध्वनि के तीन भेदों को स्वीकार किया है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि।[1] प्रथम दो भेद संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य हैं और अन्तिम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। उन्होंने ध्वनि के प्रथम भेद वस्तु-ध्वनि के पांच भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) किस प्रकार वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला होता है।[2]

जैनाचार्य हेमचन्द्र[3] और नरेन्द्रप्रभसूरि[4] ने भी सर्वप्रथम आनन्दवर्धन-सम्मत ध्वनि के वस्तु, अलंकार और रसध्वनि नामक उक्त तीन भेदों को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने ध्वनि के प्रथम भेद वस्तुध्वनि के पृथक्-पृथक् तेरह भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ से भिन्न और विविध प्रकार का हो सकता है। उनके अनुसार कहीं वाच्यार्थ विधि रूप है और प्रतीयमानार्थ निषेध रूप। यथा—

भम धम्मिय वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइ कच्छकुडङ्गवासिणा दरियसीहेण॥[5]

'हे पण्डितजी महाराज! अब निःशंक होकर घूमो, क्योंकि गोदावरी के किनारे कुञ्ज में रहने वाले उन्मत्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है।' यहाँ 'निःशंक होकर घूमो' इस प्रकार विधिपरक वाक्य के होने पर भी वहाँ कुञ्ज में सिंह है और तुम कुत्ते से भी डरते हो, इसलिए तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिए, इस प्रकार निषेध की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ निषेधपरक होता है और प्रतीयमानार्थ विधिरूप। यथा—

अत्ता एत्थ णु मज्जइ एत्थ अहं दियसयं पुलोएसु।
मा पहिय रत्तिअंधय सेज्जाए मह णु मज्जिहसि॥[6]

'हे रतौंधी आने वाले पथिक! तुम दिन में ही अच्छी तरह से देख लो, यहाँ सास सोती है और यहाँ मैं। रात्रि में हम दोनों की शय्या पर मत गिर पड़ना।' यहाँ 'हम दोनों की शय्या पर मत गिर पड़ना' इस प्रकार निषेधपरक वाक्य

---

१ ध्वन्यालोक, पृ० २०। २ वही, पृ० २०-२५।

३ अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रेधा।—काव्यानुशासन, पृ० ४७।

४ यद्यप्यनेकधा व्यङ्ग्यं व्यञ्जकादिविभेदतः।
तथापि वस्त्वलंकार-रसात्मत्वात् त्रिधैव तत्॥—अलंकारमहोदधि, ३।६।

५ काव्यानुशासन, पृ० ४७। ६ काव्यानुशासन, पृ० ५३।

होने पर, यह सास की शय्या है और यह मेरी, इस प्रकार दिन में देखकर रात्रि में तुम्हें यहाँ मेरे पास आना चाहिए, इस विधिपरक अर्थ की प्रतीति हो रही है।

कहीं मुख्यार्थ विधिपरक होता है और प्रतीयमानार्थ विध्यन्तर रूप। यथा—

बहलतमाहयराइ अज्ज पउत्थो पई घरं सुन्नं।
तह जग्गिज्ज सयज्झय न जहा अम्हे मुसिज्जामो॥[1]

'यह रात्रि बड़ी दुःखदायिनी और अन्धकारपूर्ण है, पतिदेव परदेश गये हैं और घर सूना है, इसलिए हे पड़ोसी! तुम जागते रहना, जिससे हमारी चोरी न हो जाये।' यहाँ 'हमारी चोरी न हो जाए, अतः तुम जागते रहना' इस प्रकार विधि का कथन होने पर, रात्रि अन्धकार युक्त है, पतिदेव परदेश गये हैं, घर सूना है, अतः तुम निर्भय होकर मेरे पास आ जाओ, इस प्रकार विध्यन्तर की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होता है और प्रतीयमानार्थ निषेधान्तर रूप। यथा—

आसाइय अणाएण जेत्तिय तेत्तियेण बंधदिहिं।
ओरमसु वसह इण्हिं रक्खिज्जइ गहवईच्छित्त॥[2]

'हे वृषभ! अन्याय पूर्वक जितना प्राप्त कर लिया है उतने से धैर्य धारण करो और निवृत्त हो जाओ। इस समय गृहपति के द्वारा खेत की रक्षा की जा रही है।' इस प्रकार यहाँ गृहपति के क्षेत्र में दुष्ट वृषभ के निवारण (निषेध) रूप वाच्यार्थ से उपपति के निवारण रूप निषेधान्तर की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ न विधि रूप है और न निषेध रूप, फिर भी विधि की प्रतीति होती है। यथा—

महुएहिं किंव पंथिय जइ हरसि नियसणं नियंबाओ।
साहेमि कस्स रण्णे गामो दूरे अहं एक्का॥[3]

'हे मधुक! अथवा हे पथिक! यदि तुम मेरे नितम्ब से सम्पूर्ण वस्त्र को हटाते हो, तो मैं इस जंगल में किससे कहूँ, गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ।' यहाँ विधि और निषेध के न कहने पर भी मैं अकेली हूँ, गाँव दूर है, इस प्रकार

१. काव्यानुशासन, पृ० ५३। २. वही, पृ० ५४।
३. वही, पृ० ५४।

निर्जन देश के उपदेश से 'मेरा नितम्ब-वस्त्र भी हरण कर लो' इस प्रकार विधि की प्रतीति हो रही है।

कहीं विधि और निषेध के न होने पर भी निषेध की प्रतीति होती है। यथा—

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता॥[1]

'जीने की इच्छा प्रबल है, धन प्राप्ति की इच्छा विशेष नहीं (दुर्बल) है। हे प्रिय ! अब चाहे तुम चले जाओ, अथवा रुक जाओ, मैंने अपनी अवस्था कह दी है।' यहाँ 'चले जाओ अथवा रुक जाओ' इस प्रकार विधि और निषेध के न होने पर भी 'जीने की इच्छा प्रबल है, धन-प्राप्ति की इच्छा विशेष नहीं है' —इस वचन से तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ, इस प्रकार के उपक्षेपण से गमन निषेध की प्रतीति हो रही है।

कहीं विधि और निषेध के रहने पर भी विध्यन्तर की प्रतीति होती है। यथा—

नियदइयदसणुक्खित्त पहिय अन्नेण वच्चसु पहेण।
गहवइधूआ दुल्लघवाउरा इह हयग्गामे॥[2]

'अपनी पत्नी को देखने में ही लगे रहने वाले हे पथिक ! अन्य मार्ग से जाओ। इस दुष्ट ग्राम मे स्वामी की पुत्री के जाल से बचना कठिन है।' यहां 'अन्य मार्ग से जाओ' इस प्रकार विधि और निषेध के कहने पर 'हे अपनी पत्नी के अनुकूल निरभिमानी पथिक ! इस ग्राम मे आपको स्वामी की पुत्री के रूप को देखना चाहिए' इस प्रकार विध्यन्तर की प्रतीत हो रही है।

कहीं विधि और निषेध से निषेधान्तर की प्रतीति होती है। यथा—

उच्चिणसु पडियकुसुम मा धुण सेहालिय हलियसुण्हे।
एस अवसाणविरसो ससुरेण सुओ वलयसद्दो॥[3]

'हे कृषक की पुत्रवधू ! नीचे गिरे हुए फूलो को ही चुन, शेफालिका के वृक्ष को मत हिला। यह अन्त में अप्रिय कंकण की आवाज ससुर जी ने सुन ली है।' यहां 'गिरे हुए फूलो को ही चुन, शेफालिका के वृक्ष को मत हिला'—इस प्रकार विधि

१ काव्यानुशासन, पृ० ५४।
२. वही, पृ० ५५।
३ वही, पृ० ५५।

और निषेध के कहने पर 'हे सखि ! चौराहे में आजकल तुम्हें कंकण की आवाज नहीं करना चाहिए' इस निषेधान्तर की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ विधि रूप होने पर भी अनुभयरूप प्रतीत होती है। यथा—

सणिय वच्च किसोयरि पए पयत्तेण ठवसु महिवट्ठे।
भज्जिहिसि वत्थयत्थणि विहिणा दुक्खेण निम्मविया ॥[1]

'हे कृशोदरि ! धीरे चलो, उल्लास पूर्वक संसार में सुख से रहो, अपनी इच्छानुसार अभीष्ट का सेवन करो, विधाता ने तुम्हें दुःख से मुक्त कर दिया है।' यहाँ 'धीरे चलो' इस प्रकार विधि का कथन होने पर भी न विधि और न निषेध, अपितु वर्णन मात्र की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभय रूप होता है। यथा—

दे आ पसिअ निअत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमोनिवहे।
अहिसारिआण विग्घं करेसि अण्णाण वि हयासे ॥[2]

'हे सुंदरी ! प्रसन्न हो जाओ, लौट चलो, मुखरूपी चन्द्रमा की चाँदनी से अन्धकार समूह का विनाश करने वाली हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डाल रही हो।' यहाँ 'लौट चलो' इस प्रकार निषेध का कथन होने पर भी, न निषेध और न विधि, अपितु नायिका के मुख सौन्दर्य का वर्णन मात्र अभीष्ट है।

कहीं वाच्यार्थ के विधि और निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभय रूप होता है। यथा—

वच्च महं चिअ एक्काए होंतु नीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्झ वि तीए विणा दक्खिण्णहयस्स जायंतु ॥[3]

'जाओ ! मैं एकाकी ही निःश्वास और रोने को सह लूँगी, दाक्षिण्य (शिष्टाचार) से हत कहीं उसके बिना तुम्हें भी यह सब न सहना पड़े।' यहाँ 'मैं ही निःश्वास और रोने को सह लूँगी, उसके बिना तुम्हें भी यह सब न सहना पड़े' इस प्रकार विधि और निषेध का कथन होने पर भी न विधि है और न

1 काव्यानुशासन, पृ० ५५। 2 वही, पृ० ५५।
3 वही, पृ० ५६।

निषेध, अपितु अनुचित आचरण करने वाले प्रियतम के प्रति उपालम्भन मात्र की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ के न विधि और न निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभय रूप होता है। यथा—

णहमुहपसाहिअंगो निद्दाघुम्मतलोअणो न तहा।
जह निव्वणाहरो सामलंग दूमेसि मह हिअय ॥[1]

'हे श्यामलाङ्ग! नखाग्र से प्रसाधित (चिह्नित) अङ्ग तथा निद्रा से अधखुले नेत्रों वाली स्थिति से मेरा हृदय उतना कष्ट नहीं पा रहा है, जितना कि तुम्हारे व्रण (घाव) रहित (अथवा निर्वर्ण) अधर को देखकर।' यहां पर नायक और प्रतिनायिका' में घनिष्ट प्रेम की सूचना देने वाली नायिका का, नायक के प्रेम के विषय में नैराश्य व्यंग्य है। इस प्रकार प्रस्तुत में वाच्यार्थ न विधि रूप है और न निषेध रूप, फिर भी प्रतीयमानार्थ अनुभय रूप प्रतीत हो रहा है।

कहीं वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ विभिन्न विषय वाला भी हो सकता है। यथा—

कस्स व न होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वण अहरं।
सभमरपउमग्घाइरि वारिअवामे सहसु इण्हिं ॥[2]

'अथवा प्रिया के सव्रण अधर को देखकर किसको भला क्रोध नहीं आता है। मना करने पर भी न मानकर भ्रमर सहित कमल को सूंघने वाली अब सह। यहां वाच्यार्थ सखि विषयक है, किन्तु प्रतीयमानार्थ उसके पति और उपपति विषयक है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी ध्वनि (व्यञ्जना) की सिद्धि के लिए विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से विध्यन्तर, निषेध से निषेधान्तर, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय, संशय से निश्चय, निन्दा से स्तुति, और वाच्य से विभिन्न विषय रूप अनेक भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है।[3] इनके अधिकांश उदाहरण हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने वाच्य से भिन्न स्वरूप वाली वस्तुध्वनि के तेरह तथा नरेन्द्रप्रभसूरि ने नौ पृथक्-पृथक् उदाहरणों को प्रस्तुत कर ध्वनि का प्रबल समर्थन किया है, जबकि इसके प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन ने केवल

१ काव्यानुशासन, पृ० ५६।
२ वही, पृ० ५७।
३ अलंकारमहोदधि, पृ० ११६-११८।

विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय और वाच्य से विभिन्न विषय रूप पांच भेदों का ही सोदाहरण निरूपण किया है।[1] इसी प्रकार मम्मट ने भी इसके कुछ ही भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है।[2]

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य

सामान्यतः संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तीन भेद माने जाते हैं—शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य, अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य और उभयशक्तिमूलकव्यंग्य। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र को प्रथम दो भेद ही मान्य हैं,[3] उन्हें उभयशक्तिमूलकव्यंग्य शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य से पृथक् मान्य नहीं है, क्योंकि वहां पर प्रधान रूप से शब्द की ही व्यंजना होती है।[4] नरेन्द्रप्रभसूरि[5] और अजितसेन[6] ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उक्त तीनों भेदों को समान रूप से स्वीकार किया है।

शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य—हेमचन्द्र के अनुसार अनेकार्थक मुख्य शब्द का संसर्गादि नियामकों द्वारा अभिधा रूप व्यापार के नियन्त्रित हो जाने पर मुख्य शब्द वस्तु और अलंकार का व्यंजक होता है, अतः शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य माना जाता है। इसी प्रकार अमुख्य अर्थात् गौण और लाक्षणिक का मुख्यार्थ-बाधा आदि के द्वारा लक्षणा रूप व्यापार के नियन्त्रित हो जाने पर अमुख्य-शब्द वस्तु का व्यंजक होता है, अतः वहां भी शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य होता है। ये दोनों पद और वाक्य के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।[7] संसर्गादि का ज्ञान कराने हेतु हेमचन्द्र ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से निम्न दो कारिकाएं उद्धृत की हैं—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥[8]

---

१ द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, पृ० २०-२५।
२ द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, पृ० २४३-२४४।
३ व्यंग्यः शब्दार्थशक्तिमूलः।—काव्यानुशासन, १।२२।
४. वही, १।२२ वृत्ति।
५ अलंकारमहोदधि, ३।५७।
६. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५४, पृ० २६८।
७ काव्यानुशासन, १।२३।
८ वही, १। २३ वृत्ति। वाक्यपदीय २।३१५-३१६।

संसर्ग—यथा—'वनमिदमभयमिदानीं यत्रास्ते लक्ष्मणान्वितो राम' यहाँ लक्ष्मण के योग से दाशरथि राम और लक्ष्मण का ज्ञान हो रहा है।[१]

विप्रयोग—यथा—'विना सीतां राम प्रविशति महामोहसरणिम्' यहाँ सीता के वियोग से दाशरथि राम का ज्ञान हो रहा है।[२]

साहचर्य—यथा—'बुधो भौमश्च तस्योच्चैरनुकूलत्वमागतौ' यहाँ बुध और भौम के परस्पर साहचर्य से ग्रह-विशेष का ज्ञान हो रहा है।[३]

विरोध—यथा—'रामार्जुनव्यतिकरः साम्प्रतं वर्तते तयो' यहाँ परस्पर विरोध से भार्गव और कार्तवीर्य का ज्ञान हो रहा है।[४]

अर्थ (प्रयोजन)—यथा—'सैन्धवमानय, मृगया चरिष्यामि' यहाँ प्रयोजन से अश्व का ज्ञान हो रहा है।[५]

प्रकरण—यथा—'अस्माद्भाग्यविपर्ययाद्यदि पुनर्देवो न जानाति तम्' यहाँ प्रकरण से अनेकार्थक देव शब्द युष्मद् (आप) अर्थ में नियन्त्रित है। प्रकरण शब्द रहित होता है और अर्थ (प्रयोजन) शब्दवान्, यही इन दोनों में अन्तर है।[६]

लिंग (चिह्न)—यथा—'कोदण्ड यस्य गाण्डीव स्पर्धते कस्तमर्जुनम' यहाँ गाण्डीव इस लिंग (चिह्न) से अर्जुन का ज्ञान हो रहा है।[७]

शब्दान्तरसन्निधि—यथा—'किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंगारिण' यहाँ शृंगारी इस शब्दान्तर के सन्निधान से देव का अर्थ कामदेव है।[८]

सामर्थ्य—यथा—'क्वणति मधुना मत्तश्चेतोहर प्रिय कोकिल' यहाँ सामर्थ्य से मधु का अर्थ वसन्त प्रतीत हो रहा है।[९]

औचित्य—यथा—'तन्व्या यत्सुरतान्तकान्तनयन वक्त्र रति व्यत्यये। तत्त्वा पातु चिराय ' यहाँ औचित्य के कारण पालन प्रसन्नता रूपी अनुकूलता अर्थ में नियन्त्रित है।[१०]

देश—यथा—'महेश्वरस्यास्य क्वापि कान्ति' यहाँ राजधानी रूप देश से राजा का बोध हो रहा है।[११]

१-९ काव्यानुशासन, पृ० ६४।

१०-११ काव्यानुशासन पृ० ६५।

काल—यथा—'चित्रभानुर्विभात्यह्नि' यहाँ काल विशेष से सूर्य का ज्ञान हो रहा है।[१]

व्यक्ति—यथा—'मित्र हन्तितरा तम परिकर यन्ये दृशी मादृशाम्' यहाँ व्यक्ति विशेष से मित्र शब्द सुहृत् अर्थ में नियमित है।[२] उदात्त आदि स्वर से अर्थ विशेष का ज्ञान काव्य में अनुपयोगी है।[३] परन्तु काकु रूपी स्वर अपना पृथक महत्त्व रखता है। जैसे—'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' यहाँ काकु रूप स्वर से अर्थ विशेष का ज्ञान होता है।

आदि पद से अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित और आकार को ग्रहण किया गया है।[४]

अभिनय—यथा—'इतने बड़े स्तनों वाली, इतने बड़े नेत्रों से, मात्र इतने दिनो में, इस प्रकार हो गई।'[५]

अपदेश—यथा—'यहाँ से सम्पत्ति को प्राप्त किया हुआ वह राक्षस यहाँ ही विनष्ट होने योग्य नही है। विषवृक्ष का भी पालन-पोषण कर उसे अपने द्वारा ही काटना उचित नही है।[६]

निर्देश—यथा—'राजकुमारीजी! भाग्य से हम लोग ठीक हैं कि यहाँ पर ही कोई किसी का खड़ा है, यह हमको अंगुली के संकेत से कह रहे हैं।'[७]

संज्ञा—यथा—'जब शिवजी वार्तालाप के प्रसंग में (पार्वतीजी से) इधर-उधर की बातों का उत्तर माँगते तो पार्वती जी दृष्टि घुमाकर तथा सिर हिला-कर उत्तर देती थी।'[८]

१-४ काव्यानुशासन, पृ० ६५।

५ एद्दहमित्तत्थणिया एद्दहमित्तेहि अच्छिवत्तेहि।
एयावत्थ पत्ता एत्तियमित्तेहि दियहेहि॥—वही, पृ० ६५।

६ इत स दैत्य प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्॥—वही, पृ० ६५।

७ भर्तृदारिके दिष्ट्या वर्धामहे यदत्रैव कोऽपि कस्यापि तिष्ठतीति मामङ्गुली-विलासेनाख्यातवत्य।—वही, पृ० ६५।

८ अन्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
वीक्षितेन परिगृह्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ॥
—काव्यानुशासन, पृ० ६६

इंगित—यथा—'हम लोगो का मिलन कब होगा इस प्रकार जनाकीर्ण के कारण कहने मे असमर्थ नायक को जानकर नायिका ने क्रीडा-कमल को सिकोड़ लिया।'[१]

आकार—यथा—आपने उष्ण नि श्वास पूर्वक जो निवेदन किया है, उससे मेरा मन संशय को ही प्राप्त हो रहा है, क्योंकि तुम्हारे योग्य ही कोई व्यक्ति दिखाई नही देता है, पुन जिसे तुम चाहती हो वह तुम्हें अलभ्य कैसे होगा ?'[२]

इस प्रकार ससर्गादि से नियन्त्रित अभिधा में जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना-व्यापार से ही होती है। अमुख्य शब्द मे भी मुख्यार्थ-बाध आदि के नियन्त्रित हो जाने पर प्रयोजन का बोध व्यञ्जना-व्यापार से ही होता है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि उस अर्थ मे सकेत न होने के कारण अभिधा नही हो सकती है। मुख्यार्थ-बाध आदि लक्षण के अभाव में गौणी अथवा लक्षणा नही हो सकती है। लक्ष्य नही होता है और न उसका बाध होता है और न ही कुछ निमित्त है, न शब्द स्खलद्-गतिक (असमर्थ) है और न कोई प्रयोजन है। प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ मानने पर प्रयोजनान्तर की आकाक्षा होती है, पुन वहाँ भी प्रयोजनान्तर की आकाक्षा होने पर अनवस्था दोष हो जाता है और लाभ की इच्छा से मूल का ही विनाश हो जाता है। प्रयोजन सहित लक्ष्य लक्षणा का विषय है, ऐसा कहना सभव नही है, क्योकि विषय और प्रयोजन में अत्यन्त भेद होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण के विषय भी घटादि हैं। प्रयोजन तो (नैयायिकों के मत में) अर्थाधिगति, (कुमारिल्लभट्ट के मत में) प्रकटता अथवा (प्रभाकर के मत में) सविित्ति है। इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्य गौणी और लक्षणा का विषय न होने से प्रयोजन में व्यञ्जना-व्यापार ही है।[३]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी भर्तृहरि की 'ससर्गो विप्रयोगश्च ।' इत्यादि उक्त दो कारिकाओ को उद्धृत कर ससर्गादि के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[४] ये

१ कदा नौ सगमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम्।
अवेक्ष्य कान्तमबला लीलापद्म न्यमीलयत्॥—वही, पृ० ६६।

२ निवेदित नि श्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे सशयमेव गाहते।
न विद्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभ कथम्॥—वही, पृ० ६६

३ काव्यानुशासन, पृ० ६६।

४ द्रष्टव्य, अलङ्कारमहोदधि, ३।३३-३४ सवृत्ति।

उदाहरण काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से संगृहीत हैं।[1] इसी प्रकार विजयवर्णी ने संयोगादिकों का उल्लेख करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[2]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने संयोगादिकों के उल्लेख में यद्यपि मम्मट का अनुसरण किया है तथापि उदाहरण उन्होंने स्व-संगृहीत ही प्रस्तुत किए हैं। इसके साथ ही उन्होंने आदि पद से गृहीत अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित और आकार के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जो महत्त्वपूर्ण हैं।[3]

हेमचन्द्र ने शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम तीन भेद किए हैं—मुख्य, गौण और लक्षक। पुन मुख्यशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के वस्तुध्वनि और अलकार-ध्वनि—ये दो भेद कर दोनो के पृथक्-पृथक् पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। शेष दो गौणशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य और लक्षकशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य भेदो के प्रभेद वस्तुध्वनि के पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[4] नरेन्द्रप्रभसूरि ने शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं—वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि। पुन दोनो में अर्थान्तरसक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिर-स्कृतवाच्य—ये दो दो भेद किए हैं। ये चारों पद और वाक्यगत भी होते हैं।

अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य—हेमचन्द्र ने वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की भी व्यजकता स्वीकार की है[5] तथा वक्ता, प्रतिपाद्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यासत्ति, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा के वैशिष्ट्य से ध्वनित होने वाले अर्थ की मुख्य, अमुख्य और व्यंग्य रूपी अर्थ की व्यजकता का सोदाहरण निरू-पण किया है।[6] इसी प्रकार वक्ता आदि दो (या अधिक) के योग से भी व्यजकता स्वीकार की है।[7] नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्र के समान ही वक्ता और बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की व्यजकता को स्वीकार करते हुए

---

१ द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, पृ० ७८-७९। काव्यानुशासन, पृ० ६४-६५।

२ शृंगारार्णवचन्द्रिका, २।३०-४०।

३ काव्यानुशासन, पृ० ६७-७२।

४ अलंकारमहोदधि, २।१९।

५ वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थस्यापि व्यञ्जकत्वम्।

—काव्यानुशासन, १।२१।

६ वही, १।२१ वृत्ति, पृ० ५८-६१।

७. वही, पृ० ६२।

सोदाहरण प्रतिपादन किया है[1] तथा वक्ता आदि दो (या अधिक) के योग से भी अर्थ की व्यंजकता स्वीकार की है।[2]

हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं—वस्तु और अलंकार। पुन वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलकार तथा अलकार के अलंकार से वस्तु और अलकार से अलकार नामक दो-दो भेद किए हैं। उनके अनुसार ये चारों भेद पद, वाक्य और प्रबन्धगत भी होते हैं।[3] हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—इन तीन भेदो का कथन न्यायोचित नही माना है, क्योंकि प्रौढोक्तिनिष्पन्नमात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। प्रौढोक्ति के अतिरिक्त स्वत सम्भवी अकिंचित्कर (अर्थहीन) है और कविप्रौढोक्ति ही कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति है, अत उन्हें अधिक प्रपच अभीष्ट नहीं है।[4]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम स्वत सिद्ध और कविप्रौढोक्तिसिद्ध—ये दो भेद किए हैं। पुन प्रत्येक के वस्तु और अलकार—ये दो-दो भेद किए हैं। तत्पश्चात् वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलकार तथा अलकार के अलकार से वस्तु और अलकार से अलकार नामक दो-दो भेद किए हैं।[5] उनके अनुसार ये आठो भेद पद, वाक्य और प्रबन्ध में समान रूप से पाये जाते हैं।[6]

---

१ अलंकारमहोदधि, ३।७-८ सवृत्ति।

२ वही, पृ० ५२।

३ द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, १।२४ सवृत्ति।

४ इह चार्थ स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो वेति भेदकथनं न न्याय्यम। प्रौढोक्तिनिर्मितत्वमात्रेणैव साध्यसिद्धे। प्रौढोक्तिमन्तरेण स्वत सम्भविनोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। कविप्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरिति किं प्रपञ्चेन।
—वही, १।२४ वृत्ति। पृ० ७२-७४।

५ अलंकारमहोदधि, ३।५९-६०।

६. अन्ये तु पदवाक्ययो।—वही, ३।६१।

सिद्धिचन्द्रगणि ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के नरेन्द्रप्रभसूरि के समान प्रथम आठ भेदों को ही स्वीकार किया है और शेष भेदों को बुद्धि-चातुर्य मात्र कहा है।[1]

उभयशक्तिमूलकव्यंग्य—हेमचन्द्र ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य से अतिरिक्त नहीं माना है, क्योंकि वहाँ प्रधान रूप से शब्द की ही व्यंजकता होती है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का वाक्यगत एक ही भेद माना है।[3] अजितसेन ने भी उस भेद को स्वीकार किया है।[4]

आचार्य मम्मट ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का केवल वाक्यगत भेद ही स्वीकार किया है,[5] किन्तु सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट के इस मत का खण्डन करते हुए उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को पदगत भी स्वीकार किया है।[6]

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य

जिस व्यंग्य के क्रम की सम्यक् प्रकारेण प्रतीति न हो वह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहलाता है। अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के मध्य में होने वाले समय का ज्ञान नहीं होता है। इसमें रसादि ही व्यंग्य होते हैं, अतः इसे रसध्वनि के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यद्यपि रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से होती है तथा उसमें उक्त विभावादि क्रम भी पाया जाता है, किन्तु इसकी प्रतीति इतनी अदिति (शीघ्रता से) होती है कि उसके क्रम का बोध ही नहीं हो पाता है। अतः इसे असंलक्ष्यक्रम-

---

१ स्वतः सम्भवी प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध इति द्विविधोऽपि प्रत्येकं वस्त्वलंकाररूपत्वेन चतुर्विधो व्यञ्जकः। तस्य प्रत्येकं वस्त्वलंकारो व्यंग्य इत्यष्टविधो ध्वनिः। अन्यत् तु सर्वं स्वबुद्धिसौष्ठवप्रकटनम्।
—काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० २५।

२ उभयशक्तिमूलस्तु शब्दशक्तिमूलान्नातिरिच्यते शब्दस्यैव प्राधान्येन व्यञ्जकत्वात्।—काव्यानुशासन, १।२२ वृत्ति, पृ० ६३।

३ वाक्य एवोभयोत्थः स्यात्।—अलंकारमहोदधि, ३।६१, पृ० १०४।

४ द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, ५।१५४, पृ० २६८।

५. काव्यप्रकाश, पृ० १६१।

६ उभयशक्तिमूलं विना पदे स्युरिति प्राञ्चः। सोऽपि पदे भवतीति नवीनाः।
—काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० ६२।

व्यंग्य कहा गया है। इसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए काव्यशास्त्रियों ने 'उत्पलशतपत्रभेदनन्याय' का सहारा लिया है। अर्थात् जिस प्रकार सौ कमल-पत्रों के समूह में एक साथ सुई चुभाने से कमलपत्रो का क्रमेण ही भेदन होता है, किन्तु शीघ्रता के कारण पूर्वापर की प्रतीति नही होती है। उसी प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में क्रम के होने पर भी भेद को प्रतीति नही होती है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रस-भाव आदि के भेद से अनन्त भेद सम्भव हैं, किन्तु आचार्यों ने अगणनीय होने से प्राय एक ही भेद माना है।[1] इस प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन ध्यातव्य है कि—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावस्थिति, भावसन्धि, भावशबलता आदि अर्थशक्ति-मूलकव्यंग्य हैं। 'रसादिश्च' इस सूत्र मे चकार का ग्रहण पद, वाक्य और प्रबन्ध मे समावेश के लिए किया गया है। रसादि सदा व्यंग्य ही होते हैं, वे कभी भी वाच्य नही होते हैं, इसलिए रसादि की प्रधानता बतलाने के लिए पृथक् सूत्र कहा गया है। क्योकि वस्तु और अलकार तो वाच्य भी होते है।[2]

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के ८ भेद और अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के १५ भेदो को मिलाकर ध्वनि के कुल २३ भेद संक्षेप में कहे गये हैं, जिनके स्पष्टीकरण हेतु इसी अध्याय के अन्त में सलग्न तालिका क्रमांक १ द्रष्टव्य है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का अगणनीय एक ही भेद स्वीकार किया है।[3] पुन यह पद, वाक्य, प्रबन्ध, पदान्त, रचना और वर्ण के भेद से छ प्रकार का होता है।[4]

इस प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार अब तक शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के ८ भेद, अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के २४ भेद और उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का १ भेद मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के कुल ३३ भेद हुए तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के छ भेद मिलाने पर ३९ भेद। इन ३९ भेदों की ३९ के साथ संसृष्टि होकर १५२१ भेद होते हैं। पुन तीन प्रकार का संकर होकर ४५६३ भेद होते हैं।

---

१ काव्यप्रकाश, पृ० १९२। अलंकारमहोदधि, पृ० १०३-१०४।

२ काव्यानुशासन, १।२५ सवृत्ति।

३. एकैव हि रसादीनामगण्यत्वाद् भिदा भवेत्।

—अलंकारमहोदधि, ३।६१।

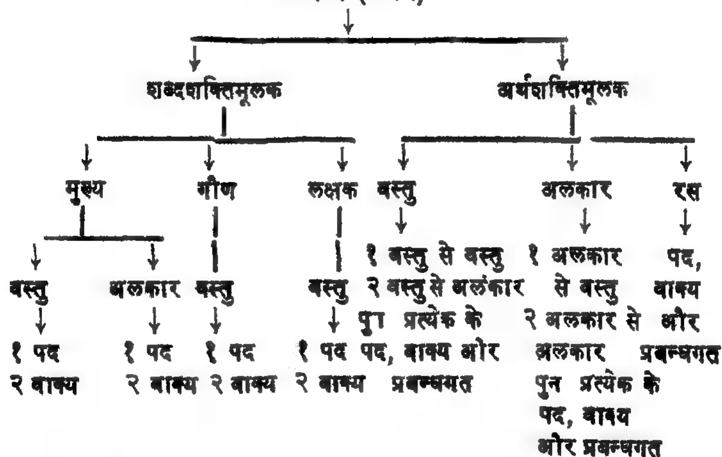
४. वही, ३।६२-६३।

इस प्रकार १५२१ संसृष्टि के और ४५६३ संकर के मिलाने पर ६०८४ मिश्रित भेद हुए। इनमें ३९ शुद्ध भेद मिला देने पर ध्वनि के कुल ६१२३ भेद होते हैं।[1] इसके स्पष्टीकरण हेतु इसी अध्याय के अन्त में संलग्न तालिका क्रमाङ्क २ द्रष्टव्य है।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के कुल भेदों की संख्या १०४५५ कही है। आचार्य हेमचन्द्र ने संक्षेप में मात्र २१ भेदों का उल्लेख किया है और आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ६१२३ ध्वनि-भेदों की गणना की है। इन सभी आचार्यों के ध्वनि-भेदों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि के समान मम्मट के ध्वनि-भेदो की तालिका (क्रमाङ्क ३) भी संलग्न है।

आचार्य हेमचन्द्रकृत ध्वनि-विभाजन (तालिका-१)

व्यंग्य (ध्वनि)



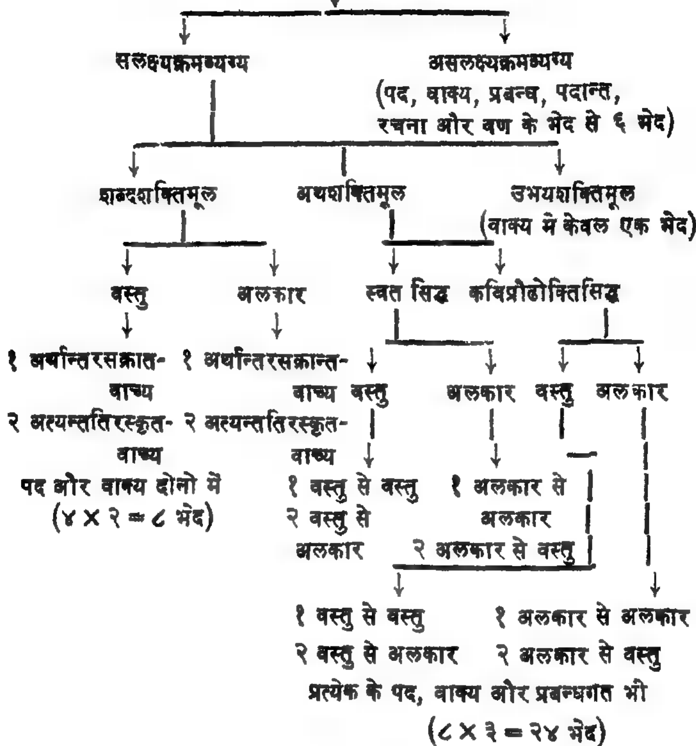
शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य ८ भेद
+ अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य १५ भेद
(वस्तु ६ + अलङ्कार ६
+ रस ३ = १५)

२१ कुल ध्वनि भेद

---

१ संसृष्टेरेकरूपायास्त्रिरूपात् सङ्करादपि।
सिद्धमिन्मीलनाच्च स्युस्ता मिश्रार्क-रसोर्मिताः ॥—वही, ३।६४।

नरेन्द्रप्रभसूरिकृत ध्वनि-विभाजन (तालिका–२)



संलक्ष्यक्रमव्यंग्यभेद—३३ (शब्दशक्तिमूल ८ + अर्थशक्तिमूल २४ + उभयशक्तिमूल १ = ३३ भेद)
+ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यभेद— ६
३९ भेद

संसृष्टि–३९ के साथ ३९ की, ३९ × ३९ = १५२१

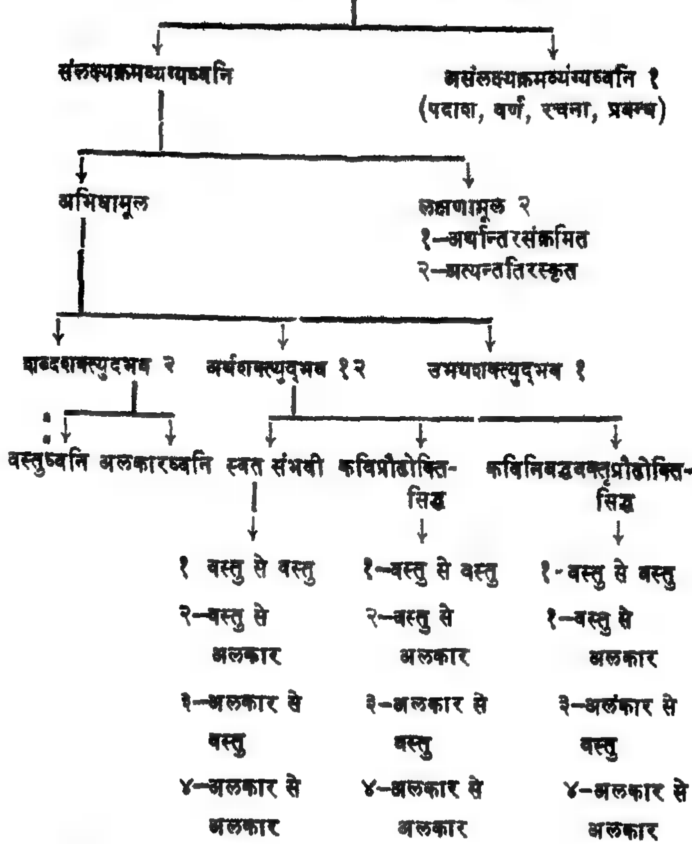
संकर–तीन प्रकार का, १५२१ × ३ = ४५६३

६०८४ मिश्रित भेद

\+ ३९ शुद्ध भेद

६१२३ कुल ध्वनि के भेद

मम्मटकृत ध्वनि-विभाजन (तालिका-३)



अभिधामूलध्वनि १५

- शब्दशक्त्युद्भव २
- अर्थशक्त्युद्भव १२
- उभयशक्त्युद्भव १

लक्षणामूलध्वनि २

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि १

१८

उभयशक्त्युद्भव को छोड़कर शेष १७ के	
पद और वाक्यगत भी होते हैं—१७ + १७	= ३४
अर्थशक्त्युद्भव के प्रबन्धगत भी होते हैं—	+ १२
उभयशक्त्युद्भव	+ १
	४७
असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पदांश, वर्ण, रचना	
और प्रबन्धगत भी होते हैं—	+ ४
	५१

उपर्युक्त शुद्ध ५१ भेदों को परस्पर मिलाने से (५१ × ५१ =) २६०१ भेद होते हैं। पुन उनके (संदेह, अङ्गाङ्गिभाव, एकाश्रयानुप्रवेश रूप) तीन प्रकार के सङ्कर और परस्पर निरपेक्ष रूप एक प्रकार की संसृष्टि के भेद करने पर (२६०१ × ४ =) १०४०४ मिश्रित भेद हुये। इनमें शुद्धध्वनि के ५१ भेद मिलने पर ध्वनि के कुल १०४५५ भेद होते हैं।



७ | नाट्य का समावेश

आचार्य भरत की कृति का नाम नाट्यशास्त्र है। इसमें काव्यशास्त्र विषयक प्रत्येक विषय का विवेचन किया गया है, चाहे वह अल्पप्रमाण में किया गया हो अथवा महाप्रमाण में। एक ही ग्रन्थ में अनेक विषयो के समावेश का कारण यह था कि प्राचीन काल में अनेक विषयो का अध्ययन और अध्यापन एक साथ होता था। अत यह स्वाभाविक और आवश्यक था कि एक ही ग्रन्थ में अनेक विषयो को समान स्थान मिले। किन्तु कालान्तर में सभी विषयों का क्षेत्र सीमित न होकर विस्तृत होता गया, जिसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक विषय स्वतन्त्र अध्ययन और अध्यापन की वस्तु बन गया। यथा—नाट्यशास्त्र, अलकारशास्त्र और सगीतशास्त्र आदि। इसलिए प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ लेखन काय भी होने लगा।

नाटय की उत्पत्ति •

नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते है। प्रथम पक्ष भारतीय परम्परा का है, जिसका उल्लेख आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है और द्वितीय पक्ष में वे सभी देशी और विदेशी आधुनिक विद्वान् आते हैं, जिन्होने लोक नृत्यादि में उसका उत्स खोजा है।

नाट्य में चार अग (तत्त्व) प्रमुख रूप से पाये जाते हैं—सवाद (पाठ्य) गीत, अभिनय और रस। उन्हें ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से ग्रहण कर एक नवीन नाट्यवेद का निर्माण किया है।[1] उसके प्रथम अंग सवाद (पाठ्य) को ऋग्वेद से, द्वितीय अंग गीत को सामवेद से, तृतीय अग अभिनय को यजुर्वेद से और चतुर्थ अंग रस को अथर्ववेद से ग्रहण किया है।[2] इस प्रकार भरतमुनि के

---

१. नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्। —नाट्यशास्त्र, १।१६।

२ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥—नाट्यशास्त्र, १।१७।

अनुसार नाट्यवेद की उत्पत्ति हुई है। राजशेखर ने वेदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद हैं। इतिहासवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद ये चार उपवेद हैं। पुन आचार्य द्रौहिणि के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—नाट्यवेद पञ्चमवेद है, जो सम्पूर्ण वेदो और उपवेदो की आत्मा है तथा सभी वर्णों के लिए है।[1] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भरत आदि नाटशास्त्रियो ने नाट्यवेद को उपवेद न कहकर एक स्वतंत्र पञ्चमवेद की सज्ञा दी है, जिससे नाट्यवेद का उपवेदों की अपेक्षा और अधिक महत्त्व बढ़ जाता है।

यदि आचार्य भरत के नाट्योत्पत्ति विषयक उपर्युल्लिखित मत की समीक्षा की जाय तो हम देखते हैं कि ऋग्वेद में कुछ सूक्त ऐसे पाये जाते है, जिनमें परस्पर सवाद की झलक दृष्टिगोचर होती है। यथा—इन्द्रमरुतसवाद, विश्वामित्रनदीसंवाद, पुरुरवाउर्वशीसवाद और यमयमीसवाद आदि। इसी प्रकार सामवेद में गीत, यजुर्वेद में अभिनय और अथर्ववेद में रस का प्राधान्य होने से इन्हें किंचित मात्रा में नाट्य का स्रोत माना जा सकता है। डा० कीथ ने इसे भारतीय पारम्परिक मत की सज्ञा दी है।[2]

सस्कृत के नट और नाटक ये दोनो शब्द नट् धातु से बनते हैं। अत पाश्चात्य विद्वान मेकडोनल नाच से ही नाटक की उत्पत्ति मानते हैं।[3] इसी प्रकार प्रो० पिशेल पुत्तलिका-नृत्य से भारतीय नाटको की उत्पत्ति मानते है।[4]

नाट्य-ग्रन्थ

भरत के उत्तरकाल में नाट्यशास्त्र को आधार मानकर प्रमुख रूप से तीन नाट्य-ग्रन्थो की रचना हुई है—(१) दशरूपक, (२) नाटकलक्षणरत्नकोश और (३) नाट्यदर्पण।

दशरूपक—यह धनञ्जय (९७४ ई० से ९९६ के लगभग) द्वारा रचित ग्रन्थ है, इसमें भरत के नाट्यशास्त्र से सामग्री चयन करके दश रूपकों एवं तत्सम्बन्धित

---

१ ऋचो यजूषि सामानि चाथर्वाणि त इमे चत्वारो वेदा. इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदा। 'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिक पञ्चमो नाट्यवेद' इति द्रौहिणि।—काव्यमीमासा, द्वि० अध्याय, पृ० ५।

२ सस्कृत ड्रामा—कीथ, पृ० १२।

३ ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिट्रेचर—ए० मेकडानल, पृ० ३४६।

४. सस्कृत ड्रामा—कीथ, पृ० ५२।

अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, संधियों, अर्थोपक्षेपकों, नायक-नायिका भेद, कैशिकी आदि वृत्तियों और नाट्य के प्रमुख-तत्त्व रस पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

नाटकलक्षणरत्नकोश—यह सागरनन्दी की रचना है। सागरनन्दी के काल के विषय में निश्चय न होने पर भी वे धनञ्जय के समीपवर्ती अवश्य रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है। इसमें कवि ने स्वमत की पुष्टि हेतु स्थान-स्थान पर नाट्यशास्त्र से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इसमें पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, अर्थोपक्षेपक, संधि, वृत्ति, नायक-गुण, नाट्यालंकार, रस, भाव, नायिका भेद, चेष्टालंकार और रूपक-भेदों का वर्णन किया गया है।

नाट्यदर्पण—यह रामचन्द्र-गुणचन्द्र (११३६ ई० से ११७६ ई०) की सम्मिलित कृति है। इसमें नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती का उपयोग किया गया है। विषय विवेचन की दृष्टि से नाटक-लक्षण, अर्थोपक्षेपक, पाँच अवस्थाएँ, संधियाँ, रूपकों के भेद, वृत्तियाँ, रस, दोष, भाव, अनुभाव, अभिनय, नायक-नायिका भेद, उनके गुण और रूपक के अन्य भेदों आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसमें भरतमुनि के मत की आलोचना की गई है तथा अनेक स्थलों पर धनञ्जय और सागरनन्दी आदि आचार्यों से अपना वैमत्य प्रकट करते हुए 'न मुनिसमयाध्यवसायिन' भरतमुनि के अभिप्राय को न समझने वाला कहा है।[1]

उपर्युक्त नाट्य-ग्रन्थों के पश्चात् अन्य स्वतन्त्र नाट्य विषयक ग्रन्थों का भी लेखन हुआ है। यथा—शारदातनय (तेरहवीं शताब्दी) का भावप्रकाशन और शिंगभूपाल (ई० सन १३३०) का रसार्णवसुधाकर आदि। किन्तु इन्हें उतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी, जितनी उक्त तीन ग्रन्थों को प्राप्त हुई है।

नाट्य-शास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन की अविच्छिन्न परम्परा चलने पर भी भामह-दण्डी आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत अलंकारशास्त्रों में नाट्य विषयक सिद्धान्तों का समावेश दृष्टिगोचर नहीं होता है, किन्तु जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत नाट्यतत्त्वों का समावेश किया है और आगे चलकर इसी परम्परा में विद्यानाथ (चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण) के प्रतापरुद्रयशोभूषण, विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) के साहित्यदर्पण और कामराज दीक्षित (ई० सन् सत्तरह सौ के आसपास) के काव्येन्दुप्रकाश आदि ग्रन्थ आते हैं।

---

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका, पृ० २१।

प्रारम्भ में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने चारों वेदों में से संवाद, गीत, अभिनय और रस को ग्रहण कर नाटय (वेद) शास्त्र की रचना की है। अतः इन विषयों तथा इनसे निकट का सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय नाट्य के अन्तर्गत आते हैं। प्रस्तुत में उन्ही का विवेचन अभीष्ट है। रस का स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र विवेचन किया जा चुका है।

नायक .

प्रत्येक रूपक में एक प्रमुख पात्र होता है, जिसे साहित्यशास्त्र की भाषा में नायक कहते हैं। सम्पूर्ण कथानक नायक के चारो ओर चलता रहता है। कथा अथवा नाटकादि की रचना नायक की प्रकृति, परिस्थिति और प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर होती है। शेष सभी पात्रों का कार्य-व्यापार नायक की सम्पूर्ण प्रकृति को ध्यान मे रखकर सयोजित किया जाता है, जिससे नायक का प्रभाव कथा में व्यक्त हो सके। एक प्रकार से फलश्रुति तक के विविध व्यापारो का समायोजक और फल का भोक्ता नायक ही होता है। समग्र कथा उससे प्रभावित रहती है। नाटकादि में नायक की जैसी भूमिका होती है, उसी अनुपात में कथा का प्रभाव पाठक अथवा दर्शक पर पड़ता है, अत नायक का स्थान सर्वोपरि है।

नायक का स्वरूप

विभिन्न आचार्यों ने विविध प्रकार से नायक का स्वरूप निरूपण किया है, जिसमें अनेक गुणों से युक्त नायक माना गया है। वाग्भट प्रथम ने नायक का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—रूपवान्, धनवान्, कुलीन, अनुद्धत, सत्य और प्रियभाषी तथा सदगुणो से युक्त यौवन सम्पन्न नायक कहलाता है।[1] हेमचन्द्र के अनुसार समस्त गुणो से युक्त और सम्पूर्ण कथा (प्रबन्ध) में व्याप्त रहने वाला नायक कहलाता है।[2] समस्त गुणो से उनका तात्पर्य यह है कि दशरूपककार ने जिन विनीत[3] आदि नायक के गुणो का उल्लेख किया है वे तथा हेमचन्द्र द्वारा

---

१ रूपसौभाग्यसम्पन्न कुलीन कुशलो युवा।
अनुद्धत सूनृतगी ख्यातो नेताऽत्र सद्गुण ॥—वाग्भटालकार, ५।७।

२ समग्रगुण कथाव्यापी नायक।—काव्यानुशासन, ७।१।

३. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष प्रियवद।
रक्तलोक शुचिर्वाग्मी रूढवश स्थिरो युवा॥
बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वित।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥—दशरूपक, २।१-२।

स्वय आगे कहे जाने वाले शोभा आदि सात्विक गुणों से युक्त कथाव्यापी नायक कहलाता है। विजयवर्णी ने लिखा है कि—लोगों का अनुरञ्जन करना, प्रिय बोलना, वार्तालाप करने में चतुरता, पवित्र मन, विनय, स्मृति, कुलीनता, स्थिरता, दृढ़ता, माधुर्य, शूरवीरता, नवयौवन, उत्साह, दक्षता, बुद्धि, त्याग, तेज, कला, मति, धर्मशास्त्रार्थकारित्व और प्रज्ञा ये नायक के गुण हैं तथा इन विशिष्ट गुणों से युक्त नायक कहलाता है।[1] अजितसेन ने नायक के गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है कि—माधुर्य, शौच, शौर्य, धृति, विनय, वाग्मिता, उत्साह, मान, तेज, धर्म, दृढ़ता, मधुर-भाषण, प्रज्ञता, त्याग, लोकानुराग, मति, कुलीनता, सत्कलावेदिता, स्थिरता, शास्त्रार्थ की क्षमता, सूक्तिज्ञान और नवयौवन—ये नायक के साधारण गुण हैं।[2] वाग्भट-द्वितीय के अनुसार बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शूरवीरता, गम्भीरता, धैर्य, स्थिरता, माधुर्य, कला, कुशलता, विनयशीलता, कुलीनता, नीरोगिता, शुचिता, अभिमानिता, नायिका-सम्मतता, मिष्टभाषित्व, लोकानुरञ्जकता, वाग्मिता, उच्चकुलोत्पन्नता, तेजस्विता, दृढ़ता, तत्त्वशास्त्रज्ञता, अग्राम्यता, शृङ्गारिता और सुगमता (सुन्दरता) आदि नायक के गुण हैं।[3]

धनञ्जय ने विनम्रता आदि गुणों से युक्त नेता (नायक) कहा है। परवर्ती आचार्यों ने प्राय इनके नायक-स्वरूप का अनुसरण कर स्वरूप-निरूपण किया है। आचार्य हेमचन्द्र धनञ्जयकृत स्वरूप के अतिरिक्त नायक को समग्र कथाव्यापी भी मानते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत नायक-स्वरूप कुछ विशिष्ट है, उन्होंने लिखा है कि—नायक को प्रधान फल का भोक्ता तथा स्त्री आदि में आसक्ति और प्राण हानि रूप विपत्ति से रहित (अव्यसनी) होना चाहिए।[4] पद्मसुन्दरगणि ने पुरानी लीक पीटते हुए दाता, विद्वान् और कुलीनता आदि गुणों से सम्पन्न नायक माना है।[5] अत इन स्वरूपों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सज्जनोचित सम्पूर्ण गुणों से युक्त, युवावस्था सम्पन्न, समग्र कथाव्यापी तथा फल का भोक्ता प्रधान पात्र नायक कहलाता है।

---

१ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।३-५।

२ अलंकारचिन्तामणि, ५।३१२।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।

४. प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।७।

५ अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण, १।२२।

नायक-भेद :

प्राय कुल, प्रेम और प्रकृति आदि को आधार मानकर नायक के भेद किए जाते हैं। जैनाचार्यों ने भी उक्त आधारों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार नायक-भेद निम्न प्रकार हैं।

वाग्भट-प्रथम—वाग्भट प्रथम ने नायक के चार भेद माने हैं—अनुकूल दक्षिण, शठ और धृष्ट। उनके अनुसार जिसका प्रेम नीलवर्ण के समान गाढ़ हो तथा जो अन्य स्त्री में रत न हो वह अनुकूल नायक कहलाता है। जो अन्य स्त्री में अनुरक्त तो हो, किन्तु अपनी स्त्री पर भी स्नेह रखता हो वह दक्षिण नायक कहलाता है। जो बहिर्भूत क्रोधादि विकारो से रहित हो तथा अपनी पत्नी का अप्रिय करता हुआ भी प्रिय बोलता हो, वह नायक शठ कहलाता है और जिसका अपराध प्रकट हो चुका हो तथा अपमानित होने पर भी जो लज्जित न हो, वह धृष्ट नायक कहलाता है।[1]

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र के अनुसार नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। पुन प्रत्येक के दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ के भेद से चार-चार भेद होते हैं, जो शृंगाररस के आश्रित है। विनय-युक्त, स्थिर, धीर, क्षमावान्, आत्मप्रशसा रहित, शक्तिशाली और दृढप्रतिज्ञ धीरोदात्त नायक कहलाता है। ललित कलाओ मे आसक्त, सुखी (भोग प्रवीण) शृंगारिक चेष्टाओ वाला, कोमल हृदयी और निश्चिन्त धीरललित कहलाता है। विनय और शान्त स्वभाव वाला धीरप्रशान्त है, यथा—'मालती माधव' प्रकरण में माधव और 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त आदि। शूरवीर, ईर्ष्यालु, मायावी (मन्त्रादि के बल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन करने वाला), आत्मप्रशसा करने वाला, छल-कपट करने वाला, रौद्र और शौर्यादि मद से युक्त धीरोद्धत नायक कहलाता है, यथा—परशुराम और रावण आदि। पुन उपभेदो का लक्षण करते हुए लिखा है कि—कनिष्ठा नायिका मे अनुरक्त रहते हुए ज्येष्ठा के प्रति भी सहृदयी दक्षिण नायक है। जिसका अपराध स्पष्ट हो गया हो वह धृष्ट है। एक नायिका में अनुरक्त अनुकूल नायक है और गुरु अपराध करने वाला शठ है।[2]

विजयवर्णी—विजयवर्णी ने हेमचन्द्र प्रतिपादित नायक के धीरोदात्तादि चार भेदो का नामोल्लेख कर प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है। पुनः

---

१ वाग्भटालंकार, ५।८-१०।

२. काव्यानुशासन, ७।११-१९।

प्रत्येक के दक्षिण आदि उक्त चार उपभेदों का भी सोदाहरण वर्णन किया है।[1] इसी क्रम में विजयवर्णी ने प्रकृति के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम के तीन-तीन भेद करके कुल ४८ भेद माने हैं।[2]

अजितसेन—अजितसेन ने भी सर्वप्रथम नायक के धीरोदात्तादि[3] चार भेद कर प्रत्येक के दक्षिण[4] आदि चार-चार भेद किये हैं। पुन प्रत्येक के उत्तमादि तीन भेद कर ४८ भेदों का प्रतिपादन किया है।[5] अजितसेन ने धीरोदात्तादि चार भेदों और दक्षिण आदि चार उपभेदों का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया है। लक्षण प्राय हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं, अत पृथक् विवेचन नहीं किया जा रहा है।

वाग्भट-द्वितीय—वाग्भट-द्वितीय ने नायक के धीरोदात्तादि चार भेद करके धीरललित के अनुकूल आदि पुन चार भेद किए हैं।[6] इनके लक्षण हेमचन्द्रादि सम्मत पूर्वोक्त ही हैं, किन्तु जहाँ पूर्वाचार्यों ने धीरोदात्तादि चारों नायकों के अनुकूल आदि चार-चार उपभेद किए हैं, वहीं वाग्भट-द्वितीय ने केवल धीरललित के ही अनुकूल आदि चार भेद माने हैं। यद्यपि इसके समर्थन में कोई प्रबल प्रमाण प्रस्तुत नही किया है तथापि नायक-भेद प्रसग में उनका यह दृष्टिकोण परम्परावादियो से भिन्न है।

पद्मसुन्दरगणि—पद्मसुन्दरगणि ने नायक के अनुकूल आदि मात्र चार भेद किए हैं।[7] उनका यह दृष्टिकोण वाग्भट-प्रथम से मेल खाता है, क्योंकि उन्होंने भी उक्त अनुकूल आदि ही चार नायक के भेद माने हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने तीन प्रकार से नायक के भेदों पर प्रकाश डाला है। प्रथम पक्ष में वाग्भट-प्रथम और पद्मसुन्दरगणि आते हैं, जिन्होंने नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं। द्वितीय पक्ष मे हेमचन्द्र, विजयवर्णी और अजितसेन हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम नायक के धीरोदात्तादि चार भेद माने है, पुन प्रत्येक के अनुकूल आदि चार-चार उपभेद माने हैं। तृतीय

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।६-२५। २ वही, ४। २७-२८।

३ अलकारचिन्तामणि, ५।१९१। ४ वही, ५।२२३।

५ वही, ५।२२८। ६ काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० ६१।

७ अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण, १।२३।

पक्ष में वाग्भट-द्वितीय आते हैं जिन्होंने नायक के धीरोदात्तादि चार भेद तो माने हैं, किन्तु उन चारों के अनुकूल आदि चार उपभेद न मानकर केवल धीरललित के ही पूर्वोक्त चार उपभेद माने हैं।

आचार्य भरत ने धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त—इन चार नायक-भेदों का उल्लेख किया है।[1] दशरूपककार ने उक्त भरत-सम्मत चार भेदों का वर्णन करते हुए प्रत्येक के दक्षिण आदि चार-चार उपभेद करके १६ भेद किये हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि नायक-भेदों के मूल में आचार्य भरत और दशरूपककार के विभाजन को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है।

नायक के सात्त्विक गुण

आचार्य हेमचन्द्र ने नायक के आठ सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया है—शोभा, विलास, ललित, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और तेज। ये सत्त्व-गुण से युक्त होने के कारण सात्त्विक गुण कहलाते हैं।[3] प्रत्येक का स्वरूप निम्न प्रकार है—

शोभा—दक्षता, शौर्य, उत्साह, नीच जुगुप्सा और उत्तम स्पर्धा का ज्ञान कराने वाला शोभा नामक गुण है।[4]

विलास—धीरगति, धीरदृष्टि और मुस्कराहट पूर्वक वचन बोलना विलास गुण है।[5]

ललित—कोमल शृङ्गारिक चेष्टाएँ ललित गुण है।[6]

माधुर्य—क्रोध आने पर (क्रोध का महान् कारण उपस्थित होने पर) भी मधुर आकृति होना माधुर्य गुण है।[7]

स्थैर्य—विघ्न उपस्थित होने पर भी विचलित न होना स्थैर्य गुण है।[8]

गाम्भीर्य—हर्षादि विकारों का ज्ञान न होना गाम्भीर्य गुण है।[9]

---

१ धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः॥ —नाट्यशास्त्र, ३४।१७।

२ दशरूपक, २।७।

३. काव्यानुशासन, ७।२।

४ वही, ७।३।

५. वही, ७।४।

६ वही, ७।५।

७. वही, ७।६।

८. वही, ७।७।

९. वही, ७।८।

औदार्य—अपने और दूसरे में भेद-भाव न कर दान, अनुग्रह और प्रिय भाषण औदार्य गुण कहलाता है।[1]

तेज—शत्रु द्वारा किए गए अपमान आदि को सहन न करना तेज गुण है।[2]

विजयवर्णी[3] और अजितसेन[4] ने भी नायक के युवावस्था में सत्त्व से उत्पन्न आठ गुण माने हैं, जिनके नाम और लक्षण प्राय हेमचन्द्राचार्य से मिलते-जुलते हैं, किन्तु अजितसेनकृत माधुर्य गुण का लक्षण किञ्चित् भिन्न है। अजितसेन ने लिखा है कि—तर्कणाशक्ति और सूक्ष्म कलाओं के समन्वय में लगना माधुर्य नामक गुण है।[5]

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नायक के आठ सात्त्विक गुणों का सलक्षण विवेचन किया है।[6] पुन दशरूपककार[7] एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने भरत का ही अनुकरण किया है। जैनाचार्य भी इसी कड़ी के एक अंग हैं। आलङ्कारिकों की इस सुदीर्घ परम्परा में भरतोक्त नायक के सात्त्विक गुणों के नामो एवं लक्षणों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया है। जैनाचार्य अजितसेनकृत माधुर्य गुण के लक्षण पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मालूम होता है कि क्रोध आने पर मधुर आकृति होना अथवा सूक्ष्म कलाओ के समन्वय में लगकर उद्विग्न न होना एक ही बात है। अत भरतादि से इनका कोई विरोध नहीं है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी उक्त आठ सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया है,[8] जिससे भरतमत की ही पुष्टि होती है।

प्रतिनायक

काव्य में नायक के पश्चात् सबसे अधिक प्रभावशाली पात्र प्रतिनायक होता है। यह सम्पूर्ण कथावस्तु में नायक की तरह प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होता है। नायक का प्रतिद्वन्द्वी होने से यही एक ऐसा पात्र है, जो नायक की

---

१ काव्यानुशासन, ७।९। २ वही, ७।१०।

३ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।३४–४२।

४ अलंकारचिन्तामणि, ५।३३२-३३६।

५ माधुर्यं तर्कण सूक्ष्मकलासमन्वयबोधनम्।—अलंकारचिन्तामणि, ५।३३४।

६ नाट्यशास्त्र, २४।३१-३९। ७. दशरूपक, २।१०।

८. हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।८-१२।

अभीष्ट सिद्धि में पदे-पदे बाधक बनता है और नायक को सक्रिय बनाये रहता है। कथावस्तु को आगे बढ़ाने में उसकी भूमिका अपरिहार्य है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिनायक का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—व्यसनी, पापी, लोभी, स्तब्ध (गतिहीन अथवा कठोर हृदयी) और धीरोद्धत प्रतिनायक कहलाता है। यथा—राम का रावण और युधिष्ठिर का दुर्योधन प्रतिनायक है।[1] विजयवर्णी[2] एवं अजितसेन[3] का प्रतिनायक-स्वरूप हेमचन्द्र से अभिन्न है।

दशरूपककार ने प्रतिनायक का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है,[4] प्रायः उसी का अनुगमन हेमचन्द्रादि जैनाचार्यों ने किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी इसी सरणि में आते हैं।[5] अतः यह कहा जा सकता है कि दशरूपककार द्वारा निरूपित प्रतिनायक-स्वरूप का प्रतिबिम्ब जैनाचार्यों के प्रतिनायक-स्वरूप पर पड़ा है।

नायिका

काव्य में जो स्थान नायक का होता है, वही स्थान नायिका का भी होता है। नायिका भी नायक की तरह सम्पूर्ण कथावस्तु में व्याप्त रहती है। संक्षेप में केवल यही कहा जा सकता है कि काव्य में नायक और नायिका का समान महत्त्व है।

नायिका-स्वरूप

हेमचन्द्राचार्य ने नायिका-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि — नायकगत

---

१ काव्यानुशासन, ७।२०।

२ लुब्धाधीरोद्धता ये च स्तब्धाः पापपरायणाः।
ते पुनर्नायकाभासाः पुरुषाः प्रतिनायकाः ॥
—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३३।

३ लुब्धधीरोद्धतस्तब्धाः पापिष्ठाः प्रतिनायकाः।
—अलंकारचिन्तामणि, ५।३३१।

४ लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥—दशरूपक, २।९।

५ लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः।
—हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१३।

(विनयादि) गुणों से युक्त नायिका कहलाती है।[1] तात्पर्य यह कि जिन गुणों से युक्त नायक होता है उन समस्त गुणों से युक्त नायिका होती है। विजयवर्णी ने तो स्पष्ट लिखा है कि सामान्य नायक के कहे गए विनयादि गुणों से युक्त स्त्री नायिका कहलाती है।[2] यही लक्षण अजितसेन ने भी किया है।[3] अतः इन लक्षणों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नायिका-लक्षण-निरूपण प्रसग में सभी आचार्यों ने एक ही दृष्टिकोण अपनाया है। दशरूपककार ने नायकगत गुणों से युक्त स्त्री को नायिका कहा है।[4] उनका-स्वरूप जैनाचार्यों का प्रमुख आधार है।

नायिका-भेद

नायिका के प्रारम्भिक भेदों को लेकर आचार्यों को सामान्यत दो कोटि में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम कोटि में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने नायिका के केवल तीन भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। यथा—हेमचन्द्र[5], अजितसेन[6], पद्मसुन्दरगणि[7] और वाग्भट-द्वितीय।[8] द्वितीय कोटि में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने नायिका के उक्त तीन भेदों के अतिरिक्त अनूढा (अविवाहिता) नामक एक अन्य भेद भी स्वीकार कर नायिका के चार भेद माने हैं। वाग्भट-प्रथम[9] और विजयवर्णी[10] इस द्वितीय कोटि में आते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि अजितसेन, वाग्भट-द्वितीय एवं पद्मसुन्दरगणि ने नायिका के तीन भेद ही माने हैं तथापि उन्होंने परकीया के दो भेद किए हैं—अन्योढा (पर परिणीता-परस्त्री) और कन्या। अजितसेन ने अन्योढा को शृंगार-

---

१ काव्यानुशासन, ७।२१।

२ सामान्यनायकप्रोक्त-विनयादिगुणान्विता।
नारी तु नायिका प्रोक्ता सापि नारी चतुर्विधा॥
—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।४४।

३ स्वीयेतरा च सामान्या नायिका तद्गुणा त्रिधा।
—अलंकारचिन्तामणि, ५।३३७।

४ दशरूपक, २।१५। ५ काव्यानुशासन, ७।२१।

६ अलंकारचिन्तामणि, ५।३३७। ७ अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण, १।३८।

८ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२। ९. वाग्भटालंकार, ५।११।

१० शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।४५।

रस पूर्ण कहा है और कन्या को नीरस ।[1] वाग्भट-प्रथम के अनुसार उक्त चारों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

अनूढा—नायक में अनुरक्त जो नायिका नायक के द्वारा स्वयं स्वीकार की जाती है, वह अनूढा कहलाती है । यथा—राजा दुष्यन्त की शकुन्तला अनूढा नायिका है ।[2]

स्वकीया (स्वीया)—क्षमावान्, अतिगम्भीर प्रकृति वाली, धीर चरित्रवान् तथा देवता एवं गुरुजनों की साक्षीपूर्वक ग्रहण की गई स्वकीया नायिका है ।[3]

परकीया—परकीया भी अनूढा की तरह होती है, किन्तु उन दोनों में तात्त्विक भेद है । परकीया काम के वशीभूत होकर स्वयं प्रिय से अपना अभिप्राय प्रकट करती है और अनूढा सखियों के माध्यम से ।[4]

वेश्या (सामान्या)—ठगने में चतुर और सर्व साधारण की स्त्री वेश्या कहलाती है, उसका धन देने वाले के अतिरिक्त अन्य कोई प्रिय नही होता है ।[5]

जिन आचार्यों ने नायिका के उक्त तीन अथवा चार भेद किए हैं, उनके लक्षण प्राय समान हैं । हेमचन्द्र ने प्रभेदो का निरूपण करते हुए लिखा है कि अवस्था और कामकला मे निपुणता के आधार पर स्वकीया नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रौढा । पुन मध्या और प्रौढा—धीरा, अधीरा और धीराऽधीरा के भेद से तीन-तीन प्रकार की होती हैं तथा ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भेद से इन छहों के दो-दो भेद होकर स्वकीया नायिका के कुल १२ भेद होते हैं । प्रथम परिणीता ज्येष्ठा और पश्चात् परिणीता कनिष्ठा कहलाती है ।[6]

विजयवर्णी का नायिका-भेद विषयक मत हेमचन्द्राचार्य से मिलता-जुलता प्रतीत होता है । इन्होंने भी सर्वप्रथम स्वकीया के तीन भेद किए हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ।[7] लक्षण निम्न प्रकार हैं—

मुग्धा—किञ्चित क्रोध से युक्त रतिक्रीडा में असहमत तथा नवीन कामवासना वाली नवयुवती मुग्धा नायिका कहलाती है ।[8]

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५।३३९ ।
२ वाग्भटालंकार, ५।१२ ।
३ वही, ५।१३ ।
४ वही, ५।१४ ।
५ वही, ५।१५ ।
६ काव्यानुशासन, ७।२३-२५ ।
७ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।६० ।
८ वही, ४।६१ ।

मध्या—युवती होने से उत्पन्न हो गई है कामवाञ्छा जिसे, ऐसी कुछ भी न जानने वाली रतिक्रीड़ा में परवश नायिका मध्या कहलाती है।[1]

प्रगल्भा—अत्यन्त स्फुटित कामावस्था वाली सुरतारम्भ में नायक के वक्षस्थल में लीन की तरह परतंत्र हृदय वाली नायिका प्रगल्भा कहलाती है।[2]

पुनः मध्या और प्रगल्भा के धीरा, अधीरा और धीराऽधीरा के भेद से तीन-तीन भेद किए हैं।[3] लक्षण निम्न प्रकार हैं—

धीरामध्या—जो उपहासपूर्ण कुटिल वाणी से अपने अपराधी नायक को कष्ट देती है, वह धीरामध्या नायिका कहलाती है।[4]

अधीरामध्या—जो रोती हुई कठोर वाणी के द्वारा अपने अपराधी पति को कष्ट देती है, वह नायिका अधीरामध्या कहलाती है।[5]

धीराऽधीरामध्या—अश्रुसहित मुख वाली तथा व्यंग्यपूर्ण वचन बोलने वाली नायिका धीराऽधीरामध्या कहलाती है।[6]

धीराप्रगल्भा—जो रुष्ट होने से अपराधी नायक को सुरतकाल में दुःख देती है और आन्तरिक भावगोपन के कारण कुपित वस्त्र से पीटती है अथवा सुरतकाल में उदासीनता दिखाने वाली नायिका धीराप्रगल्भा कहलाती है।[7]

अधीराप्रगल्भा—जो नायिका अपने पति को तर्जित करके पीड़ित करती है, वह अधीराप्रगल्भा कहलाती है।[8]

धीराऽधीराप्रगल्भा—जो नायिका कुपित होने से उपहासपूर्ण कुटिल वाणी बोलती है, वह धीराऽधीराप्रगल्भा कहलाती है।[9]

इस क्रम में उक्त मध्या और प्रगल्भा के धीरादि छहों भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा के दो-दो भेद होकर कुल १२ भेद होते हैं।[10] निम्न पद्य में ज्येष्ठा और कनिष्ठा का भेद स्पष्ट किया गया है—

---

१ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।६३। २ वही, ४।६५।

३ वही, ४।६७, ४।७२। ४. वही, ४।६८।

५. वही, ४।७०।

६ अलंकारचिन्तामणि, ५।२५१ (इसका लक्षण शृंगारार्णवचन्द्रिका में नहीं है)।

७ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।७३-७४। ८ वही, ४।७७।

९ वही, ४।७९। १०. वही, ४।८१-८२।

कासारं जललीलया परिगते दृष्टो रमण्या नृप
श्रीरायो जलसेचन परिलसच्चञ्चेण कृत्वा सतीम् ।
मज्जन्तीं सरसीजले भयवशात् कृत्वा परां कामिनी
चुम्बित्वाधरपान सक्तजलधौ तन्तन्यते मज्जनम् ॥[1]

इसमें चुम्बिता नायिका ज्येष्ठा है और द्वितीया कनिष्ठा ।

अजितसेनकृत नायिका-प्रभेद हेमचन्द्र और विजयवर्णी से मेल खाता है । इन्होंने विजयवर्णी के समान प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।[2] वाग्भट-द्वितीय ने केवल स्वकीया के ही मुग्धादि तीन भेद कर लक्षण प्रस्तुत किए हैं,[3] जो पूर्ववत् हैं ।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त अवस्था को भी आधार मानकर प्राय सभी आचार्यों ने नायिका भेद प्रस्तुत किए हैं । आचाय हेमचन्द्र,[4] विजयवर्णी,[5] अजितसेन[6] और वाग्भट-द्वितीय[7] ने समान रूप से निम्न आठ नायिका भेद स्वीकार किए हैं—स्वाधीनपतिका, प्रोषितभर्तृका, खण्डिता, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और अभिसारिका । हेमचन्द्र ने इनका केवल नामोल्लेख किया है, विजयवर्णी और अजितसेन ने इनके लक्षण और उदाहरण दोनों प्रस्तुत किए हैं तथा वाग्भट-द्वितीय ने उदाहरण न देकर मात्र लक्षणो का उल्लेख किया है । विजयवर्णी के अनुसार इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

स्वाधीनपतिका—जिसका पति समीप में रहता है तथा सदा उसके अधीन रहता है, वह नायिका स्वाधीनपतिका कहलाती है ।[8]

प्रोषितभर्तृका— पति के परदेश चले जाने पर जो नायिका मानसिक व्यथा को प्राप्त करती है, वह प्रोषितभर्तृका कहलाती है ।[9]

खण्डिता—अन्य नायिका के साथ सम्भोग करने पर (नायक में) सम्भोग विषयक चिह्नों की जानकारी प्राप्त होने पर जो नायिका ईर्ष्या को प्राप्त होती है, वह खण्डिता कहलाती है ।[10]

---

१ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।८३ । २ अलकारचिन्तामणि, ५।३४४-३६ ।
३ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२ । ४ काव्यानुशासन, ७।३० ।
५ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।८५-८६। ६ अलकारचिन्तामणि, ५।३६१-३६२।
७ काव्यानुशासन वाग्भट, पृ० ६३ । ८ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।८७ ।
९ वही, ४।९७ । १० वही, ४।९९ ।

कलहान्तरिता—जो नायिका आए हुए अपराधी नायक को क्रोध के कारण तिरस्कृत करके उसको चाहती हुई दुःखित होती है, वह कलहान्तरिता कहलाती है।[1]

वासकसज्जा—जो नायिका प्रिय के आगमन को सुनकर प्रसन्नचित्त हो अलंकारों से सुसज्जित होती है, वह वासकसज्जा कहलाती है।[2]

विरहोत्कण्ठिता—पति के अपराधी न होने पर भी विलम्ब से आने के कारण जो बेचैन हो जाती है, वह विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।[3]

विप्रलब्धा—जब नायक के द्वारा संकेत स्थल पर न पहुँचने पर नायिका अपमानित होती है, तब वह विप्रलब्धा कहलाती है।[4]

अभिसारिका—जो नायिका नायक के पास अभिसरण करती है अथवा दूती के द्वारा नायक को बुलाती है, वह अभिसारिका कहलाती है।[5]

आचार्य भरत[6] से लेकर धनञ्जय[7] और उनके परवर्ती आचार्यों ने अवस्थाभेद से नायिका के उक्त आठ भेदों का समान रूप से उल्लेख किया है तथा इनके नाम और स्वरूप में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। जैन नाट्याचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र[8] और पद्मसुन्दरगणि[9] ने भी इनका इसी रूप में उल्लेख किया है।

नायिका के सत्त्वज अलंकार

सामान्यतः स्त्रियों के बीस अलंकार माने गए हैं, जो सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वज कहलाते हैं। ये नारी के सौन्दर्य को निखारने में सहायक होते हैं। यहाँ स्त्रीगत भाव-भंगिमा को ही अलंकार शब्द से अभिहित किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सत्त्व से उत्पन्न स्त्रियों के बीस अलंकार होते

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।९१।
२ वही, ४।८९।
३ वही, ४।९५।
४ वही, ४।९३।
५. वही, ४।१०१।
६ नाट्यशास्त्र, २४।२०३-२०४।
७ दशरूपक, २।२४-२७।
८ हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।२३-२६।
९ अकबरसाहिशृंगारदर्पण, २।४१-४२।

है ।[1] उन्होंने सत्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो संवेदन रूप से विस्तार को प्राप्त हो तथा अन्य देह धर्मता से ही स्थित हो, वह सत्त्व कहलाता है। इसकी पुष्टि हेतु—'देहात्मक भवेत्सत्त्वम्' इस भरत-वचन को प्रस्तुत किया है। पुन विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—ये अलकार सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वज कहलाते हैं, राजस् और तामस् प्रकृति वाले शरीरों में इनका होना असम्भव है। चाण्डालिनों में भी रूप और लावण्य दिखाई देते हैं, किन्तु चेष्टादि अलंकार नही और यदि उनमें चेष्टादि अलकार होते भी हैं तो श्रेष्ठता के ही सूचक हैं। अलंकार मात्र देहनिष्ठ होते हैं, चित्तवृत्ति रूप नहीं। ये युवावस्था में स्पष्ट दिखाई देते हैं, बाल्यावस्था में अनुत्पन्न रहते हैं और वृद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं, यद्यपि ये पुरुष के भी पाये जाते हैं तथापि स्त्रियो के ही वे अलकार हैं, अत तद्गत मानकर ही वणन किया गया है। पुरुष का तो उत्साह वर्णन ही अन्य अलकार है और नायक के समस्त भेदो में धीरता विशेष रूप से कहा ही है, उसमें आच्छादित श्रृगारादि धीरललित इत्यादि।[2]

कुछ अलंकार क्रियात्मक हैं और कुछ गुण स्वाभाविक। क्रियात्मकों में भी कुछ पूर्वजन्म अभ्यस्त रतिभाव मात्र के द्वारा सत्त्वोत्पन्न होने से देहमात्र में होते हैं, वे अंगज कहलाते हैं। अन्य इस जन्म में समुचित विभाववशात् प्रस्फुटित रतिभाव युक्त देह में स्फुरित होते हैं, वे स्वाभाविक कहलाते है अर्थात् स्वय के रतिभाव से हृदयगोचरीभूत होते हैं। जैसे किसी नायिका के कुछ ही अलकार स्वभाववशात् होते हैं, अन्य नायिका के दूसरे और किसी नायिका के दो, तीन अथवा इससे भी अधिक स्वाभाविक होते हैं। हाव, भाव और हेला सभी भाव सत्त्व की अधिकता होने से समस्त उत्तम नायिकाओ में होते हैं। शोभादि सात अलंकार हैं। इसी प्रकार अगज और स्वभावज क्रियात्मक हैं तथा शोभादि गुणात्मक होने से अयत्नज हैं। आयासपूर्वक उत्पन्न होने से क्रियात्मक कहलाते हैं।[3]

हेमचन्द्र के अनुसार हाव, भाव और हेला—ये तीन अलकार अगज हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, विभ्रम, किलिकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, ललित और विहृत—ये दस अलंकार स्वभावज हैं तथा शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, औदार्य और प्रागल्भ्य—ये सात अलकार अयत्नज हैं,[4] जिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

---

१ काव्यानुशासन, ७।३३।
२ वही, ७।३३ वृत्ति।
३ वही, ७।३३ वृत्ति।
४ वही, ७।३४,३५,४७।

हाव, भाव और हेला—हाव, भाव और हेला—ये तीन अंगज अलंकार क्रमशः अल्प, अधिक और अत्यधिक विकारात्मक होते हैं।[1]

लीला—वाणी, वेष और चेष्टाओं के द्वारा नायक का अनुकरण करना लीला कहलाता है।[2]

विलास—प्रिय दर्शन से स्थान, बैठने, गमन करने आदि में जो वैशिष्ट्य पाया जाता है, वह विलास कहलाता है।[3]

विच्छित्ति—सौभाग्य के गर्व से अल्प आभूषणों का पहिनना शोभावर्द्धक होने से विच्छित्ति कहलाता है।[4]

विब्बोक—इष्ट वस्तु में अनादर विब्बोक कहलाता है।[5]

विभ्रम—वाणी, अंग और आभूषणों का विपर्यय विभ्रम कहलाता है।[6]

किलिकिञ्चित्—मुस्कराना, हँसना, रोना, भय, क्रोध, गर्व, दुःख, श्रम और अभिलाष का एक साथ होना किलिकिञ्चित् है।[7]

मोट्टायित—प्रिय की कथा आदि में उसके भाव से प्रभावित होने पर उत्पन्न चेष्टा मोट्टायित कहलाता है।[8]

कुट्टमित—अधर आदि के ग्रहण से दुःख होने पर भी हर्ष का भाव कुट्टमित कहलाता है।[9]

ललित—कोमल अङ्गों का विन्यास ललित कहलाता है।[10]

विलास—कर्तव्यवशात् नायक के आने पर ही हस्तादि के कार्यों में जो विचित्रता आती है, वह विलास कहलाता है[11] (प्रकारान्तर से यह सातिशय ललित का ही स्वरूप है)।

विहृत—अवसर प्राप्त होने पर भी मुग्धादि गुणों के कारण न बोलना विहृत कहलाता है।[12]

---

१ काव्यानुशासन, ७।३४। २. वही, ७।३६।
३ वही, ७।३७। ४ वही, ७।३८।
५ वही, ७।३९। ६. वही, ७।४०।
७. वही, ७।४१। ८. वही, ७।४२।
९ वही, ७।४३। १०. वही, ७।४४।
११. वही, ७।४५। १२. वही, ७।४६।

शोभा, कान्ति और दीप्ति—रूप, यौवन और लावण्य का पुरुष के द्वारा उपभोग करने से वृद्धि को प्राप्त मन्द, मध्य और तीव्र अङ्गों की छाया क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति नामक अलकार हैं।[१]

माधुर्य—क्रोधादि में भी चेष्टाओं (हाव-भावों) की कोमलता माधुर्य कहलाता है।[२]

धैर्य—चपलता और आत्मप्रशंसा का अभाव धैर्य कहलाता है।[३]

औदार्य—कुद्धादि अवस्था में भी शिष्टतापूर्ण व्यवहार औदार्य है।[४]

प्रागल्भ्य—काम, कलादि (प्रयोग) में भय आदि का न होना प्रागल्भ्य नामक अलकार है।[५]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने उक्त स्त्रियों के बीस सत्त्वज अलकारों में से प्रथम तेरह को अप्राप्तसंभोगता में भी होने से अनुभाव भी माना है तथा शोभा-कान्ति आदि अन्तिम सात को अलकार मात्र।[६]

विजयवर्णी[७] और अजितसेन[८] ने भी स्त्रियों के उक्त बीस अलंकारों का सलक्षणोदाहरण उल्लेख किया है। इनके लक्षणों का अन्तर्निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इनके लक्षण प्रायः हेमचन्द्र के सदृश हैं। अन्तर केवल इतना है कि हेमचन्द्र ने सभी लक्षण सूत्रों में निबद्ध किए हैं, अतः कुछ सामान्य बातों को ऊपर से ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु विजयवर्णी के लक्षण पद्यात्मक होने से सुस्पष्ट हैं। अजितसेनकृत लक्षण सूत्र-शैली में निबद्ध न होते हुए भी संक्षिप्त हैं।

---

१ काव्यानुशासन, ७।४८। २ वही, ७।४९।

३ वही, ७।५०। ४ वही, ७।५१।

५ वही, ७।५२।

६ एते च भावादयो विंशतिरलकाराः स्त्रीणामित्युक्तमन्यैः। अस्माभिस्तु तेष्वाद्यास्त्रयोदश अप्राप्तसंभोगतायामपि सम्भवन्तीत्यनुभावत्वेनापि प्रतिपादिता। शोभा-कान्ति-दीप्ति-माधुर्य-धैर्यौदार्य-प्रागल्भ्यनामानस्तु सप्त प्राप्तसंभोगतायामेव भवन्तीत्यलकारा एव नानुभावतां भजन्तीति।

—अलकारमहोदधि, पृ० ७६-७७।

७ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।११३-१६०।

८ अलकारचिन्तामणि, ५।३७७-४०२।

हेमचन्द्र ने प्रारम्भ में अपने मत की पुष्टि हेतु भरत-वचन को उद्धृत किया है, अतः उन पर भरत का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार विजयवर्णी और अजितसेन द्वारा सर्वप्रथम अगत्न पुनः स्वाभाविक और अन्त में अयत्नज अलंकारों का उल्लेख करने से इन दोनों आचार्यों पर धनञ्जय की छाया प्रतीत होती है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत बीस अलंकारों के लक्षण भी पूर्ववत् हैं।[2] हेमचन्द्र ने विलास का लक्षण दो स्थलों (७।२७ और ७।४५) पर प्रस्तुत किया है। द्वितीय लक्षण को प्रकारान्तर से सातिशय ललित कहा है। इस प्रसंग में नवीनता की दृष्टि से रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत ललित और विलास का अन्तर उपादेय है। उन्होंने लिखा है कि—देखने योग्य वस्तु के न रहने पर भी दृष्टि फैलाना, ग्रहण योग्य वस्तु के अभाव में भी हाथ आदि का चलाना जैसे निष्प्रयोजन व्यापार ललित है और सप्रयोजन व्यापार विलास है। यही इन दोनों में अन्तर है।[3]

प्रतिनायिका

जिस प्रकार काव्य में प्रतिनायक का महत्त्व है, उसी प्रकार प्रतिनायिका का भी महत्त्व है। प्रतिनायिका नायिका की प्रतिपक्षिणी होती है। यह प्रधान नायिका के प्रणय-व्यापार में प्रायः बाधक बनती है, अतः प्रधान नायिका द्वारा अनेक कष्टों को प्राप्त करती है। यह कथावस्तु को आगे बढ़ाने में भी सहायक होती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिनायिका का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—ईर्ष्या की हेतुभूत सपत्नी (सौत) प्रतिनायिका कहलाती है। यथा—श्रीकृष्ण की पटरानी रुक्मिणी की प्रतिनायिका सत्यभामा।[4]

•

उपनायक

प्रधान नायक के कुछ सहायक होते हैं, जिन्हें उपनायक कहते हैं। विजयवर्णी[5] ने विदूषक, पीठमर्द, विट और नागरिक—इन चार सहायकों का उल्लेख

---

१ द्रष्टव्य, दशरूपक, २।३०-३३।

२. द्रष्टव्य, हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।२७-३७।

३ दृष्टव्य विना दृष्टिक्षेपो, ग्राह्यं विना हस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम्। सप्रयोजनस्तु व्यापारो विलासः, इत्यनयोर्भेदः इति।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।३१ वृत्ति।

४ काव्यानुशासन, ७।३२।

५ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।२९।

किया है। अजितसेन[1] ने केवल प्रथम तीन का और वाग्भट-द्वितीय[2] ने प्रथम तीन के अतिरिक्त नर्मसचिव[3] नामक चतुर्थ सहायक का भी उल्लेख किया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र[4] में नायक के सहायक शकार और चेट आदि का भी विवेचन मिलता है तथापि जैनाचार्यों ने उनका उल्लेख नहीं किया है।

विदूषक—नाटकादि रूपकों में विदूषक की भूमिका हास्यपूर्ण होती है। प्रधान नायक का मनोरंजन करना इसका विशेष कार्य है। विजयवर्णी ने विदूषक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—जो सज्जनोचित लोक व्यवहारादि का ज्ञाता हो तथा नायक के कार्यों में विविध प्रकार का हास्य उपस्थित करता हो वह विदूषक कहलाता है।[5] इसी बात को स्पष्ट करते हुए अजितसेन ने लिखा है कि चारु प्रसंग से नायक को हँसाने वाला विदूषक कहलाता है।[6] वाग्भट-द्वितीय के अनुसार मनोरंजन करने वाला विदूषक कहलाता है।[7] इन सब लक्षणों को ध्यान में रखकर केवल यही कहा जा सकता है कि नाटकादि में प्रधान नायक के मनोरंजन हेतु विविध प्रसंगों में अपने वेष-भूषा, हाव-भाव अथवा भाषा-वैचित्र्य के द्वारा जो हास्य उपस्थित करता है वह विदूषक कहलाता है।

आचार्य भरत ने विदूषक की शारीरिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—बौना (वामन), बड़े-बड़े दांतो वाला (दन्तुर), कुबड़ा, झूठी प्रशंसा करने वाला, विकृत मुखवाला, सिर से गंजा और पीली आँखो वाला विदूषक कहलाता है।[8] धनञ्जय के अनुसार नाटकादि में हास्य को उत्पन्न करने वाला विदूषक है।[9] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि विदूषक हास्य के लिए ही होता है, इसका हास्य अंग, वेश-भूषा और वचनों के भेद से तीन प्रकार का

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५।३२९।
२ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।
३ डॉ० राजवंश सहाय हीरा ने नर्मसचिव के चार भेदों का उल्लेख किया है—पीठमर्द, विट, चेटक और विदूषक।
—भारतीय साहित्यशास्त्रकोश, पृ० ६१०।
४ नाट्यशास्त्र, ३५।५६,५८।
५ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३०।
६ अलंकारचिन्तामणि, ५।३३०।
७ काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० ६२।
८ नाट्यशास्त्र, ३५।५७।
९ दशरूपक, २।९।

होता है ।[1] इन पूर्ववर्ती आचार्यों के विदूषक-स्वरूपों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि धनञ्जय और जैनाचार्यों के विदूषक-स्वरूपों में साम्य है । अत. इन पर धनञ्जय का प्रभाव कहा जा सकता है ।

विजयवर्णी ने विदूषक को सज्जनोचित व्यवहारादि का ज्ञाता कहा है । इससे इतना कहा जा सकता है कि विजयवर्णी विदूषक को केवल हँसी का पात्र न मानकर लौकिक व्यवहारादि का ज्ञाता भी मानते हैं । जिससे सहृदयों का यथोचित मनोरञ्जन हो सके । उनका यह विदूषक-स्वरूप अन्याचार्यों से विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है ।

पीठमर्द—मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक, जो अवान्तर कथा होती है, वह पताका कहलाती है और उसका नायक पीठमर्द कहलाता है । इसकी फल सिद्धि भिन्न न होकर प्रधान फल की प्राप्ति के साथ ही हो जाती है । नाटकादि में यह नायक का प्रमुख सहायक पात्र माना जाता है । विजयवर्णी ने इसका लक्षण-निरूपण करते हुये लिखा है कि पीठमर्द नायकोक्त कार्यों में चतुर और नायक के सद्गुणो से किञ्चित् न्यून गुणो वाला होता है ।[2] इस सम्बन्ध में अजितसेन का भी यही मत है ।[3] वाग्भट-द्वितीय के अनुसार नायक के गुणो से युक्त तथा नायक का अनुचर पीठमर्द कहलाता है ।[4] उपर्युक्त लक्षणो में किञ्चित् भेद के साथ एक ही बात कही गई है । विजयवर्णी आदि ने पीठमद को नायक से किञ्चित् न्यून गुणों वाला कहा है और वाग्भट-द्वितीय ने नायक के गुणो से युक्त, किन्तु इन लक्षणो मे प्राय मौलिक भेद नही कहा जा सकता है । क्योंकि अन्तत वाग्भट-द्वितीय भी उसे नायक का अनुचर ही मानते हैं, जो वास्तविक तथ्य भी है ।

पूर्वाचार्यों के लक्षणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि धनञ्जय ने पताका के नायक को पीठमर्द कहा है । पुन उसकी विशेषताए बतलाते हुए लिखा है कि यह नायक के गुणों से किञ्चित् न्यून गुणों वाला, चतुर, नायक का अनुचर

---

१ हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१४ विवृति ।   २ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३९ ।

३ अलंकारचिन्तामणि, ५।३३९ पूर्वार्ध ।

४ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२ ।

और भक्त होता है।[1] धनञ्जय के इस लक्षण की छाया जैनाचार्यों के लक्षण पर स्पष्ट दिखाई देती है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसे अमुख्य नायक से सम्बोधित कर प्रधान नायक से किञ्चित न्यून और अवान्तर कथाभाग का नायक मानते हैं।[2] अत इतना ही कहा जा सकता है कि पीठमर्द को नायक से किञ्चित् न्यून गुणों वाला तथा नायक का अनुचर होना चाहिए। उसे वाग्भट-द्वितीय की तरह नायक के गुणों से युक्त कहना उचित प्रतीत नही होता है।

विट—विट नायक का एक सामान्य सहायक पात्र होता है। विजयवर्णी के अनुसार नायक की चित्तवृत्ति के अनुकूल व्यापार करने वाला विट कहलाता है।[3] अजितसेन ने नायक के आन्तरिक प्रेम और अनुकूलता के ज्ञाता को विट माना है।[4]

आचार्य भरत ने विट को वेशोपचार कुशल, मधुर, दक्षिण, कवि, तर्क-वितर्क करने में सक्षम, वाचाल और चतुर कहा है।[5] धनञ्जय ने इसे एक विद्या में निपुण माना है।[6] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने राजा के उपयोगी गीतादि किसी एक के ज्ञाता को विट कहा है।[7] यहाँ विजयवर्णी और अजितसेनकृत स्वरूप मे एकता है तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विट स्वरूप पर धनञ्जय का प्रभाव प्रतीत होता है।

नागरिक—विविध कलाओ मे परिपक्वता को प्राप्त नागरिक कहलाता है।[8]

नर्मसचिव—कुपित स्त्री को प्रसन्न करने वाला नर्मसचिव कहलाता है।[9]

काम की अवस्थाएँ

सामान्यत नायक और नायिका के परस्पर वियोग में कामवासना के आधिक्य से नायक अथवा नायिका की तर-तमभाव रूप जो कष्टप्रद स्थिति होती है, उसी का नाम कामावस्था अथवा वियोगावस्था है। ये वियोगियो के जीवन में क्रमश घटित होती है। इनका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भरत ने किया है।

---

१ दशरूपक, २।८। २ हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१३ पूर्वार्ध।
३ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३२। ४ अलकारचिन्तामणि, ५।३३०।
५ नाट्यशास्त्र, ३५।५५।
६ एकविद्यो विटश्चान्यो—दशरूपक, २।९।
७ हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१४।
८ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३२। ९ काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।

उनके अनुसार अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—ये दस काम की अवस्थायें हैं।[1] इन दस कामावस्थाओं का उल्लेख परवर्ती आचार्य विश्वनाथ[2] और जैनाचार्य पद्मसुन्दरगणि[3] ने भी किया है, किन्तु विजयवर्णी और अजितसेन द्वारा निरूपित काम की दस अवस्थाओं के नाम कुछ भिन्न हैं।

विजयवर्णी ने रति के उत्कर्ष से क्रमश होने वाली नायिका अथवा नायक की नयनप्रीति, मन सक्ति, संकल्प, जागर, तनुता, विषयद्वेष, त्रपानाश, मोह, मूर्च्छा और मरण—ये दस काम की अवस्थाए कही है,[4] जो उत्तरोत्तर कष्टदायी हैं। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

नयनप्रीति—जब नायक को नायिका देखने अथवा नायिका को नायक देखने की अत्यधिक इच्छा होती है, तब वह नयनप्रीति नामक अवस्था कहलाती है।[5]

मन सक्ति—जब प्रतिकृति आदि के द्वारा नायक-नायिका पुन पुन चिन्ता करते हैं, तब मन सक्ति नामक अवस्था कहलाती है।[6]

संकल्प—जब मनोरथ पूवक नायिका अथवा नायक की प्राप्ति का सकल्प किया जाता है, तब सकल्प नामक अवस्था कहलाती है।[7]

जागर—नायिका के द्वारा नायक की अथवा नायक के द्वारा नायिका की प्राप्ति न होने पर सतत चिन्ता के कारण जागते रहना जागर नामक अवस्था है।[8]

तनुता—नायक अथवा नायिका की प्राप्ति के अभाव में कामज्वर के कारण शरीर की कृशता तनुता नामक अवस्था है।[9]

विषयद्वेष—जब नायक अथवा नायिका कामवर्द्धक भावों को सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं तथा अन्य किसी भी वस्तु में मन नहीं लगता है, तब वह विषयद्वेष नामक अवस्था कहलाती है।[10]

---

१ नाट्यशास्त्र, २४।१६०-६२। २ साहित्यदर्पण, ३।१९०
३ अकबरसाहिश्रृङ्गारदर्पण, ३।७-८। ४ श्रृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।४२-४३।
५ वही, ३।४४। ६ वही, ३।४६।
७ वही, ३।४८। ८. वही, ३।५०।
९ वही, ३।५२। १०. वही, ३।५४।

अपानाश—जहाँ नायक अथवा नायिका अपनी गरिमा (प्रतिष्ठा) पर ध्यान न देकर मान को त्याग देते हैं, वहाँ अपानाश नामक अवस्था होती है ।[1]

मोह—जहाँ नायक अथवा नायिका का मन भ्रमवशात् उन्मत्तता को प्राप्त होता है, वहाँ मोह नामक अवस्था होती है ।[2]

मूर्च्छा—जहाँ नायक अथवा नायिका काम के संताप से किसी भी विषय को नही जानते हैं, वहाँ मूर्च्छा नामक अवस्था होती है ।[3]

मरण—जहाँ नायक अथवा नायिका की प्राप्ति न होने से दो में से किसी एक की मृत्यु हो जाती है, वहाँ मरण नामक अवस्था होती है ।[4]

अजितसेन ने भी काम की दस अवस्थाओं का उल्लेख किया है,[5] जिनके नाम और लक्षण विजयवर्णी से मिलते-जुलते हैं ।

रीति

काव्यशास्त्र में समय-समय पर अनेक सम्प्रदायों का स्वतन्त्र प्रादुर्भाव हुआ है, जिनमें रीति-सम्प्रदाय का भी एक विशेष स्थान है । इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन हैं । उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है ।[6] यद्यपि रीति का उल्लेख अन्याचार्यों ने भी किया है तथापि वामन ने रीति को जो प्रतिष्ठा प्रदान की है वह अन्यों ने नही । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र में जिन चार प्रवृत्तियों[7] का उल्लेख किया गया है, उन्ही को परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं, जिनमें एक अति प्रसिद्ध नाम रीति भी है ।

रीति का महत्त्व

विजयवर्णी ने रीति का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार रीति (लोक-व्यवहार) रहित कन्या लोक में मान्य नही होती है, उसी प्रकार रीति-शून्य काव्य रसिकों द्वारा मान्य नहीं है ।[8]

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।५६ ।   २. वही, ३।५८ ।

३ वही, ३।६० ।   ४ वही, ३।६२ ।

५ अलंकारचिन्तामणि, ५।६४ ।

६ 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—काव्यालंकारसूत्र, १।२।६ ।

७ चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः ।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी ॥—नाट्यशास्त्र, १४।३६ ।

८ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ६।१ ।

रीति का स्वरूप :

विजयवर्णी ने रीति का स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है कि माधुर्य आदि गुणों से युक्त पदों की संरचना रीति कहलाती है।[1] अजितसेन के अनुसार गुण युक्त शब्दावली वाली रचना रीति है।[2] इन दोनों स्वरूपों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

रीति के भेद

सामान्यतः रीति के तीन अथवा चार भेद माने जाते हैं। वामनादि कुछ आचार्य रीति के वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली—इन तीन भेदों को मानते हैं[3] तथा रुद्रटादि उक्त तीन के अतिरिक्त लाटीया नामक चतुर्थ भेद को भी स्वीकार करते हैं।[4] वाग्भट-प्रथम केवल दो ही भेद मानते हैं—गौडीया और वैदर्भी,[5] किन्तु विजयवर्णी रुद्रटादि सम्मत वैदर्भी, गौडीया, लाटी और पाञ्चाली—इन चार भेदों के समर्थक हैं,[6] जिनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

वैदर्भी—प्रसादादि गुणों से युक्त अथवा समासरहित दो-तीन पदों वाली स्वल्प घोषाक्षरावली तथा जिसमें द्वितीय वर्ण की अधिकता पाई जाए वह वैदर्भी नामक रीति है।[7]

गौडी—ओज और कान्ति नामक गुणों से युक्त, महाप्राणाक्षरों से अन्वित तथा अत्यन्त अद्भुत समास वाली गौडी रीति कहलाती है।[8]

पाञ्चाली—सुकुमारता, माधुर्य, कान्ति और ओजोगुण से युक्त पाँच-छ समस्त पदों वाली संक्षिप्त पाञ्चाली रीति है।[9]

लाटी—ऊपर कही गई तीनों रीतियों से युक्त, अत्यधिक ह्रस्वाक्षरों, अल्पघोषाक्षरों एवं कोमलता सहित लाटी वृत्ति कहलाती है।[10]

अजितसेन ने रीति के वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली—ये तीन भेद माने हैं।[11] उनके स्वरूप विजयवर्णी से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

---

१ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ५।३। २ अलंकारचिन्तामणि, ५।१३४।
३ काव्यालंकारसूत्र, १।२।९। ४ काव्यालंकार-रुद्रट २।४, ६।
५ वाग्भटालंकार, ४।१५१। ६ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ६।४।
७ वही, ६।६-७। ८ वही, ६।९।
९ वही, ६।११। १० वही, ६।१२।
११. अलंकारचिन्तामणि, ५।२४७ उत्तरार्द्ध।

वैदर्भी—रूक्षता रहित अल्प समासों वाली तथा कठिन शब्दों से युक्त रचना वैदर्भी कहलाती है।[1]

गौडी—जो ओज और कान्ति नामक गुणों से युक्त हो वह गौडी कहलाती है।[2]

पाञ्चाली—उपर्युक्त वैदर्भी और गौडी का सम्मिश्रण पाञ्चाली रीति है।[3]

उपर्युल्लिखित स्वरूपों पर सम्यक्-रीत्या विचार करने से विजयवर्णी और अजितसेन पर क्रमशः रुद्रट और वामन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

नाट्यवृत्तियाँ

वृत्ति शब्द का प्रयोग विविध अर्थों मे किया जाता है, किन्तु काव्यशास्त्र में यह विशिष्ट अर्थ का वाचक है। वहाँ यह तीन विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है—पहला शब्दशक्ति के रूप में अर्थात् अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यञ्जना के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका दूसरा प्रयोग उपनागरिका, परुषा एव कोमला नामक अनुप्रास के प्रकारों के लिए तथा तीसरा कौशिकी, आरभटी, भारती एवं सात्त्वती आदि नाट्यवृत्तियों के लिए होता है।[4] प्रस्तुत मे नाट्यवृत्तियों को ध्यान में रखकर ही विवेचन किया जा रहा है।

नाट्यवृत्तियों की उत्पत्ति

इन वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में लिखा है कि भगवान् विष्णु नागशय्या पर शयन कर रहे थे। तदनन्तर शक्ति के मद मे उन्मत्त मधु और कैटभ नामक असुरों ने विष्णु को युद्ध के लिए ललकारा। उस समय असुरों के विनाश हेतु जिन चेष्टा-विशेषों का प्रदर्शन किया गया उन्हीं से वृत्तियों की उत्पत्ति हुई।[5] सर्वप्रथम विष्णु के द्वारा भूमि पर बलपूर्वक पैर रखने से जब भूमि पर अत्यधिक भार पड़ा तब भारती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। धनुर्धारी विष्णु की गतिशील तीव्र, दीप्तिकर एवं शक्तिशाली तथा भय-रहित चेष्टाओं से सात्त्वती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। विष्णु के विचित्र आंगिक हाव-भावों एवं लीला के द्वारा शिखा बन्धन से कैशिकी नामक वृत्ति की उत्पत्ति हुई और प्रचण्ड आवेग।

---

१ अलंकारचिन्तामणि, ५।१३६। २ वही, ५।१३७।

३ वही, ५।१३८।

४ भारतीय साहित्यशास्त्रकोश, पृ० १२३२।

५ नाट्यशास्त्र, अध्याय २२ का प्रारम्भिक अंश।

आंगिक एवं विविध मुद्राओं से विष्णु के द्वारा युद्ध करने से आरभटी नामक वृत्ति की उत्पत्ति [redacted] ।[1]

भरतमुनि के एक अन्य उल्लेख के अनुसार ऋग्वेद से भारती वृत्ति, यजुर्वेद से सात्वती, सामवेद से कैशिकी और अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई है ।[2] राजशेखर ने वृत्तियों की उत्पत्ति भरतमुनि से भिन्न मानी है, उनका कहना है कि जब काव्य-पुरुष को मनाने के लिए काव्य-वधू उमापुत्री (औमेयी) विभिन्न देशों मे गयी, तब उन-उन देशों में उसने जिस वेश को धारण किया उसे ही वहाँ की स्त्रियों ने भी धारण कर लिया, जिससे वृत्तियो की उत्पत्ति हुई । यथा—औमेयी ने जिस नृत्त-वाद्यादि को धारण किया उसका नाम भारती वृत्ति पड़ा ।[3] उसने जिस नृत्त-वाद्यादि का प्रदर्शन किया उसका नाम पड़ा सात्वती वृत्ति ।[4] कुछ इसी में कुटिल गति का सयोग होने से आरभटी कहलाई[5] और उसने जिस नृत्त, गीत, वाद्य एव विलास आदि को उत्पन्न किया, वह कैशिकी वृत्ति कहलाई ।[6] इस प्रकार वृत्तियो की उत्पत्ति भरत और राजशेखर भिन्न-भिन्न प्रकार से मानते हैं ।

वृत्ति का महत्त्व

विजयवर्णी ने काव्य में वृत्ति का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार वृत्ति शून्य सूत्र का अर्थ चित्त में स्पष्ट नही होता है, उसी प्रकार वृत्ति रहित काव्य रसिकों को नही रुचता है ।[7]

वृत्ति का स्वरूप

विजयवर्णी ने लिखा है कि सरस अर्थ समूह से युक्त रचना वृत्ति कहलाती है ।[8] अजितसेन के अनुसार रचना के आश्रित रसो की अवस्था को सूचित करने वाली वृत्तियाँ कहलाती हैं ।[9] धनिक ने लिखा है कि प्रवृत्ति रूप नायक

---

१ नाट्यशास्त्र, २२।११-१४ ।
२ वही, २२।२४ ।
३ काव्यमीमांसा, पृ० २१-२२ ।
४ वही, पृ० २३ ।
५ वही, पृ० २३ ।
६ वही, पृ० २३ ।
७ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ७।१ ।
८ वही, ७।२ ।
९ अलंकारचिन्तामणि, ५।१५८ ।

का व्यापार अथवा स्वभाव वृत्ति कहलाता है।[1] ये तीनों लक्षण किञ्चित् भिन्न प्रतीत होते हैं।

वृत्ति के भेद

आचार्य भरत और उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों को स्वीकार किया है। जैनाचार्यों ने भी इस भरत-परम्परा का निर्वाह किया है। विजयवर्णी ने उक्त चार भेदों का उल्लेख करते हुए उनका स्वरूप-निरूपण किया है, इनका क्रम भरत से कुछ भिन्न इस प्रकार है—कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्त्वती।[2]

कैशिकी—अत्यन्त कोमल अर्थों वाली शृङ्गार अथवा करुण रस युक्त रचना कैशिकी नामक वृत्ति है।[3]

आरभटी—अत्यन्त कर्कश अर्थों वाली रौद्र और बीभत्स रस युक्त रचना आरभटी वृत्ति कहलाती है।[4]

भारती—हास्य, शान्त और अद्भुत रसों से युक्त किञ्चित् मृदु अर्थों वाली रचना भारती वृत्ति कहलाती है।[5]

सात्त्वती—भयानक और वीररस से युक्त कुछ कठिन अर्थों वाली रचना सात्त्वती वृत्ति कहलाती है।[6]

अजितसेन ने भी उक्त चार वृत्ति-भेदों का सलक्षणोदाहरण निरूपण किया है,[7] जो विजयवर्णी के ही सदृश है, किन्तु अजितसेन ने मध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी का भी उल्लेख किया है, जिनका लक्षण करते हुए लिखा है कि जो कोमल अर्थ वाली होने पर भी अत्यन्त प्रौढ़ रचना न हो वह मध्यमा-कैशिकी वृत्ति है और उससे विपरीत मध्यमा-आरभटी नामक वृत्ति है।[8] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भोज ने रीति को एक अल्प प्रसिद्ध शब्दालंकार स्वीकार किया है तथा उसके कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्त्वती, मध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी नामक छः भेदों का उल्लेख किया है।[9]

---

१ प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः।—दशरूपक, २।४७ वृत्ति।

२ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ७।३। ३ वही, ७।४।

४ वही, ७।५। ५ वही, ७।६।

६ वही, ७।७। ७ अलंकारचिन्तामणि, ५।१५८।

८ वही, ५।१६१। ९ सरस्वतीकण्ठाभरण, २।२८।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि आचार्य भरत ने भारती आदि चार वृत्तियों का सलक्षण उल्लेख किया है, उन्होंने कैशिकी वृत्ति में स्त्री का प्रयोग तथा भारती वृत्ति में स्त्री का निषेध अवश्य माना है।[1]

रस और वृत्ति

विजयवर्णी ने रसों का स्वभाव-निरूपण करते हुए लिखा है कि लोक में शृंगार और करुण रस अत्यन्त कोमल हैं, रौद्र और बीभत्स अत्यन्त कठिन हैं, हास्य, शान्त और अद्भुत रस स्वल्प कोमल हैं तथा वीर और भयानक रस कुछ कठिनता युक्त हैं।[2] इस प्रसंग में अजितसेन का भी यही कथन है।[3] कुछ आचार्यों ने रसानुसार वृत्तियों के प्रयोग पर भी प्रकाश डाला है। भरत ने शृंगार और हास्य में कैशिकी, वीर, अद्भुत और रौद्र में सात्त्वती, भयानक, बीभत्स और रौद्र में आरभटी तथा करुण और अद्भुत रस में भारती वृत्ति के प्रयोग का उल्लेख किया है।[4] धनञ्जय ने शृंगार में कैशिकी, वीर में सात्त्वती, रौद्र और बीभत्स में आरभटी तथा सभी रसों में भारती वृत्ति का प्रयोग स्वीकार किया है।[5] रामचन्द्र-गुणचन्द्र भारती में समस्त रसों, सात्त्वती में रौद्र, वीर, शान्त और अद्भुत, कैशिकी में हास्य और शृंगार तथा आरभटी में रौद्रादि दीप्त रसों का प्रयोग मानते हैं।[6] स्पष्टीकरण हेतु निम्न कोष्ठक सहायक होगा।

वृत्तियाँ	रस			
	भरत	धनञ्जय	विजयवर्णी एवं अजितसेन	रामचन्द्र-गुणचन्द्र
भारती	करुण, अद्भुत	समस्त रस	हास्य, शान्त, अद्भुत	समस्त रस
सात्त्वती	वीर, अद्भुत, रौद्र	वीर	भयानक, वीर	रौद्र, वीर, शान्त, अद्भुत
कैशिकी	शृंगार, हास्य	शृंगार	शृंगार, करुण	हास्य, शृंगार
आरभटी	भयानक, बीभत्स, रौद्र	रौद्र, बीभत्स	रौद्र, बीभत्स	रौद्रादि दीप्त रस

१ नाट्यशास्त्र, २२।४७, २५।
२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ७।८-९।
३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५१।
४ नाट्यशास्त्र, २२।६५-६६।
५ दशरूपक, २।६२।
६ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२, ५-६।

शय्या :

राजा भोज ने शय्या नामक अलकार माना है, किन्तु विजयवर्णी और अजितसेन ने इसका स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है।

विजयवर्णी ने शय्या का महत्त्व प्रकट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार शय्या के अभाव में काम-क्रीड़ा सुशोभित नही होती है, उसी प्रकार शय्यारहित रचना (कृति) भी सुशोभित नही होती है।[1]

विजयवर्णी के अनुसार पदों की अनुगुणता अथवा परस्पर मैत्री शय्या कहलाती है।[2] अजितसेन पदो की अनुगुण-रूपा मैत्री को शय्या कहते हैं।[3] राजा भोज ने शय्या नामक अलकार का लक्षण करते हुए लिखा है कि—प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों की परस्पर सघटना का का नाम शय्या है।[4]

पाक

परिपक्वावस्था को प्राप्त किए बिना कवि की रचना प्रशंसनीय नही होती है। अत काव्यशास्त्रियो ने काव्यपाक पर सम्यक् विचार किया है। पूर्ववर्ती आचार्य भामह[5] और भोज[6] ने सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति को काव्यपाक न कहकर सौशब्द्य अथवा सुशब्दता कहा है, किन्तु राजशेखर आदि ने पाक शब्द का ही प्रयोग किया है।

पाक का महत्त्व

पाक का महत्त्व बतलाते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि जिस प्रकार पाक रहित (पकाये बिना) सुस्वादु भोजन भी नहीं रुचता है उसी प्रकार पाक रहित

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।१।

२ पदानामानुगुण्य वान्योन्यमित्रत्वमुच्यते।
यत् सा शय्या कलाशास्त्रनिपुणैर्विदुषां वरै ॥—वही, ८।२।

३ पदानुगुण्यरूपा या मैत्री शय्येति कथ्यते।—अलकारचिन्तामणि, ५।१३९।

४ शय्येत्याहु पदार्थानां घटनायां परस्परम् ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।५४।

५ सुपां तिडन च व्युत्पत्ति वाचा वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।
तदेतदाहु सौशब्द्य नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥—काव्यालंकार, १।१४।

६ व्युत्पत्ति सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, १।७२।

रचना (काव्य) भी नहीं अच्छी लगती है।[1]

पाक का स्वरूप

विजयवर्णी चतुर्विध अर्थों के गाम्भीर्य को पाक कहते हैं[2] और अजितसेन मात्र अर्थों की गम्भीरता को,[3] किन्तु बात एक ही है। इस प्रसंग में राजशेखर ने अनेक मतों को उद्धृत किया है।[4] तदनुसार मंगल नामक आचार्य सुबन्त और तिङन्त पदों की श्रुतिमधुरा व्युत्पत्ति रूप परिणाम को पाक कहते हैं। कुछ आचार्य निष्कम्प रूप से पदों के सन्निवेश को पाक मानते हैं, क्योंकि कहा है—पदों का रखना अथवा हटाना तभी तक सम्भव है, जब तक मन दोलायमान है, किन्तु जब पदो के सन्निवेश में स्थिरता आ जावे तब सरस्वती सिद्ध ही समझनी चाहिए। अवन्तिसुन्दरी इसे अशक्ति मानती हैं, क्योंकि एक ही रचना में महाकवियो के अनेक पाठ भी परिपाक को प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए रसों के अनुसार शब्दसूक्ति-निबन्धन पाक कहलाता है। राजशेखर सहृदय आलोचक को ही इसके निर्णय में प्रमाण मानते हैं, क्योंकि यह व्यवहार का अंग है। इन लक्षणों के आधार पर यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि विजयवर्णी एव अजितसेन के द्वारा किया गया पाक का लक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि जब तक रचना के अर्थों में गम्भीरता नही आयेगी तब तक सहृदय ग्राह्य न हो सकेगी। अत उक्त आचार्यद्वयकृत पाक लक्षण मननीय है।

पाक के भेद

राजशेखर ने पाक के नौ भेद माने हैं—पिचुमन्दपाक, बदरपाक, मृद्वीका-पाक, वार्ताकपाक, तिन्तिडीकपाक, सहकारपाक, क्रमुकपाक, त्रपुसपाक और नारिकेरपाक। इनमें प्रथम तीन त्याज्य, मध्यम तीन सस्कार्य और अन्तिम तीन ग्राह्य कहे गये हैं।[5] विजयवर्णी और अजितसेन ने केवल दो ही पाक माने हैं—द्राक्षापाक (मृद्वीकापाक) और नारिकेर।

द्राक्षापाक—शब्द को आलम्बन करके अर्थ की जहाँ पर शीघ्र ही प्रतीति होती है तथा आभ्यन्तर और बाह्य रस स्फुरित होता है, वह द्राक्षापाक कह-लाता है।[6]

---

१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।४। २ वही, ८।५
३ अलंकारचिन्तामणि, ५।१३९ उत्तरार्ध। ४ काव्यमीमांसा, पृ० ५१-५२।
५ काव्यमीमांसा, पृ० ५३-५४। ६ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।६।

नारिकेरपाक—शब्द को आलम्बन करके अर्थ की जहाँ शीघ्र ही प्रतीति न हो तथा रस अन्तर्गूढ हो, वह नारिकेरपाक है।[1]

अजितसेन ने दोनों पाकों का संक्षेप में स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है कि जहाँ आभ्यन्तर और बाह्य रस स्फुरित हो, वह द्राक्षापाक है और जहाँ रस अन्तर्गूढ हो वह नारिकेरपाक।[2] अजितसेन के 'पुनरन्येऽपि पाका यथासम्भवमूह्या'[3] इस वाक्य से प्रतीत होता है कि उन्हें उक्त दो पाक भेदों के अतिरिक्त अन्य पाक-भेद भी अभीष्ट हैं।



१ शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।७। २ अलंकारचिन्तामणि, ५।१४१।
३ वही, पृ० २६२।

८ उपसंहार

जैनाचार्यों ने जहाँ साहित्य, न्याय, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना की है, वहीं अलंकारशास्त्र जैसे लोकोपयोगी विषयों पर भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, जिससे उनके अलंकारशास्त्रीय ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भरतमुनि से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अलंकारशास्त्र पर लिखित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में आए हुए उल्लेखों तथा अन्य स्रोतों से प्रतीत होता है कि उनके पूर्व भी अलंकारशास्त्रीय ज्ञान की परम्परा विद्यमान थी।

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र

भरतमुनि के समकालीन अथवा परवर्ती जैनाचार्य आर्यरक्षित यद्यपि शुद्ध आलंकारिक नहीं हैं तथापि उनके द्वारा रचित अनुयोगद्वारसूत्र से उनके अलंकारशास्त्रीय ज्ञान की झलक मिलती है। तत्पश्चात् एक लम्बी अवधि तक जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों का अभाव है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में किसी जैनाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध अलंकारदप्पण नामक ग्रन्थ मिलता है। पुनः वाग्भट-प्रथम के वाग्भटालंकार तथा आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की रचना हुई और इसी परम्परा में अनेक मौलिक तथा टीका-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, जो न केवल अलंकारशास्त्र अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं।

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन ग्रन्थ-शिरोमणि और अद्वितीय है। सूत्र रूप में निबद्ध प्रस्तुत ग्रन्थ पर अलंकारचूडामणि और विवेक नामक दो स्वोपज्ञ टीकाएँ हैं। प्रथम टीका सूत्र को स्पष्ट करने में सहायक होती है तथा द्वितीय टीका विविध ग्रन्थों के उद्धरणों से ओत-प्रोत और प्रथम टीका के हार्द को स्पष्ट करने वाली है। इस प्रकार दोनों टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन से परवर्ती अनेक ग्रन्थों में अलंकारशास्त्रीय गुण-दोष, अलंकार आदि विषयों के साथ नाट्यशास्त्रीय नायक-नायिकादि विविध विषयों का वर्णन मिलता है, किन्तु

प्रथमत काव्यानुशासन ही कदाचित् एक ऐसा ग्रन्थ है, जो अलकारशास्त्र के अतिरिक्त विविध नाट्यशास्त्रीय विषयों पर भी प्रकाश डालता है।

आचाय हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण तो नाट्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए दर्पण ही सिद्ध हुआ है, इसमें ऐसी अनेक नवीन मान्यताओ को स्थान दिया गया है, जो अन्याचार्यों से विलक्षण हैं। नौ रसों के अतिरिक्त लौल्य, स्नेह, व्यसन, दु:ख और सुख-रस की सम्भावना तथा रसों की सुख-दुखात्मकता इसके नवीन विषय हैं। नरेन्द्रप्रभसूरिकृत अलकारमहोदधि आठ तरगों में विभाजित है, इसमें अलकारशास्त्रीय समस्त विषयो का विस्तृत विवेचन किया गया है। अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता-वृत्ति और विनयचन्द्रसूरि की काव्य-शिक्षा—ये दोनो ग्रन्थ काव्य-रचना क इच्छुकों को अतीव उपयोगी हैं। इनके अध्ययन से कोई भी कवि बनकर कवि-गोष्ठियों में सम्मान प्राप्त कर सकता है। विजयवर्णी की शृङ्गारार्णवचन्द्रिका में अलकारशास्त्रीय विषयो का प्रतिपादन तो किया ही गया है, किन्तु इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उदाहरण के रूप में आए हुए इसके समस्त पद्य कवि द्वारा स्वरचित हैं, जिनमे कवि ने अपने आश्रयदाता गगवशीय राजा कामिराय की स्तुति की है। अजितसेन द्वारा रचित अलंकारचिन्तामणि पाँच परिच्छेदो में विभक्त है, इसके द्वितीय, तृतीय और चतुथ परिच्छेदो मे केवल अलकारो का विवेचन किया गया है, जो अजितसेन के अलकारशास्त्रीय गम्भीर ज्ञान का सूचक है। इसके अतिरिक्त पचम परिच्छेद में विविध विषयो का विवेचन किया है। वाग्भट-द्वितीय ने भी काव्यानुशासन नाम से एक ग्रन्थ की रचना की है, इसमे अधिकाश सामग्री हेमचन्द्र के काव्या-नुशासन के आधार पर विवेचित है। मडन मंत्री का अलंकारमण्डन और भावदेवसूरि का काव्यालकारसारसग्रह—ये दो अलकारशास्त्रीय लघु ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राचीन पद्धति का अनुसरण किया गया है। पद्मसुन्दरगणि का अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, इसमें विविध महत्त्वपूर्ण विषयो का विवेचन है। सिद्धिचन्द्र-गणि का काव्यप्रकाशखण्डन आचार्य मम्मट के प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश के खण्डन की दृष्टि से लिखा गया है, इसमें प्राय अन्याचार्यों की उक्तियो का सहारा लेकर काव्यप्रकाश के कुछ विषयों का खण्डन किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थ और टीकाएँ भी हैं, जो यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध हैं अथवा जिनका यत्र-तत्र ग्रन्थों में उल्लेख मात्र मिलता है।

कवि :

सामान्यतः कवि-स्वरूप प्रस्तुत करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, क्योंकि काव्य हृदय की वस्तु है और वह कब स्फुरित हो जाए, कहा नहीं जा सकता है। फिर भी जैनाचार्यों ने कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप निरूपण किया है, जिसमें बतलाया गया है कि कवि को विविध विषयों और विविध भाषाओं तथा लौकिक व्यवहार आदि का ज्ञाता होना चाहिए। उसमें चन्द्रोदय-सूर्योदय आदि अठारह विषयों के वर्णन की क्षमता आवश्यक है। इसके लिए प्रतिभा का होना आवश्यक है। कुछ आचार्य प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी आवश्यक मानते हैं।

काव्य

प्रारम्भिक आलंकारिकों ने केवल काव्य के शरीर पर विचार किया है। यतः काव्य का शरीर है, अतः उसकी आत्मा भी होना चाहिए और फलस्वरूप आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। वाग्भट-प्रथम ने रीति और रस से युक्त रचना को काव्य कहा है, किन्तु हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने दोष रहित, गुण और अलंकार सहित रचना को काव्य स्वीकार किया है। अजितसेन ने अपने काव्य-स्वरूप में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को समान रूप से स्थान दिया है। काव्यभेदों के प्रसंग में जैनाचार्यों का भाषा विषयक दृष्टिकोण उदार है, उनके अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त भूतभाषा (पैशाची) में भी काव्य-रचना की जा सकती है। हेमचन्द्र ने पाठ्य-काव्य के १२ भेद माने हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक। इसी प्रकार गेय के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य—ये १३ भेद कहे हैं। महाकाव्य में वर्णनीय विषयों का अजितसेन ने विस्तृत उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने कथा के १० भेदों का उल्लेख किया है—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और बृहत्कथा। ध्वनि के आधार पर जिन भेदों का उल्लेख किया गया है, उनमें जैनाचार्य प्रायः मम्मट के अनुयायी हैं, क्योंकि उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन काव्य-भेदों को ही प्रमुख रूप से स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने मध्यम-काव्य के तीन भेद माने हैं—अस्फुटप्राधान्य, संदिग्धप्राधान्य और तुल्यप्राधान्य। उन्होंने

मम्मट-सम्मत मध्यमकाव्य के आठ भेदों का खण्डन किया है। पुन उन्होंने असत्काव्य के चार भेद माने हैं—क्वचित्वाच्यादनुत्कर्ष, क्वचित्परांगता, क्वचित्स्फुटता और क्वचिदतिस्फुटता। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मध्यम-काव्य के मम्मट-सम्मत आठ भेदों का समर्थन किया है तथा अधम-काव्य के शब्दचित्र और अर्थचित्र के अतिरिक्त शब्दार्थचित्र नामक एक अन्य तृतीय भेद का भी उल्लेख किया है, जो युक्तिपूर्ण है।

रस :

जैनाचार्यों के रस-स्वरूप का उपजीव्य प्राय भरत-रससूत्र रहा है, इसलिए उन्होंने विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावों से परिपोष को प्राप्त हुए स्थायिभाव को रस कहा है और वह रस नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मत में सुख-दु ख रूप उभयात्मक है। उनके अनुसार इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त—ये पाँच सुखात्मक-रस हैं तथा अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार दु खात्मक रस हैं। नाट्यदर्पणकार की यह उक्ति आलकारिक-परम्परा से विलक्षण है। भरतमुनि के समकालीन जैनाचार्य आर्यरक्षित ने वीर, शृगार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त—इन नौ रस-भेदो का उल्लेख किया है। भरतमुनि ने भयानक रस को स्वीकार किया है, किन्तु आर्यरक्षित ने उसके स्थान पर एक नवीन व्रीडनक-रस को माना है। आचाय हेमचन्द्र ने रसों का जो क्रम अपनाया है, वह अभिनवगुप्त की अभिनवभारती के आधार पर है। उन्होंने युवकों का मित्र के प्रति होने वाले स्नेह का रति में, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति होने वाले स्नेह का धर्मवीर में, बालकों का माता-पिता आदि के प्रति होने वाले स्नेह का भयानकरस में और गर्व स्थायिभाव वाले लौल्यरस का हास्य में अन्तर्भाव किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तृष्णा (लालच) रूप स्थायिभाव वाले लौल्यरस, आर्द्रता-रूप स्थायिभाव वाले स्नेहरस, आसक्तिरूप स्थायिभाव वाले व्यसनरस, अरतिरूप स्थायिभाव वाले दु खरस और सन्तोष रूप स्थायिभाव वाले सुखरस की भी सम्भावना की है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने शान्तरस की स्थिति नाट्य में स्वीकार की है। सिद्धिचन्द्रगणि ने शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत—इन चार रसों को ही स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने विप्रलम्भ के अनन्तर होने वाले सम्भोग को पाँच प्रकार का माना है—स्पृहानन्तर, मानानन्तर, वियोगा-

रूपान्तर और प्रकाशान्तर। आर्यरक्षित का वीररस विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण को लिये हुये है, उनके अनुसार परित्याग और तपश्चरण करने पर तथा शत्रु का विनाश होने पर अनतुशय (अहंकार रहित), धृति और पराक्रमपूर्ण चिह्नों (अनुभावों) से युक्त वीररस कहलाता है। विजयवर्णी और अजितसेन ने रसों के वर्ण और देवताओं पर भी विचार किया है। इसके अतिरिक्त रसों का परस्पर सम्बन्ध, भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव, रसाभास, भावाभास, और स्थायिभाव का विवेचन प्राय पूर्वपरम्परा का पोषक है। जैनाचार्यों ने शान्तरस का स्थायिभाव शम माना है, निर्वेद नहीं।

दोष

काव्य में दोषाभाव अतीव आवश्यक है। आचार्य आर्यरक्षित ने बत्तीस सूत्र-दोषों से ही नौ रसों की उत्पत्ति मानी है तथा वाग्भट-प्रथम ने अदुष्ट काव्य को यश और स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहा है, उनकी यह धारणा आचार्य मम्मट से प्रभावित है। सिद्धिचन्द्रगणि ने चमत्काराभाव को दोष कहा है। भरतमुनि ने सर्वप्रथम दस दोषो का उल्लेख किया है, किन्तु जैनाचार्य आर्यरक्षित ने ३२ दोषो का उल्लेख किया है, जो कालान्तर में मान्य हुए है। जैनाचार्यों ने पददोषों, पदांशदोषों, वाक्यदोषो, उभयदोषों, अर्थदोषों और रसदोषों पर समान रूप से विचार किया है। आचार्य मम्मट ने १६ पददोषो का उल्लेख किया है, किन्तु वाग्भट-प्रथम ने केवल ८ पददोषों को माना है। शेष जैनाचार्यों ने जितनी पददोषो की संख्या गिनाई है, उसमे न तो अन्य आचार्यों से समानता है और न ही परस्पर। यही स्थिति अन्य दोषों की भी है। वाक्यदोषों के प्रसग में विजयवर्णी ने रसच्युत और अप्रस्तुतार्थ—इन दो नवीन दोषो की कल्पना की है। अजितसेन ने मम्मट-सम्मत च्युतसस्कृति नामक पददोष को शब्दच्युत नामक वाक्यदोष माना है तथा उसके समर्थन में यथोचित तर्क भी प्रस्तुत किया है। यद्यपि मम्मटादि ने उभय-दोषों का संकेत किया है, किन्तु हेमचन्द्र आदि जैनाचार्यों ने उनका स्पष्ट विवेचन भी किया है। हेमचन्द्र ने मम्मट-सम्मत अवाचकता, प्रतिशिद्धहृतता, नेयार्थता और संदिग्धता नामक दोषों का अन्य दोषो में अन्तर्भाव किया है। अर्थदोषों के प्रसंग में कहीं-कही मम्मट और हेमचन्द्र में पर्याप्त मतभेद है। जिस पद्य को मम्मट ने अनवीकृतत्व दोष का उदाहरण माना है, उसी को हेमचन्द्र ने पुनरुक्तता दोष का प्रत्युदाहरण माना है तथा मम्मट-सम्मत निर्हेतु, अनवीकृतत्व और अपदयुक्तता

को स्वतंत्र दोष नहीं माना है। हेमचन्द्र ने निर्हेतु का अन्तर्भाव साकांक्ष दोष में किया है। विजयवर्णी ने भी अनवीकृतत्व दोष को मान्यता नहीं दी है। मम्मट और हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित रसदोषों में प्राय: समानता है, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल ५ रसदोषो का उल्लेख किया है और निष्कर्ष स्वरूप अनौचित्य के अन्तर्गत ही समग्र दोषों को स्वीकार किया है। दोष-परिहार प्रसग में नरेन्द्र-प्रभसूरि मम्मट के अनुगामी हैं।

गुण :

काव्यशास्त्र में गुणों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उनकी स्थिति अपरिहार्य है। हेमचन्द्र ने रस का उत्कर्ष करने वाले कारणो को गुण कहा है, उनके अनुसार ये उपचार से शब्द और अर्थ के भी उत्कर्षाधायक होते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार जो रस के *आश्रित रहते हैं, अकृत्रिम हैं, नित्य हैं तथा काव्य में वैचित्र्य के उत्पादक हैं,* वे गुण कहलाते हैं। गुणों के महत्त्व को प्रकट करते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि—जिस प्रकार (शीलादि) गुणों से रहित रमणी ससार में सज्जनों द्वारा पूज्य नही होती है, उसी प्रकार निर्गुण काव्य-प्रबन्ध भी महाकवियो द्वारा आदृत नहीं होता है। गुण-भेदों के प्रसग में प्रमुख रूप से दो परम्पराएँ सामने आई हैं, उनमें प्रथम वह है जो भरतमुनि-सम्मत दस गुणो को मानकर आगे बढ़ी है तथा दस गुणो का विवेचन किया है। दूसरी परम्परा वह है जिसने आनन्दवर्धन-सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन गुणो को स्वीकार किया है तथा शेष गुणो का इन्ही तीन में अन्तर्भाव किया है। हेमचन्द्र ने पूवपक्ष क रूप में एक अज्ञातनामा आचार्य सम्मत ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदाय—इन पांच गुणो का उल्लेख कर खण्डन किया है। जैनाचार्यों ने गुण भेद विवेचन में प्रमुख रूप से भरत, आनन्दवर्धन और भोज का अनुकरण किया है। भावदेवसूरि ने काव्य-गुणों के अतिरिक्त काव्य-चिह्नों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने काव्यशास्त्रीय परम्परा का सर्वथा अनुगमन किया है।

अलंकार

अलकार शब्द से सामान्यत. उस वस्तु का बोध होता है, जिससे काव्य में शोभा की वृद्धि होती है। इसीलिए प्राय समस्त आलंकारिको ने इस उपमा से अपनी सहमति व्यक्त की है कि—जिस प्रकार रमणी कटक-कुण्डलादि

अलंकारों के अभाव में सुशोभित नहीं होती है, उसी प्रकार अलंकार रहित काव्य शोभायमान नहीं होता है। आनन्दवर्धन और मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य में अलंकारों के स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं मानी है। अलंकार साक्षात् रूप से अङ्गों (शब्द और अर्थ) का उपकार करते हैं, और परम्परया अङ्गी का। यह धारणा न केवल अन्य आलंकारिकों की ही है, अपितु हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि आदि जैन-आलंकारिकों की भी है। सर्वप्रथम अलंकारों को दो भागों में विभाजित किया गया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। यह विभाजन अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर है अर्थात् शब्दों पर अवलम्बित रहने वाले शब्दपरिवृत्त्य-सहिष्णुत्व अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार हैं और अर्थों पर अवलम्बित रहने वाले शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार हैं। जहाँ पर शब्द और अर्थ की समान रूप से प्रधानता पाई जाती है, वहाँ उभयालंकार होता है। आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार माना है तथा पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार। जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने पुन-रुक्तवदाभास का उल्लेख नहीं किया है और श्लेष को अर्थालंकार माना है, शेष चार अलंकारों को वे शब्दालंकार मानते हैं। हेमचन्द्र ने उक्त छः अलंकारों को शब्दालंकार स्वीकार किया है। उनके द्वारा मान्य यमक के १५ पादज भेद, पुनः पाद को दो भागों में बाँटने पर २८ भेद, तीन भागों में बाँटने पर ४२ भेद और चार भागों में बाँटने पर ५६ यमक-भेद उनकी तीक्ष्ण बुद्धि के परिचायक हैं। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने भाषाश्लेष के जिन ५६ भेदों का कथन किया है, वे अन्याचार्यों द्वारा मान्य भेदों से सर्वाधिक हैं। उन्होंने काकुवक्रोक्ति को पाठधर्म स्वीकार किया है, अलंकार नहीं। अजितसेन ने लगभग दो सौ पद्यों में चित्रालं-कार का जो विवेचन किया है, वह अद्वितीय है। अर्थालंकारों के प्रसंग में जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम और हेमचन्द्र ने सीमित अलंकारों का उल्लेख किया है तथा शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव। अलंकारदर्पणकार ने प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर और समज्योति नामक नवीन अलंकारों को स्वीकार किया है। वाग्भट-प्रथम के अलंकार-विवेचन पर भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, रुय्यक और मम्मट आदि आचार्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उनके द्वारा निरूपित सहोक्ति का लक्षण रुय्यककृत सहोक्ति के एक उपभेद कार्यकारणप्रतिनियम-विपर्ययरूपा-सहोक्ति के लक्षण पर आधारित है। हेमचन्द्र ने कहीं-कहीं दो-तीन अलंकारों के लक्षणों को मिलाकर किसी एक अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ निदर्शना के लक्षण को लिया जा सकता है। उन्होंने निदर्शना

का लक्षण करते हुए लिखा है कि—इष्टार्थ की सिद्धि के लिए जो दृष्टान्त का निर्देश किया जाता है वह निदर्शनालंकार है। इसमें मम्मटादि सम्मत दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और निदर्शन के लक्षणों का एकदेश समावेश किया गया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने मम्मट के अपह्नुति और व्याजोक्ति के लक्षण को मिलाकर अपह्नुति का लक्षण बनाया है। उनके अनुसार अर्थान्तरन्यास वह है जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा साधर्म्य अथवा वैधर्म्य पूर्वक समर्थन किया जाता है। नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा किया गया अर्थालंकार विवेचन अधिकतर मम्मट से प्रभावित है। उनका रसवदादि अलंकारों का प्रतिपादन मम्मट की अपेक्षा अधिक है। शेष जैनाचार्यों का अलंकार-विवेचन प्राय पूर्वाचार्यों का ही अनुगमन करता है। शब्दालंकारों का वर्गीकरण कोई विशेष नही है, किन्तु अर्थालंकारों का वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह वर्गीकरण आकृतिमूलक न होकर प्रकृतिमूलक है। रुद्रट ने अर्थालंकारो को चार वर्गों में विभक्त किया है—वास्तवमूलक, औपम्य-मूलक, अतिशयमूलक और श्लेषमूलक। तत्पश्चात् रुय्यक ने पाँच वर्गों में विभाजन किया है—सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलामूलक, न्यायमूलक और गूढार्थप्रतीतिमूलक। जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने छ वर्ग बनाये हैं—अतिशयोक्ति-मूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलामूलक, विशिष्ट-वाक्यसन्निवेशमूलक, लोकन्याय-मूलक और रसवदादि। अजितसेन ने अर्थालंकारो का दो प्रकार से वर्गीकरण किया है। प्रथम विभाग में चार वर्ग बनाये हैं—प्रतीयमान-शृङ्गार-रस-भावादिरूप, स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप, अस्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप और प्रतीयमान-औपम्य आदि रूप। अन्य प्रकार के वर्गीकरण में आठ वर्ग बनाये हैं—अध्य-वसायमूलक, विरोधमूलक, वाक्यन्यायमूलक, लोकव्यवहारमूलक, तर्कन्यायमूलक, शृङ्खलावैचित्र्यहेतुक, अपह्नवमूलक और विशेषण-वैचित्र्यहेतुक। अजितसेन द्वारा किया गया दोनों प्रकार का अलंकार-वर्गीकरण विद्यानाथ से पूर्णत प्रभावित है।

ध्वनि

प्राचीन आलंकारिक—भरत-भामह आदि ने काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्ता अलंकारों को प्रदान की है, किन्तु परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। हेमचन्द्र के अनुसार मुख्य, गौण और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान व्यंग्यार्थ ध्वनि है। ध्वनि शब्द का प्रारम्भ से ही दो अर्थों में व्यवहार होता आ रहा है—सामान्यत व्यंग्य अर्थ को समझाने के लिए और काव्य-विशेष को समझाने के लिए। यहाँ प्रथम अर्थ को ही ध्यान में रखकर

जैनाचार्यों ने विवेचन किया है, जबकि आनन्दवर्धन ने द्वितीय अर्थ को ध्यान में रखकर ध्वनि-स्वरूप-निरूपण किया है। ध्वनिप्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद किए हैं—वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। इनमें से प्रथम भेद वस्तुध्वनि के पाँच भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत कर आनन्दवर्धन ने यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) किस प्रकार वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला होता है, किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने वस्तुध्वनि के पृथक्-पृथक् तेरह भेदों को प्रस्तुत किया है, जिससे वस्तुध्वनि के अन्य विविध रूपों का भी दर्शन होता है। हेमचन्द्र की यह सूक्ष्म दृष्टि उन्हें ध्वनि समर्थकों में प्रथम स्थान दिलाती है। हेमचन्द्र ने अनेकार्थक मुख्य शब्द के नियामक संसर्गादि के जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, उनमें कुछ उनके द्वारा स्वयं चयन किये हुए हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट और हेमचन्द्र-सम्मत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। ध्वनि-भेद प्रसंग में हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्ति-मात्रनिष्पन्न और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—इन तीन भेदों का कथन न्यायोचित नहीं माना है, क्योंकि प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम स्वतःसिद्ध और कविप्रौढोक्तिसिद्ध—ये दो भेद किए हैं। हेमचन्द्र ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य से अतिरिक्त नहीं माना है, क्योंकि उनके अनुसार वहाँ प्रधान रूप से शब्द की ही व्यंजकता होती है। आचार्य मम्मट ने उभय-शक्तिमूलकव्यंग्य का केवल वाक्यगत भेद ही स्वीकार किया है, किन्तु सिद्धिचन्द्र-गणि ने मम्मट के इस मत का खण्डन करते हुए उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को पदगत भी स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने संक्षेप में ध्वनि के २३ भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने ध्वनि के कुल भेदों की संख्या ६१२३ गिनाई है। मम्मट-सम्मत ध्वनि-भेदों की संख्या १०४५५ है।

नाट्यतत्त्व

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में विविध विषयों का विवेचन किया है, किन्तु कालान्तर में नाट्य आदि विषयों पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी, जिसके प्रमाण स्वरूप दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोश आदि ग्रन्थ हैं। नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो मत पाये जाते हैं। प्रथम पक्ष भारतीय परम्परा का है, जिसका उल्लेख आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है और द्वितीय पक्ष में वे सभी देशी अथवा विदेशी आधुनिक विद्वान् आते हैं, जिन्होंने लोक-

नृत्यादि में उसका उत्स खोजा है। जैनाचार्यों ने नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में नाट्य-तत्त्वों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र लिखित नाट्यदर्पण और पद्मसुन्दरगणिकृत अकबरसाहिशृंगारदर्पण—ये दो जैनाचार्यों के शुद्ध नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं, जिनमें केवल नाट्यतत्त्वों पर विचार किया गया है। भरत के परवर्ती आचार्यों में सम्भवत हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र के साथ नाट्य-तत्त्वों पर भी विचार किया है।

नायक

आचार्य हेमचन्द्र ने नायक का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह दशरूपककार से गृहीत ह। विशेषता यह है कि उन्होंने नायक को समग्र कथाव्यापी तथा उसमें शोभा आदि सात्त्विक गुणो का होना भी आवश्यक माना है। नाट्यदपणकार के अनुसार नायक को प्रधानफल का भोक्ता तथा स्त्री आदि मे आसक्ति और प्राण हानि रूप विपत्ति से रहित (अव्यसनी) होना चाहिए।

प्रतिनायक, नायिका और उसके भेद, नायिका के सत्त्वज-अलकार, प्रति-नायिका, उपनायक और काम की अवस्थाआ आदि का जैनाचार्यों ने जो विवेचन किया है, वह प्राय भरत-परम्परा का पोषक है।

रीति

रीति का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि जिस प्रकार रीति (लोक-व्यवहार) रहित कन्या लोक में मान्य नही होती है, उसी प्रकार रीतिशून्य-काव्य रसिको द्वारा मान्य नही है। विजयवर्णी ने माधुर्य आदि गुणों से युक्त पदों की सरचना को रीति कहा है और अजितसेन ने गुणयुक्त शब्दावली वाली रचना को। वाग्भट-प्रथम ने रीति के गौडीया और वैदर्भी—इन दो भेदों को ही स्वीकार किया है। विजयवर्णी ने उक्त के अतिरिक्त पाचाली और लाटी को मिलाकर चार भेद माने हैं, जो रुद्रट का अनुकरण है। अजितसेन ने लाटी को मान्यता नही दी है।

नाट्यवृत्तियाँ

विजयवर्णी के अनुसार सरस अर्थ समूह से युक्त रचना वृत्ति कहलाती है। अजितसेन के अनुसार रचना के आश्रित रसो की अवस्था को सूचित करने

वाली वृत्तियाँ हैं। विजयवर्णी ने भरत के अनुसार नाट्यवृत्तियों के कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्वती—इन ४ भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु अजितसेन का अनुकरण करते हुए माध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी—इन दो और अन्य भेदो को मिलाकर कुल छः भेद माने हैं।

शय्या

शय्या का महत्त्व बतलाते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि जिस प्रकार शय्या के अभाव में काम-क्रीडा सुशोभित नही होती है, उसी प्रकार शय्यारहित रचना भी सुशोभित नही नहीं होती है। विजयवर्णी के अनुसार पदों की अनुगुणता अथवा परस्पर मैत्री शय्या है। शय्या की इस परिभाषा से अजितसेन भी सहमत हैं। भोज ने शय्या नामक एक पृथक् अलकार माना है।

पाक

आचार्य भामह और भोज ने सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति को काव्यपाक न कहकर सौशब्द्य अथवा सुशब्दता कहा है, किन्तु राजशेखर ने पाक शब्द का ही प्रयोग किया है। विजयवर्णी ने चतुर्विध अर्थों के गाम्भीर्य को पाक कहा है। पाक की इस परिभाषा को अजितसेन ने भी मान्यता प्रदान की है। राजशेखर ने पाक के नौ भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु जैनाचार्य विजयवर्णी और अजितसेन ने पाक के द्राक्षापाक और नारिकेरपाक—ये दो भेद ही माने हैं।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अलंकारशास्त्रीय तत्त्वों का समग्र रूप से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है तथा नाट्यतत्त्वों का अलकारशास्त्रीय ग्रंथों में तो समावेश किया ही है साथ ही नाट्यशास्त्रीय स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। उनमें विवेचित समग्र तत्त्व जहाँ भरत-परम्परा का निर्वाह करते हैं, वही अपनी मौलिक चिन्तनधारा से भी सिञ्चित हैं, जिससे काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को एक नवीन दिशा मिली है और उनकी प्रतिष्ठा में जैन-आलंकारिकों का महनीय योगदान रहा है।

●

सहायक ग्रन्थ-सूची

अकबरसाहिशृंगारदर्पण पद्मसुन्दरगणि, •सपा०—के० माधवकृष्ण शर्मा, प्रका०—अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, सन् १९४१ ।

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग सपा०-अनु०—डॉ० रामलाल शर्मा, प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, द्वितीय संस्करण, १९६९ ।

अनुयोगद्वारसूत्र आर्यरक्षित, प्रथम भाग, व्या०—घासीलालजी महाराज, प्रका०—अ० भा० श्वे० स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

अनुयोगद्वारसूत्र आर्यरक्षित, द्वितीय भाग, व्या०—घासीलालजी महाराज, प्रका०—अ० भा० श्वे० स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

अनेकार्थनाममाला धनञ्जय, अनु०—पं० घनश्यामदास न्यायतीर्थ, प्रका०—बिहारी लाल कठनेरा जैन, मालिक—जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, पो०—गिरगांव, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, वी० नि० स० २४६३ ।

(हिन्दी) अभिनवभारती अभिनवगुप्त, भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०—हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण, सन् १९७३ ।

अमरकोष सपा०—प० हरगोविन्द शास्त्री, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, १९७० ।

अलंकारचिन्तामणि अजितसेन, सम्पा०-अनु०—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, १९७३ ई० ।

अलंकारदप्पण मरुधर केसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दनग्रन्थ, चतुर्थ खंड, पृ० ४३० से ४५८ तक प्रकाशित ।

अलंकार धारणा विकास और विश्लेषण · डॉ० शोभाकान्त मिश्र, प्रका०—बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना—३, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

अलंकारमहोदधि नरेन्द्रप्रभसूरि, संपा०—लालचन्द्र भगवानदास गान्धी जैन पंडित, प्रका०—गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, १९४२ ।

अलंकारमीमांसा डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

अलंकारशास्त्र की परम्परा डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७० ।

(हिन्दी) अलंकारसर्वस्व राजानक रुय्यक, हिन्दीभाष्यानुवादकार—डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७१

अलंकारानुशीलन डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', प्रका०—संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१, प्रथम संस्करण, १९७० ।

अलंकारों का क्रमिक विकास पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ प्रबन्ध संपा०—कन्हैयालाल दूगड़, प्रका०—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता–१ ।

आनन्दवर्धन डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका०—मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

उपदेशतरंगिणी रत्नमंदिरगणि, प्रका०—हर्षचन्द्र भूराभाई धर्माभ्युदय प्रेस वाराणसी, वीर संवत् २४३७ ।

काव्यकल्पलतावृत्ति अमरचन्द्रसूरि, संपा०—जगन्नाथशास्त्री होशिंग, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३१ ।

काव्यप्रकाश मम्मट, व्या०—झलकीकर वामनभट्ट, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९०१ ।

काव्यप्रकाश मम्मट, व्याख्याकार—आ० विश्वेश्वर, सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, प्रका०—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

काव्यप्रकाशखण्डन सिद्धिचन्द्रगणि, संपा०—प्रा० रसिकलाल छोटालाल पारिख प्रका०—सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९५३ ।

काव्यमण्डन मण्डन ग्रन्थ संग्रह भाग–२, प्रका०—शाह लहेरचन्द भोगीलाल, मंत्री—हेमचंद्राचार्य सभा पट्टन, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९७६ ।

(हिन्दी) काव्यमीमांसा राजशेखर, व्या०—डॉ० गंगासागर राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०२१ ।

काव्यशिक्षा विनयचन्द्रसूरि, संपा०—डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री, प्रका०—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

काव्यादर्श दण्डी, अनु०—व्रजरत्नदास, बी० ए०, प्रका०—श्री कमलमणि ग्रन्थमाला कार्यालय, बुलानाला, काशी, वि० सं० १९८८।

काव्यानुशासन हेमचन्द्र, सम्पा०—रसिकलाल सी० पारिख, प्रका०—श्री महावीर जैन विद्यालय, बबई, प्रथम सस्करण, १९३८।

काव्यानुशासन हेमचन्द्र, स०—महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा, काशीनाथ पाण्डुरग परब, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, द्वितीय सस्करण, सन् १९३४।

काव्यानुशासन वाग्भट-द्वितीय, संपा०—पं० शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ पाण्डुरंग परब, प्रका०—तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, १९१५।

काव्यालकार भामह, भाष्यकार—देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रका०—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, खृष्टाब्द १९६२।

(हिन्दी) काव्यालकार रुद्रट, नमिसाधुकृत स० टीका सहित, व्या०—श्री रामदेव शुक्ल, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, प्रथम सस्करण, १९६६

काव्यालकारसारसग्रह भावदेवसूरि (अलकारमहोदधि के अन्त मे पृ० ३४१ से ३५६ तक प्रकाशित)।

काव्यालकारसारसग्रह एव लघुवृत्ति की व्याख्या उद्भट एव प्रतिहारेन्दुराज, व्याख्या—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रका०—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम सस्करण, सन् १९६६।

(हिन्दी) काव्यालकारसूत्र वामन, व्याख्या०—आचार्य विश्वेश्वर, सपा०—डॉ० नगेन्द्र, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६, सन् १९५४।

कुमारपालप्रतिबोध सोमप्रभाचार्य, सपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बडौदा, सन् १९२०।

कुवलयानन्द अप्पय दीक्षित, सपा०—वासुदेव शर्मा, प्रका०—पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सप्तम सस्करण, सन् १९३७।

गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ संपा०—विजयमुनि शास्त्री, डॉ० हरिशंकर शर्मा, प्रका०—गुरुदेव स्मृतिग्रन्थ प्रकाशक समिति, जैन भवन, लोहामण्डी, आगरा, १९६४।

चन्द्रालोक पीयूषवर्ष श्रीजयदेव, व्या०—नन्दकिशोर शर्मा, साहित्याचार्य, प्रका०—चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सन् १९३७।

जिनरत्नकोश हरिदामोदर वेलणकर, प्रका०—भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४४ ई०।

जैनग्रन्थावली : प्रका०—श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स मुबई, वि० सं० १९६५ ।
जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २ आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज, प्रका०—जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान), प्रथम संस्करण, सन् १९४४ ।
जैन साहित्य और इतिहास नाथूराम प्रेमी, प्रका०—यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक—संशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई–२, द्वितीय संस्करण, १९५६ ।
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ प० अम्बालाल प्रे० शाह, प्रका०—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी–५, प्रथम संस्करण, १९६९ ।
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रका०—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, सन् १९७३ ।
जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास मोहनलाल दलीचन्द देसाई, प्रका०—श्री जैन श्वे० कान्फ्रेन्स आफिस मुबई, प्रथम सस्करण, १९३३ ।
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थ खड डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०—अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद्, प्रथम सस्करण, १९७४ ।
तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के जैन सस्कृत महाकाव्य डॉ० श्यामशकर दीक्षित, प्रका०—मलिक एण्ड कम्पनी, चौडा रास्ता, जयपुर–३, प्रथम सस्करण, सन् १९६९ ।
(हिन्दी) दशरूपक धनञ्जय, व्या०—डॉ० भोलाशकर व्यास, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, चतुर्थ सस्करण, १९७३ ।
द्वयाश्रय महाकाव्य हेमचन्द्राचाय, सपा०—आबाजी विष्णु काथवटे, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९२१ ई० ।
(हिन्दी) ध्वन्यालोक आनन्दवर्धन, व्या०—आचाय विश्वेश्वर, प्रका०—गौतम बुक डिपो, नई सडक, दिल्ली, प्रथम सस्करण, अगस्त १९५२ ।
ध्वन्यालोक आनन्दवर्धन, लोचन सहित, प्रथम उद्योत, व्या०—डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम सस्करण १९६३ ई० ।
नलविलासनाटक आचार्य रामचन्द्र, सम्पा०—जी० के गोण्डेकर, प्रका०—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बडौदा, १९२६ ।

नाट्यलक्षणरत्नकोश सागरनन्दी, व्या०—बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७२।

(हिन्दी) नाट्यदर्पण रामचन्द्र-गुणचन्द्र, व्या०—आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०—हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९६१।

नाट्यशास्त्र भरतमुनि, संपा०—बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सन् १९२९।

(हिन्दी) नाट्यशास्त्र भरतमुनि, सपा० एवं व्या०—बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम सस्करण, सन् १९७२।

निर्भयभीमव्यायोग आचार्य रामचन्द्र, सम्पा०—प० श्रावक हरगोविन्ददास बेचरदास, प्रका०—हर्षचन्द भूराभाई, धर्माभ्युदय प्रेस, वाराणसी, वीर सवत् २४३७।

पार्श्वनाथचरित भावदेवसूरि, सम्पा०—हरगोविन्ददास बेचरदास, प्रका०—हर्षचन्द भूराभाई, धर्माभ्युदय प्रेस, बनारस, वीर स० २४३८।

प्रतापरुद्रीय विद्यानाथ, सपा०—सी० शंकरराम शास्त्री, प्रका०—बालमनोरमा प्रेस, मेलापूर, मद्रास, तृतीय संस्करण, १९५०।

प्रबन्धकोश राजशेखरसूरि, संपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, प्रथम सस्करण, १९३५।

प्रबन्धचिन्तामणि मेरुतुंगाचार्य, सपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, बंगाल, प्रथम सस्करण, वि० स० १९८९।

प्रभावकचरित प्रभाचन्द्राचार्य, सपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, प्रथम सस्करण, सन् १९४०।

प्रशस्तिसंग्रह सपा०—प० के० भुजबली शास्त्री, प्रका०—निर्मलकुमार जैन, मत्री—जैन सिद्धान्त भवन, आरा, प्रथम संस्करण, १९४२।

भव्यजनकण्ठाभरण अर्हद्दास, अनु०—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०—जीवराज गौतमचन्द दोशी, सस्थापक—जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९५४।

भानुचन्द्रगणिचरित : सिद्धिचन्द्रगणि, सपा०—मोहनलाल दलीचन्द देसाई, प्रका०—सिंघी ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, प्रथम सस्करण, १९४१।

भारतीय साहित्यशास्त्र ; गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, प्रका०—पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई-७, प्रथम सस्करण १९६०।

भारतीय साहित्यशास्त्रकोश डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', प्रका०—बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना–३, प्रथम संस्करण, १९७३।

मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृतिग्रन्थ संपा०—अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा, प्रका०—मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी समारोह समिति, दिल्ली, सन् १९७१।

मरुधरकेशरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दनग्रन्थ प्रधान सम्पा०—शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रका०—मरुधरकेशरी अभिनदनग्रथ प्रकाशन समिति जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन् १९६८।

महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमंडल और संस्कृत साहित्य में उनकी देन। डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा प्रका०—दलसुख मालवणिया, मंत्री—जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी -५, प्रथम संस्करण, १९५९।

मुनिसुव्रतकाव्य अर्हद्दास, अनु०-सम्पा०—प० के० भुजबली शास्त्री, प० हरनाथ द्विवेदी, प्रका०—निर्मलकुमार जैन, मन्त्री—जैन सिद्धान्त भवन, आरा, प्रथम संस्करण, सन् १९२९।

यतीन्द्रसूरि अभिनन्दनग्रन्थ संपा—मुनिराज श्री विद्याविजयजी आदि, प्रका०—श्री सौधमबृहत्तपागच्छीय श्वेताम्बर श्रीसंघ, मु०—सुडाला, पो०—फालना (राजस्थान), प्रथम संस्करण, सन १९५८।

रसगंगाधर पंडितराज जगन्नाथ, प्रथम भाग, हिन्दी व्या०—प० श्री मदन-मोहन झा, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—१, तृतीय संस्करण सन १९७०।

रससिद्धान्त डॉ० नगेन्द्र, प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९६९।

(हिन्दी) वक्रोक्तिजीवित कुन्तक, व्या०—राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण सन् १९६७।

वाक्यपदीय भर्तृहरि, पूना संस्करण, १९६५।

वाग्भट-विवेचन आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६८।

वाग्भटालंकार वाग्भट-प्रथम, अनु०—प्रो० उदयवीर शास्त्री, प्रका०—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, सैदमिट्ठा बाजार, लाहोर, द्वितीय संस्करण, १९३५।

वाग्भटालंकार वाग्भट-प्रथम, सिंहदेवगणि टीका सहित, सम्पा० प० केदारनाथ शास्त्री, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, १९१६।

शृङ्गारार्णवचन्द्रिका . विजयवर्णी, सम्पा०—डॉ० वामन महादेव कुलकर्णी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सस्करण, सन् १९६९।

सस्कृत शास्त्रों का इतिहास आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रका०—शारदा मदिर वाराणसी—५, प्रथम संस्करण, सन् १९६९ ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास ए० बी० कीथ, अनु०—मगलदेव शास्त्री, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, देहली, सन् १९६० ।

संस्कृत-हिन्दीकोश वामन शिवराम आप्टे, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६६ ।

सरस्वतीकण्ठाभरण भोज, व्या०—डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र, प्रका०—चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १९७६ ।

साहित्यदर्पण विश्वनाथ, व्या०—डॉ० सत्यव्रत सिंह, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय सस्करण, वि० स० २०२६ ।

हम्मीर महाकाव्य नयचन्द्रसूरि, सपा०—मुनि जिनविजय, प्रका०—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, प्रथम सस्करण १९६८ ।

हेमचन्द्राचाय का शिष्यमडल प्रो० भोगीलाल सांडेसरा, प्रका०—जैन सस्कृति संशोधक मडल, वाराणसी—५ ।

ENGLISH BOOKS

History of Indian Literaturer M Winternitz, Vol II, University of Calcutta, Second Edition, 1972

A History of Sanskrit Literature A Mecdonal, London William Heinemann, Second Edition, 1905

History of Sanskrit Poetics P V Kane, Pub —Pandurang Vaman Kane, Angre's Wadi, Girgaon, Bombay 4

Kavyanuśasana, Volume II Introduction, by—R C Parikh Pub —Sri Mahāvira Jaina Vidyālaya, Bombay, First Edition, 1938

The Nātyadarpan by Ramchandra and Guṇachandra A Critical Study of Dr K H Trivedi, L. D Institute of Indology, Ahmedabad—9, First Edition, August 1966.

The Number of Rasas --V Raghavan, Pub —The Adyar Library, Adyar, 1940,

Sanskrit Drama A B Keith, Oxford University Press, 1923

पत्र-पत्रिकाएँ

जैनभारती (मासिक) प्रका०—जैन श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता—१

जैन सन्देश (शोधांक) सम्पा०—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, प्रका०—भा० दि० जैन संघ, मथुरा।

जैन सिद्धान्त भास्कर सपा०—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०—देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जैन सिद्धान्तभवन, आरा, हीरक जयन्ती विशेषांक, भाग २१ किरण १ एवं भाग १४ किरण २।

तीर्थंकर (मासिक) संपादक—डॉ० नेमीचन्द्र जैन, प्रका०—हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर।

महावीर जयन्ती स्मारिका सं०—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, प्रका०—रतनलाल छाबड़ा, मंत्री—राजस्थान जैन सभा, जयपुर, अप्रैल १९६३।

श्रमण (मासिक) संपादक—डॉ० मोहनलाल मेहता, प्रका०—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैन इन्स्टीट्यूट, वाराणसी—५



शब्दानुक्रमणिका

आ

फ

ब

म

श



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२३	इनका	इनकी
२	२	विशुद्ध	विशुद्ध रूप से
४	२३	सुहृदेविन	सुहृद्वेविनं
५	४	रोम	लोम
५	९	उद्भिद्	उद्भिद्
५	१२	१७	१३
६	४	ओर	और
६	१९	मुक्तिम	मुत्तिम
६	२३	वागभटाभिधस्य	वाग्भटाभिधस्य
६	२४	गाथेकथा	गाथैकथा
६	२७	यथासित	यथास्ति
६	२८	गुरूपादात्	गुरूपाद्यात्
७	१	अद्भूत	अद्भुत
७	२५	शतेकादशके	शतैकादशके
७	३०	कारयन्मुदा	" ऽकारयन्मुदा
८	२२	पुन	पुन
९	६	घुघुका	घुन्घुका
९	२२	घुन्धुकाभिधाने	घुन्धुकाभिधाने
१०	१०	विद्वतापूर्ण	विद्वत्तापूर्ण
११	२८	शंकर	शङ्कर
१२	२५	रुपक	रूपक
१४	८	श्लोकार्थ	श्लोकार्द्ध
१४	९	कारयत्	कारयन्
१४	११	विद्वता	विद्वत्ता
१४	२४	विद्यागमोषण '	विद्यागमोषणं '
१४	२७	श्रीविश्ववेवितोऽप्यस्मै	श्रीविश्ववेविनोऽप्यस्मै
१४	२८	प्रभालक्ष्म	प्रभालक्ष्म
१८	१०	प्रयल्भा	प्रगल्भा
१८	१२	अयत्नव	अयत्नत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१८	मीगवित	श्रीगदित
१९	१३	नरेन्द्रप्रमसूरि	नरेन्द्रप्रभसूरि
२१	९	शब्दवैचित्य	शब्दवैचित्र्य
२१	१२	अर्थवैचित्र्य	अर्थवैचित्र्य
२१	३०	उद्भव	उद्भट
२४	१८	वृत्ति	वृत्ति
२४	२२	मूक्तावली	मुक्तावली
२५	९	वृत्ति	वृत्ति
२६	५	परिवर्तन	परिवर्तित
२६	२४	तत्सदृस	तत्सदृश
२७	१९	बतालाया	बतलाया
२८	७	काव्याशास्त्र	काव्यशास्त्र
२९	१३-१४	उवस्समाला	उवएसमाला
३१	८	आमानक	आभानक
३१	२३	रसाभाव	रसाभास
३२	१७	पाण्डवग	पाण्डवग
३४	१८	ईशन्मृदु	ईषन्मृदु
३६	१९	व्याताम्य	व्यातम्य
३७	२२	निर्देष	निर्देश
४०	१	आलकारिक	अलंकार तिलक
४०	११	मधकलप	मधकलप
४०	२७	मध्यनाटक	मध्यनाटक
४०	२९	समस्तानवद्यविद्या	समस्तानवद्यविद्या
४१	२५	धृष्ठ	धृष्ट
४२	११	विद्वता	विद्वत्ता
४२	२३	श्रीमद्वन्यजिनेन्द्र	श्रीमद्वन्द्यजिनेन्द्र
४३	२८	देवेन्द्रवन्धक्रम	देवेन्द्रवन्द्यक्रम
४४	१०	से	में
४४	१२	कालकाचरित	कालकचरित
४४	१८	कालकाचरित	कालकचरित
४४	२१	वसुव्यय	वसुव्यय
४४	२६	स्वामी पूर्वे	स्वामीः पूर्वे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	१०	तत्पादपद्ममृमधुपा.	तत्पादपद्ममधुपाः
४६	२१	...गणिजित्वा	गणिर्जित्वा
४६	२२	सुधासनाधकवर	सुधासनार्धक्वर
४६	२६	मृमुजोऽत्र	मुमुजोऽत्र
४६	२७	स्पर्धो	स्पर्ध
४६	२७	...राया मिवं	रायाभिध
४६	२९	इहाभूव	इहाभूत्
४७	१	नाटयपदमंजिका	नाट्यपदमञ्जिका
४७	२२	उद्धा	ऊद्धा
४८	१	व्याधि	व्याधि
४८	१०	धात्री	धात्री
४८	२१	तापगच्छीय	तपागच्छीय
४९	३	निशेधाज्ञा	निषेधाज्ञा
५७	६	रत्नाकार	रत्नाकर
५९	८	मुखमण्डल	मुखमण्डन
६३	७	गुरू	गुरु
८१	२	सगुणो	सगुणो
८५	२२	रत्योत्सव	रत्युत्सव
९४	१४	लम्भो	लम्बों
९९	१	वाङ्ममय	वाङ्मय
११७	९	मा ों	मार्गों
१२४	७	दे ता	देवता
१२४	१५	घूम्र	धूम्र
१३४	२४	का	को
१४०	१	भेदो	दोषों
१४९	७	श्रु ि कटु	श्रुतिकटु
१४९	२०	इस	जिस
१५७	७	प्रथम	द्वितीय
१५७	८	द्वितीय	प्रथम
१५८	१९	(वाच्यस्यानभिधान)	(वाच्यस्यानभिधान)
१५९	५	रसाद्यनुचितालंकार	रसाद्यनुचितालंकार
१५९	११	सूर्याचन्द्रमसौ	सूर्याचन्द्रमसौ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	९	बीडाजनक	व्रीडाजनक
१७२	१९	भिन्नसहृरत्व	भिन्नसहृत्वरत्व
१७४	४	रूल्लक्ष्य	रूल्लक्ष्य
		४ अलंकारचिन्तामणि,	शृङ्गारार्णवचन्द्रिका
१७५	३०	५।२३७।	१०।९८-१००।
१७६	२१	पुरुषार्थ	परुषार्थ
१७७	१९	अजिनसेन	अजितसेन
१८१	६	करन	करना
१८१	१४	सूत्रा	सूत्र
१९०	१४	ओर	और
१९१	२	म ति	मनुवदति
१९२	१	श्लेश	श्लेष
१९४	१०	अपेक्षा	अपेक्षा
२०७	९	देक्रोक्ति	वक्रोक्ति
२०७	१७	अतरिक्त	अतिरिक्त
२१२	२०	अपह्नति	अपह्नुति
२१३	९	श्लेश	श्लेष
२१६	२	क	का
२१६	३	को	के
२१८	८	अपह्नति	अपह्नुति
२१८	९	प्रतिवस्तूवमा	प्रतिवस्तूपमा
२२६	२	अपह्नति	अपह्नुति
२३१	६	अस्फुटप्रतीयानवस्तुरूप	अस्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप
२३८	२१	प्रतीत	प्रतीति
२४०	२१	(व्यञ्जना)	(व्यञ्जना)
२५९	२२	अनुकूलादि	अनुकूलादि
२६८	१४	क्रियात्मको	क्रियात्मकों
२८९	१	ओर	ईर्ष्यानन्तर और
२९५	३	मध्यमा कैशिकी	मध्यमा कैशिकी
३१५	८	उवस्समाला	उवएसमाला

●